जैन साहित्य में प्रतिबिम्बित बौद्ध धर्म

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी के
प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरात्व विभाग की
पी-एच0 डी0 उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्ता
परमहंस चौबे

निर्देशक
डॉ0 महेश्वरी प्रसाद (रीडर)
प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति
एवं
पुरातत्व विभाग

विभागाध्यक्ष
डॉ0 लल्लन जी गोपाल (प्रोफेसर)
प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति
एवं
पुरातत्व विभाग

कला संकाय
काशी हिन्दू विश्विद्यालय
वाराणसी-5

BlueRose ONE.com
Stories Matter
NewDelhi • London

BLUEROSE PUBLISHERS
India | U.K.

Copyright © Dr. Paramhans Chaubey 2026

All rights reserved by author. No part of this publication may be reproduced, stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means, electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the prior permission of the author. Although every precaution has been taken to verify the accuracy of the information contained herein, the publisher assumes no responsibility for any errors or omissions. No liability is assumed for damages that may result from the use of information contained within.

BlueRose Publishers takes no responsibility for any damages, losses, or liabilities that may arise from the use or misuse of the information, products, or services provided in this publication.

BlueRoseONE.com
Stories Matter
NewDelhi • London

For permissions requests or inquiries regarding this publication,
please contact:

BLUEROSE PUBLISHERS
www.BlueRoseONE.com
info@bluerosepublishers.com
+91 8882 898 898
+4407342408967

ISBN: 978-93-7310-495-9

Cover Design: Ajay Dhyani
Typesetting: Sagar

First Edition: May 2026

मैं प्रमाणित करता हूँ कि श्री परमहंस चौबे ने काशी हिन्दु विश्वविद्यालय, वाराणसी, की पी-एच0 डी0 नियामावली के अनुच्छेद 3.1 के अंतर्गत निर्धारित समय में अपना शोधकार्य, जिसका शीर्षक "जैन साहित्य में प्रतिबिम्बित बौद्धधर्म" है, पूर्ण किया है। यह शोध प्रबन्ध इनके शोध अवधि में किये गये अध्ययन एवं शोध का परिणाम है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, इस शोध का उपयोग किसी अन्य उपाधि के लिए नहीं किया गया हैं।

डा. महेश्वरीप्रसाद
रीडर
प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व
विभाग, काशी हिन्दु विश्वविद्यालय
वाराणसी।

प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, का0 हि0 वि0वि0 वाराणसी

शोधकर्ता- परमहंस चौबे

निर्देशक- डॉ0 माहेश्वरी प्रसाद

विषयः जैन साहित्य में प्रतिबिम्बित बौद्ध धर्म।

बौद्ध स्त्रोतों के आधार पर बौद्ध धर्म का काफी विवेचन किया जा चुका है, जिससे हम बौद्ध धर्म के इतिहास एवं दर्शन से भलीभाँति परिचित हैं। बौद्धेत्तर ग्रंथों मैं भी बौद्ध के विषय में पर्याप्त सामग्री मिलती है जिसकी समीक्षा महत्वपूर्ण है। इसी की पूर्ति इस शोध प्रबन्ध का प्रतिपादय विषय है। इसमें जैन ग्रंथों में उपलब्ध बौद्धधर्म विषयक सामग्री के आधार पर बौद्ध धर्म की समीक्षा की गई है।

जैन साहित्य में प्राचीनतम जैनागम है, जिससे पाँचवीं शताब्दी के ई0 पू0 के जैनधर्म एवं जैनेतर परंपराओं पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। बौद्धों के आचार-विचार सम्बन्धी सूचना भी आगम ग्रंथों में उपलब्ध होती है। देवर्द्धिणि श्रमा-श्रमण (454ई0) ने बल्लभी वाचना के आधार पर आगम ग्रंथों का संकलन किया। अतएव असंभव नहीं कि प्रस्तुत जैनागम में पाँचवीं शताब्दी ईसवी तक विकसित धार्मिक बातों का भी समावेश हो गया हो। इसके अतिरिक्त हरिभद्र (अठवीं-नवीं शती ई0) के कथा साहित्य, जिनसेन (831ई0) तथा गुणभद्र (850ई0) के आदिपुराण एवं उत्तर पुराण, सोमदेवसूरि (959ई0) के यशस्तिलक चम्पू, देवसेन (दसवीं शती ई0) के दर्शनसार तथा जिनेश्वर सूरि (1051) के कथा कोष प्रकरण में बौद्धों का विवरण उपलब्ध है। समन्त भद्र (7वीं शती ई0) दिगम्बर आचार्यों की परम्परानुसार (2-3शती ई0) के

आप्त मीमांसा अपर नाम (देवागम) युक्तानुशासन, सिद्धसेन दिवाकर (5-6वीं सती ई0) के एक विंशति दवात्रिंशिका, न्यायावतार, सन्मति तर्क प्रकरण, मल्लवादि (7वीं शती ई0) के नयचक्र, अकलंक (7 वीं शती ई0) के अष्टशती तत्वार्थ की राजवार्तिका टीका, हरिभद्र (8-9वीं शती ई0) के षडदर्शन समुच्चय, शास्त्रवार्ता समुच्चय आदि, विद्यानंदि (9 वीं शती ई0) के आप्त परीक्षा, अष्टसहस्त्री, श्लोक वार्तिक आदि सिद्धर्षि (दशवीं शदी ई0) के न्यायावतार टीका, माणिक्य नंदि (10 वीं शती ई0) के परीक्षा मुख, प्रभाचन्द्र (10-11 वीं शती ई0) के न्याय मुकुन्द चन्द्र, चन्द्र प्रभ सूरि 1149 ई0 के प्रमेय रत्नकोष, हेमचन्द्र (1145-1229 ई0) के प्रमाण मीमांता अन्य योग-व्यच्छेदिका, राजशेखर (13वीं शती ई0) के षडदर्शन समुच्च आदि में बौद्ध दर्शन की परीक्षा की गई है। इन्हीं ग्रंथों में उपलब्ध बौद्ध धर्म सम्बन्धी सामग्री के आधार पर इस शोध प्रबन्ध का तर्जन हुआ है। तुलनार्थ बौद्ध ग्रंथों का भी इस अध्ययन में पर्याप्त उपयोग किया गया है।

इस शोध प्रबंध को सात भागों में विभक्त किया गया है। यथा- 1-बुद्ध का जीवन चरित्र 2- बौद्ध आचार 3- अनात्मवाद 4- क्षणिकवाद 5- विज्ञानवाद 6- शून्यवाद 7- उपसंहार, इनके संक्षिप्त वर्ण्य विषय निम्नलिखित हैं।

प्रथम अध्याय

जैन ग्रंथों के अनुसार सिद्धार्थ के पिता का नाम शुद्धोदन तथा माता का नाम महामाया था। शद्धोदन पार्श्वनाथ की परम्परा में काशी के उत्तर में स्थित कपिलवस्तु सन्निवेस के राजा थे। सिद्धार्थ तीस वर्षे गृहस्थ धर्म का पालन कर राहुल नामक पुत्र के पैदा होने के बाद श्रमण धर्म का पालन किया। इनको देवदत्त का अग्रज कहा गया है। बुद्ध (बुद्धकीर्ति) बहुश्रुत एवं महान शास्त्रज्ञ थे। इन्होंने सरयू के तट पर स्थित पलास नगर में विहितास्त्रव ऋषि का शिष्यत्व ग्रहण किया। विहितास्त्रव भ्रमण परम्परा में पार्श्वनाथ के शिष्य थे। बुद्धकीर्ति मान्स युक्त भोजन कर प्राप्त दीक्षा से भ्रष्ट हो रक्तवस्त्र पहन एकान्त मत का प्रतिपादन किया। बुद्ध के मत को अन्य जैनग्रंथ भी एकान्तमत कहते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि बुद्ध सरयू के किनारे स्थित पलास नगर मैं मत्स्याहार करके तपभ्रष्ट हो रक्तवस्त्र धारण कर एकान्त मत का प्रतिपादन किया। परन्तु बौद्धग्रंथों का मत है कि उन्होंने नैरंजना के तट पर बोधगया के पास सुजाता के पायत (खीर) ग्रहण कर बुद्धत्व प्राप्त किया। जिससे पंचवर्गीय भिक्षुओं ने उन्हें तपभ्रष्ट समझा था। इस प्रकार जैन एवं बौद्ध ग्रंथों के मिलते जुलते बुद्ध के आचार से रेता प्रतीत होता है कि जैनों ने बुद्ध की छवि धूमिल करने के लिए उनके जीवन सम्बन्धी घटनाओं को अपने ढंग से विकृत रूप में गढ़कर प्रस्तुत कर दिया है।

द्वितीय अध्याय

जैन ग्रंथों के आधार पर बौद्धों को हिंसक बताया गया है। इन्हें प्राणातिपाती अदिन्नादानी, मृषावादी, मैथुन एवं परिग्रह दोषों के दोषी, अत्यंत असंयमी वर्तमान कालिक सुख की इच्छा करने वाला बताया है। इनके अनुसार बौद्ध सुख से सुख की प्राप्ति मानते हैं। इसलिए परलोक संख की आशा में भौतिक सुख का त्याग नहीं करते हैं। ये स्त्री परिग्राही होते हैं इसलिए प्रियदर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शन को अनावश्यक मानते हैं। वृतिकार शिलांक का कथन है कि इसके लिए स्त्री संसर्ग, पके फोड़े से मल निकलने, कंपिल पक्षी के आकाश से जल ग्रहण तथा भेड़ के द्वारा बिना गंदा किए पानी ग्रहण के समान दोष रहित है। इन्हे उच्छिस्ट अन्न ग्रहण करने वाला बताया गया

है। वृत्तिकार के अनुसार ये सुन्दर भोजन, वस्त्र, तथा शय्यादि का उपयोग करते हैं तथा उन्हें निर्दोष मानते हैं। इनकी मान्यता है कि जिस प्रकार शाल्यांकुर से यवांकुर नहीं उत्पन्न हो सकता, उसी प्रकार दुःख ते सुख नहीं प्राप्त हो सकता है। इसलिए मुक्ति सुख से ही सम्भव है। इसीलिए अच्छा भोजन कर सुन्दर विस्तर पर मुनिध्यान करता है। अतः साधु को मृदुल शय्या से प्रातः उठकर दूध, दोपहर को भोजन, इसके बाद पेय तथा अर्धरात्रि में द्राक्षा खण्ड एवं शर्करा ग्रहण करना चाहिए। जैन ग्रंथों में बौद्धों को मॉस भक्षी बताया गया है। इनमें कहा गया है कि यद्यपि बौद्ध साधु जीवों पर दया करते हैं परन्तु पात्र में आये मांस को पवित्रमान ग्रहण करते हैं। महाबग्ग में प्रेतों से आविष्ट व्यक्ति कच्चा माँस, खून, नेत्र रोग में अंजनादि, बात रोग मैं तेल में मदय मिलाकर पीने तथा पाथेय के रूप में घी, मक्खन, तेलादि को एक हफ्ते से अधिक न रखने के विधान आदि का वर्णन है। संभवतः इन्हीं का सामान्य स्थिति में आचरण करने के कारण थेरी गाथा में बौद्धों को सांसारिक वस्तुओं के प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील बताया गया है। इसके अतिरिक्त तांत्रिक बौद्धों के आचारों को भी ध्यान में रखकर जैनाचार्यों ने उन्हें बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया है।

तृतीय अध्याय

इस अध्याय में आत्मा एवं अनात्म सम्बन्धीत बौद्ध विचार प्रस्तुत किया गया है। इसी को जैनाचार्यों ने कहा है कि अनात्मवाद मानने पर अनेक बौद्ध सिद्धान्त असंभव हो जाएंगें, यथा-पुनर्जन्म, विज्ञानवाद, अहिंसक धर्म, प्रत्यीत्यसमुत्पाद, कार्यकारणवाद, मोक्षादि। जैनाचार्य अनात्म का दो अर्थ लेते हैं। प्रथम आत्मा एवं जगत के अवयवों का अभाव तथा दूसरा उनकी क्षणिकता। अनात्मवाद का प्रथम अर्थ स्वीकार करने पर स्कंधों के संघात को नहीं माना जा सकता है। तथा दूसरा अर्थ ग्रहण किया जाय तो किए गए कर्मों के फल का भोग अन्य व्यक्ति करेगा। तब अहिंसा आदि सदाचार एवं योगाचार (समाधि) मोक्ष के लिए व्यर्थ है। इतना ही नहीं मोक्ष भी क्षण स्थायी होने से उचित नहीं है। अनात्म की स्थिति में कार्यकारण भाव किसका होगा? इसके अतिरिक्त यदि बौद्ध आत्मा का बाह्य प्रमाण न होने से अभाव माने तो उचित नहीं है। क्योंकि संज्ञा का बाह्यार्थ होता है। अवक्तव्य को अनात्म माने तो भूल है। यदि

अनात्म को भावनात्मक मानकर अपने सिद्धान्त की पूर्ति करें तो बंधकों को भी मोक्ष प्राप्त हो जायेगा। जैनों का मत है कि भावना से किसी का चिंतन हो सकता है, उसकी उपलब्धि नहीं। यथा चिंतन से किसी का स्वरुप स्पष्ट हो जाता है परन्तु उसकी प्राप्ति नहीं होती है। इससे बौद्धों के अनात्म चिंतन से मोक्ष संभव नहीं है। वस्तुओं की उत्पत्ति का नियम आत्मा के अभाव मानने पर स्वतः खंडित हो जाता है। परन्तु इसके क्षणिक मानने पर भी किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती है। क्योंकि क्षण भर में जो वस्तु नष्ट हो गयी उससे दूसरी वस्तु पैदा हुई कहना व्यर्थ है। इस पर यदि बौद्ध दूध से दही के उत्पन्न होने का उदाहरण दें तो यह संभव नहीं है। क्योंकि यह सार्वभौम नियम है कि जो वस्तु जिससे पैदा होती है, उसका गुण उसमें विद्यमान रहता है। परन्तु ऐसा होने पर दूध-दही नहीं बन सकता है। अतः व्यवहारिकता के साथ-साथ परमार्थिक दृष्टि से भी अनात्म मानने पर आत्मा को चित्त स्वरुप अचेतन द्रव्य से भिन्न विज्ञानमय मानना असंभव हो जायेगा। इससे स्मरण शक्ति को भी सिद्ध नहीं किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त अनात्म को अर्थ आत्मा को नित्य अनित्य मानना भी दोषपूर्ण है। जैनों के इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि उन्होंने बौद्धों के अनात्मा (अपनत्व विहीनता) का अर्थ आत्मा (जीव) अथवा जगत् के अवयवों के अभाव अथवा उनकी क्षणिकता को समझने की भूल की है।

चतुर्थ अध्याय

क्षणिकर्ता को मुख्य आधार मानने के कारण सौत्रान्त्रिकों को ही क्षणिकवादी कहा जाता है। जबकि अन्य सभी बौद्ध सम्प्रदाय में भी क्षणिकता को माना जाता है। सौत्रान्त्रिक सर्वास्तिवाद का एक सम्प्रदाय है। इसके अनुसार वस्तुएँ क्षणिक होने के कारण उनका आकार मानस पटल पर अंकित हो जाता है। उसी से उनके स्वरुप का अनुमान किया जाता है। भारतीय भाषा में इनके ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। इसलिए इनके ज्ञान के लिए अन्य ग्रंथों पर अवलंबित होना पड़ता है। कुछ बौद्ध ग्रंथों में इन्हें संक्रान्तिक भी कहा गया है। परन्तु शारिपुत्र परिपिच्छा एवं दीपवंश में इन्हें इससे भिन्न बताया गया है। आनन्द, उत्तर एवं कुमारलात को इसका प्रवर्तक माना जाता है। इनके अनुसार परमाणु निरवयव तथा वस्तुओं का स्वभाव अनित्य, क्षणिक एवं विनाशी है।

संस्कृत, असंस्कृत ज्ञान स्वंसवेदय एवं चित्तविप्रयुक्त धर्म प्रज्ञप्ति मात्र है ! सभी धर्म निरात्मक तथा स्वलक्षण पदार्थ क्षणिक व परमाणु रूप हैं। वितर्क विचार समाधि भिन्न हैं।

जैनाचार्यों का कथन है कि वस्तुओं को क्षणिक मानने पर कार्यकारणवाद स्मरण द्रष्टा आदि सिद्ध नहीं होगा। वस्तुओं को प्रलय स्वभावी मानने पर किसी कार्य को उचित अनुचित नहीं कहा सकेगा। क्योंकि क्षण-क्षण निरन्वय विनाशी होने के कारण सभी मातृघाती हो जायेगें तथा पति-पत्नी, गुरु-शिष्य कुलजाति आदि की व्याख्या असंभव हो हायेगी। यदि इस व्यवहार को विकल्प बुद्धि माने तो तत्व चिंतन में लगे इनकी निर्विकल्प बुद्धि की धारणा भी संभव नहीं होगी। इसके अतिरिक्त जैनों ने कहा है कि इस सिद्धान्त को मानने पर इनके अनेक सिद्धान्त, यथा-निर्हेतुक विनाश, अर्थ-क्रियाकारित्व, रुपरुपान्तरण, अंतलोगामीनाश, भाव का अभाव, अभाव का भाव, सामग्रीकारणवाद, वास्य-वासक भाव, कार्यकारण भाव, असंभव हो जाएंगें।

यदि वस्तुओं का विनाश निर्हेतुक माना जाय तो उसे नश्वर रूप में अपने कारण से उत्पन्न होना चाहिए। परन्तु यह संभव नहीं कि जब वस्तु नष्ट नहीं हुई तो उसे अपने कारण से नष्ट हुआ कहना व्यर्थ है। यदि इसे मान लिया जाय तो उत्पत्ति को भी निर्हेतुक मानना पड़ेगा, जो बौद्ध मत के विपरीत है। इस मत को मानते हुए किसी वस्तु को कहा जाय कि वह क्षण भर रह कर नष्ट हो गयी और यही बाद में उत्पन्न वस्तु के रूप में आयी तो इससे वस्तुएँ क्षणिक न होकर स्थायी हो जाएँगी। एक वस्तु को कता-भोक्ता रूप विविध स्वभावी नहीं माना जा सकता है। इसलिए उन्हें अर्थ क्रियाकारण भी नहीं माना जा सकता है। क्षणिक वस्तुओं को रुपान्तर धारण करने वाला भी नहीं कहा जा सकता है। इसके साथ ही वस्तुओं को अन्त में नष्ट होते देख उन्हें प्रथम क्षण में नष्ट होने का अनुमान भी नहीं किया जा सक ता है। क्योंकि जो वस्तुएँ अन्त में जाकर नष्ट होंगी वे अस्तित्व के प्रथम क्षण में नष्ट नहीं होंगी। कहा जा सकता है कि प्रथम क्षण में नष्ट वस्तु दूसरे क्षण में अपने सदृश वस्तु को उत्पन्न करती है और इसलिए भ्रान्ति के कारण अंत में नष्ट हुई प्रतीत होती है। परन्तु सदृश का अर्थ प्रथम वस्तु से भिन्न स्वरुपता ही है, क्योंकि जिसको किसी के सदृश कहा जाता है वह उससे भिन्न होती है।

वस्तुओं को क्षणिक मानने पर अभाव रूप वस्तुओं से भाव रूप वस्तुओं की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। तथा न भाव रूप वस्तु से अभाव स्प वस्तु उत्पन्न हो सकती है, क्योंकि इन दोनों स्थितियों में अभाव के उत्पन्न एवं नाश का प्रसंग आ जोयगा। यदि नाशस्थायी माना जाय तो मानना पड़ेगा कि कोई वस्तु कभी थीं ही नहीं। क्षणिक वाद को स्वीकार करने पर सामग्रीकारणवाद भी असिद्ध हो जायेगा। प्रत्यक्ष ज्ञान की सामग्री (रूप, नेत्र, प्रकाश तथा मनः स्थिति) के सहयोग से ही वस्तुओं का ज्ञान होता है। पूर्वक्षण कालीन रूप, नेत्र, प्रकाश, ज्ञान के साथ-साथ उत्तरक्षण कालीन रूप, नेत्र, प्रकाश के कारण बनते हैं। जैनेचार्यों का कहना है कि जब रुप, नेत्र, प्रकाश ज्ञान के कारण हैं तो वे रूप, नेत्र, प्रकाश के कारण नहीं बन सकते हैं। क्योंकि एक कारण से उत्पन्न दो कार्य (ज्ञान, नेत्र आदि) भिन्न स्वभावी हैं।

कार्य को जन्म देना कारण का एवं कारण द्वारा जनित होना कार्य का स्वभाव है। इसलिए दोनों को एक ही ज्ञान का विषय बनाये बिना कार्यकारण भाव की कल्पना नहीं की जा सकती है। यदि इस पर बौद्ध आगे पीछे आने वाली वस्तुओं को ज्ञान से कार्यकारण भाव के रूप में ग्रहण करता माने तो यह एक विशेषण मात्र होगा क्षण भर में विनष्ट होने के कारण धूम व अग्नि का उदाहरण भी कार्यकारण को सिद्ध नहीं कर सकेगा। क्षणिकवाद मानने पर कर्म संचय एवं कर्मफल भोगने वाले मन अलग-अलग हो जायेगें।

अन्त में जैनाचार्य ने कहा है कि बौद्ध अनुश्रुतियों के अनुसार यदि मान लें कि बुद्ध को पूर्वकल्प में किए कर्म का फल अन्य जन्म में प्राप्त हुआ तो क्षणिकवाद का खंडन हो जाता है। इन विवरणों से स्पष्ट है कि जैनाचार्यों ने वस्तुओं की क्षणिकता का अर्थ उनके क्षण भरे में नष्ट होने से किया है। जबकि बौद्ध वस्तुओं को क्षण-क्षण में परिवर्तनशील मानते हैं। इनका यह परिवर्तन अलात् चक्र के समान है जिसमें अलात् क्षण परिवर्तित होकर नष्ट नहीं होता। बल्कि एक चक्र का निर्माण करता है।

पंचम अध्याय

इस अध्याय मैं बौद्ध विज्ञान वाद का वर्णन है। विज्ञानवादी समस्त जगत की स्वचित्त में देखते हैं इसी को आलय विज्ञान कहते हैं। इनके अनुसार समत्त जगत क्षण-क्षण उद्भुत जलतरंगों के समान है। इस दर्पण में बिम्ब की भाँति प्रत्यक्ष किया जाता है। छाहों ज्ञानेन्द्रिय एवं क्लिष्ट मनोविज्ञान आलय विज्ञान से उद्भूत होते हैं। जगत् की वास्तविकता जानने के लिए योगी ध्यान लगाकर योग का अभ्यास करता है। इस कारण इस सम्प्रदाय को योगाचार भी कहते हैं। यहाँ योग का अर्थ चित्त एवं जगत् में एकात्मकता स्थापित करने से हैं इसी को आर्यज्ञान कहा गया है। इन्द्रियों से प्रत्यक्षानुमान आदि द्वारा उदभूतज्ञान मिथ्या है। विज्ञान वादियों ने इस कल्पना से अपने पर होने वाले प्रमाण सम्बन्धी आक्षेपों से सुरक्षित करते हुए सत्ता को व्यावहारिक एवं परमार्थिक दो रूपो में प्रस्तुत किया गया है। जैनाचायों का कथन है कि यदि ज्ञान के एक मात्र अनुभव होने से उसको ही तत्व माना जाय तो ज्ञान के साथ ज्ञेय की सत्ता माननी पड़ेगी। इसके अतिरिक्त बाह्य वस्तुओं के अभाव को किसी प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता है क्योंकि अभाव का निश्चय (वस्तु के उपलब्धि लक्षण की उपस्थिति होने पर भी) उसके प्राप्त न होने से होती है। जैसे एक कमरे में पर्याप्त प्रकाश हो और हमारे नेत्र ठीक हों किन्तु घड़ी न दिखे तो हम कहेगें कि कमरे में घड़े का अभाव है। यहाँ घड़े का अभाव मानने के लिए नेत्र एवं प्रकाश का भाव मानना पड़ेगा। जैनों का कहना है कि वाह्यार्थ के अभाव को सिद्ध करने के लिए अभाव के उपलब्धि लक्षण के अस्थित को जो स्वयं बाह्यार्थ रूप है स्वीकार करना पड़ेगा। अतएव कभी भी बाह्यार्थ का अभाव सिद्ध नहीं हो सकेगा। इसके अतिरिक्त स्वभाव वस कोई बाह्यार्थ का ग्रहण नहीं करता है तो भी सत्ता शून्य नहीं प्रमाणित होती है क्योंकि यदि ये विज्ञान को स्वयवेदय मानें तो बाह्य वस्तुओं के स्वंसवेध न होने के कारण विज्ञान उनका ग्रहण नहीं कर सकेगा। इसी से बाह्य पदार्थों की सत्ता मानी जा सकती है। यदि स्वंसबेध विज्ञान को बाह्य पदार्थों का ग्रहण करने वाला माना जाय तो विज्ञान के साथ बाह्य की सत्ता माननी पड़ेगी। ये ज्ञान की स्वानुभूति केवल ज्ञान रूप में मानें तो ठीक नहीं है क्योंकि

विज्ञान की स्वानुभूति बाह्य वस्तुओं के ग्रहण करने के रूप में होती है। इसीलिए उनकी उपयोगिता का स्मरण कर उन्हें प्राप्त करने की इच्छा होती है।

इसके अतिरिक्त ग्राह्य-ग्राहक रूप वाले न होने के कारण बाह्य पदार्थों की सत्ता न मानने पर ज्ञान को भी ऐसा कहा जा सकता है। क्योंकि ज्ञान केवल ग्राह्य स्वस्प होने से ग्राहक स्वरुप भी नहीं रहेगा तथा ग्रहक स्वरुप होने पर ग्राह्य रूप अन्तर्विरोध होने के कारण नहीं रहेगा, दोनों के अभाव वाला मानने से ज्ञान का ही अभाव हो जायेगा। यदि ज्ञान को साध्य साधक की विज्ञाप्ति मात्र माने तो प्रतिज्ञाव हेतु दोष उत्पन्न हो जाने से असिद्ध हो जाएगा। ज्ञान को स्वप्रकाशन करने वाला मानने पर प्रकाशन को अकर्मक क्रिया माना जाय तो प्रमाण के अभाव तब व्यवस्था संभव नहीं होगी। यदि प्रमाण उपस्थित किया जाय तो यह ज्ञान अपने स्वरूप को भी प्रकाशित न कर सकने के कारण उसका स्वरूप असंभव हो जायगा। यदि इसकी स्वरूप व्यवस्था संभव मानी जाय तो उसको प्रकाशित करने वाले ज्ञान की सत्ता माननी पड़ेगी। यदि ज्ञान की रूप व्यवस्था करने वाले ज्ञान को भ्रान्त मानें तो उसके सम्बन्ध में कोई अभ्रान्त प्रमाण न होने से यह नहीं कहा जा सकता कि कोई भ्रान्तज्ञान अभ्रान्त रूप व्यवस्था कर सकता है। इसलिए प्रकाशन क्रिया को प्रकाशन स्वरुप एवं अकर्मक कहना व्यर्थ है।

विज्ञान मात्र की सत्ता मानने पर स्वर्ग नरक तथा जगत व मोक्ष में अभिन्नता हो जाने से उसका उपदेश व्यर्थ है। यदि सराग दोष युक्त चित्त को संसार एवं उससे मुक्त चित को मोक्ष माने तों विज्ञान को दूषित करने वाले की सत्ता हो जायगी। कोई अपने को दूषित करता नहीं है इसलिए दूषण का कारण रागादि की सत्ता माननी पड़ेगी। यदि विज्ञान को स्वभावतः दूषित माना जाय तो दोनों की अवस्थान परिधि एक होने से मोक्ष संभव नहीं होगा।

परमाणुओं का अभाव भी ज्ञान की एकान्तता सिद्ध नहीं कर सकता क्योंकि अवयव के अभाव में न अवयवी बन सकता है और न अवयव में अवयवी रह सकता है। ऐसा मानने पर अनेक अवयवी हो जायेगें। परमाणु 6 दिशाओं से अंशतः धारण करने के कारण निरंश नहीं कहा जा सकता है। ग्राह्य ग्राहक के अभाव में ज्ञान के अद्वय-

संवेदन का परमार्थिक तथा ग्राह्य ग्राहक में प्रवृत्ति को अतात्विक माने तो अनेक आकारों का वितर्क मिथ्या हो जायेगा। उसके साथ परमार्थक भेद अभेद का विचार असंभव होगा। बौद्ध स्वप्न का उदाहरण है कि बाधक ज्ञान के रहने पर ज्ञान की असत्यता तथा उसके दूर हो जाने पर सत्यता प्रमाणित है। इस पर जैन कहते हैं कि इसी बाधकता के कारण बौद्ध भ्रान्त व अभ्रान्त में पृथकत्व को न जानने से बाह्यर्थ को मिथ्या मानते हैं। अतः बौद्ध तत्व साधक ज्ञान को अभ्रान्त ही मानेंगें क्योंकि उसे भ्रान्त मानने पर ततप्रतिपादित समस्त पदार्थ असत्य हो जायगा। ऐसी स्थिति में समस्त ज्ञान अभ्रान्त होगा। इसलिए समस्त सवेदनों को भ्रान्त मानने पर उसके साधक ज्ञान को अभ्रान्त मानना पड़ेगा। इसलिए बिना बाध्यार्थ माने बौद्धों की बात सिद्ध नहीं होगी। अतः प्रमाण के अभ्रान्त मानने पर बाह्यार्थ को मानना पड़ेगा नहीं तो प्रमाण प्रमाणमास हो जायगा। इससे स्पष्ट होता है कि जैनाचार्यों ने विज्ञानवाद के कुछ अंशों को ही ग्रहण कर उनकी आलोचना की है तथा इस मत को पूर्ण रमेण नहीं समझा क्योंकि विज्ञानवादी बाह्य का अभाव न मान उसकी व्यवहारिक सत्ता मानी है।

षष्ठम अध्याय

इस अध्याय में बौद्ध शून्यवाद का प्रतिपादन किया गया है। शून्यवादी वस्तुओं को अस्तित्व अनास्तित्व तथा उत्पत्ति विनाश से परे निःस्वभाब लक्षणवाली मानते हैं। वस्तुओं की निःस्वाभावता को निर्वाण प्रदायनी तथा इसके शून्य लक्षण को प्रज्ञापारमिता कहा गया है। शून्यता को नित्य शाश्वत एवं उच्छेद से वर्जित माना गया है। यह कर्मों का विमाशन होकर के दवय लक्षण तथा अस्तित्व नास्तित्व बर्जन से भी परे हैं। सर्वभावों, अभावों, सत असत बचन तथा शून्यता से परे अनुरूपन्न एवं निःस्वभाव है। अर्थात् जगत की समस्त वस्तुओं की सत्ता सापेक्ष होने से असत है। शून्यवादी वस्तुओं की निरपेक्षसत्ता को ही मानते हैं। इसी को शून्य में इंगित करते हैं। इनके शून्य का अर्थ अभावात्मक न होकर परमभावनात्मक है। यह शब्दातीत व कारणातीत है इसको प्रतिषेधात्मक रूप से वर्णित किया जा सकता है। यह परमार्थिक दृष्टि से संवृत्तिक है।

जैन आचार्य ने कहा है कि ये स्वच्छ बुद्धि को जगत के परिज्ञान का कारण मानते हैं। इन्होंने पूर्वाक्षण एवं उत्तर क्षण का निराकरण कर मध्यम ज्ञान क्षण को माना। इसलिए इन्हें माध्यमिक कहा जाता है। जैनाचार्य ने इसका खण्डन करते हुए कहा है कि इस मत को स्वीकार करने पर शून्यवाद के प्रतिपादक अनेक सिद्धान्तों, स्वभाव, आत्मा, शब्द, प्रतिज्ञा, शून्य, दृष्य, जाति, संसर्ग विचार गति व काल परीक्षा भी असंभव हो जायेगी।

जिस प्रकार बौद्ध वस्तुओं को नित्य मानने से मोक्ष संभव नहीं मानते हैं उसी प्रकार वस्तुओं को अनित्य मानने पर भी माध संभव नहीं मानी जा सकती है। यदि अकेले या सामूहिक रूप से अर्थक्रिया में सहयोगी न होने के कारण वस्तुयें नित्य नहीं हैं तो उत्पत्ति विनश संभव न होने के कारण वस्तुयें अनित्य भी नहीं होगी।

दी को अपने सिद्धान्त को प्रमाणित करने वाले प्रमाण के अभाव मानने पर उनका सिद्धान्त असंभव हो जायगा। यदि प्रमाण मानते हैं तो उसकी सत्ता माननी पड़ेगी। नहीं मानते हैं तो अपनी बात सिद्ध नहीं कर सकेंगें म जैसों ने कहा कि यदि ये वस्तुओं के स्वभाव, आत्मा, शब्द, प्रतीज्ञा को न मानें तो शून्य का प्रतिपादन कैसे करेगें। क्योंकि यदि इन्हें मानते हैं तो उसकी सत्ता हो जायगी नहीं मानते हैं तो अपनी बात नहीं कह सकते हैं। इतना ही नहीं प्रतिज्ञा वाक्य से इन्हें प्रमाण की सत्ता माननी पड़ेगी। प्रमाण के मानने पर प्रमेय को भी मानना पड़ेगा। इससे ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय सबको मानना पड़ेगा। यदि ये साध्य साधन को शून्य मानें तो इनका शून्यवाद व्यर्थ हो जायगा। अतः शून्यवाद की पुष्टि वस्तुओं को शून्य मानने से नहीं की जा सकती है। अंत में जैन आचार्य ने यह कहा है कि बुद्ध ने किसी अभिप्राय विशेष को ध्यान में रखइस मत का प्रतिपादन किया। शून्यवादियों के आन्तरिक एवं बाह्य दोनों सत्ता न मानने से शून्य को कल्याणकारी एवं मोक्ष प्रदायनी मानना व्यर्थ है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि जैन आचार्यों ने शून्य का अर्थ सत्ता के अभाव से किया है। अतः स्पष्ट है कि जैनों ने शून्य का प्रतिपादि अर्थ बौद्धों से भिन्न समझा है। अर्थात् जैन शून्य का अर्थ सत्ता के अभाव से करते हैं जबकि बौद्ध सत्ता को सांवृत्त सत्य मानते हैं।

सप्तम अध्याय

जैनों द्वारा बुद्ध एवं बौद्ध विचार-चिा आचार का अनुशीलन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध को इन्होंने पार्श्वपरम्परा आचार का भ्रष्टशिष्य माना है। इसीलिए इन्होंने बौद्धों को भ्रष्ट आचार का पालन करते हुए मोक्ष की कामना वाला कह कर उनकी खिल्ली उड़ाई है। इनके दार्शनिक विचार यथा अनात्मवाद, क्षणिकवाद, विज्ञानवाद तथा शून्यवाद स्थाई आत्मा को माने बिना असंभव माना है। इसी प्रकार का विचार वेदान्ती (शंकराचार्य 8वीं शती ई0) भी प्रस्तुत करते हैं। इन्होंने बुद्ध के अनात्म का अर्थ वस्तुओं एवं जीव आत्मा के अभाव अथवा उसकी क्षणिकता से किया जिसको बौद्ध संदर्भ के अवलोकन से सत्य नहीं कहा जा सकता है। बुद्ध अनात्म का अर्थ वस्तुओं व आत्मा के अभाव से न कर उनके प्रति आसक्ति के अभाव से करते हैं। वस्तुतः बुद्ध प्रजा ज्ञान एवं बोधि के रूप में आत्मा की सत्ता स्वीकार करते हैं इसलिए इस पर क्रिया गया आक्षेप वास्तविकता से परे हैं।

क्षणिकवाद को जैनों एवं वेदान्तियों दोनों ने विस्तृत रूप में एक समान खंडन किया है। वेदान्ती शंकर ने भी जैनों के समान कहा है कि बौद्ध क्षणिक वाद मानने पर उनके निहेर्तुक विनाश, नित्यानित्य भाव, परमाणुओं का संघात, प्रतीत्य समुत्पाद की सिद्ध नहीं हो सकेगी। इतना ही नहीं इस मत को मानने पर कार्य कारण वाद अर्थी क्रिया कारित्व, वस्तुओं का स्वभाव, ज्ञान स्मृति एवं प्रत्यभिक्षा असंभव हो जायगा। इस प्रकार जैन एवं वेदान्ती वस्तुओं की क्षणिकता का अर्थ उसके क्षणभर में नाश से करते हैं जबकि वास्तविकता यह है कि बौद्ध वस्तुओं को क्षण-क्षण परिवर्तनशील मानते हैं यथा अलात चक्र।

जैनाचार्यों ने विज्ञानवाद को खण्डन करते हुए कहा है कि बाह्यार्थ के अभाव में विज्ञान की सत्ता नहीं मानी जा सकती है। क्योंकि वस्तुओं की उपलब्धि को देखते हुए बाह्य वस्तुओं के अभाव को नहीं माना जा सकता है। इसी प्रकार का खण्डन वेदान्ती (शांकर) भी करते हुए कहा है कि वस्तु उपलब्धि के रहते हुए बाह्यार्थ का अभाव परमाणुओं के निराकरण से भी नहीं हो सकता है। सहोषालंभ नियम से अथवा स्पप्न के उदाहरण से जाग्रत जगत का अभाव भी नहीं किया जा सकता है। स्वप्न देर्शन स्मृति का

विषय है तथा जाग्रत जागत प्राप्त का विषय है। दोनों में वैधर्मता है। इसलिए दोनों की एक जैसी तुलना नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त विचित्र वासना से भी बाह्य का निराकरण नहीं हो सकता है क्योंकि वैचित्र वासनाभी बाह्य पर आधारित है। वेदान्ती जैनों के समान विज्ञान को ग्राह्य ग्राहक भाव व स्वप्रकाशन स्वरुप भी बाह्यार्थ के अभाव में नहीं मानते। इस प्रकार जैन एवं वेदान्ती दोनों ने विज्ञानवादियों को बाह्यार्थ को न मानने वाला माना है। परन्तु विज्ञान वादी बाह्यसत्ता का अभाव न मान उसको व्यवहारिक रूप से मानते हुए उसे परमार्थिक रूप से सांवृत्तिक मानते हैं इसीलिए उसके दो स्वरूप यथा भ्रान्ति से परिकल्पित एवं प्रत्यय से परिकल्पित की कल्पना को असत मानते हैं। इसका अर्थ उसके अभाव से नहीं लिया जा सकता है। सत का ज्ञान ध्यान से ही संभव है।

जैनों के समान शंकर भी शून्य के प्रचलित अर्थ को ग्रहण कर इसको नितान्त असत मान कहते हैं कि यह अपने ही आप तिरस्कृत है। परन्तु जैनों ने इसको अन्य प्रकार से भी समझने की कोशिश की इसीलिए हरिभड सूरि ने इसको विशेष शिष्य के लिए प्रतिपादित बताया जो भी हो जैन एवं वेदान्ती दोनों ही शून्यवाद का खण्डङ्म तत्कालिक शून्य का अर्थ (अभाव) से ग्रहण कर लिया है। जबकि नागार्जुन शून्य का अर्थ वस्तुओं के निरपेक्ष स्वभाव से करते हुए कहे हैं कि यदि कोई शून्य वस्तु है तो वह अशून्य के सापेक्ष होगी, इसलिए उसे सत नहीं माना जा सकता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि जैन एवं वेदान्तियों दोनों ने शून्यवाद का वास्तविक अर्थ ग्रहण नहीं किया।

जैन आचार्यों ने बौद्धों का खण्डन करते हुए उनके प्रति उदार दृष्टिकोण को अपनाते हुए उन्हें अपने अनेकान्तवाद को मानने की सलाह दी है। वस्तुतः आठवीं शती ई0 के बाद भारत से बौद्ध धर्म का प्रब्रजन माना जाता है, परन्तु यदा-कदा इनके मठों का अस्तित्व 13 वीं शती ई0 तक था। इसीलिए उनकी स्मृति जैन व वेदान्त में उपस्थिति थी जिसके फलस्वरूप उन पर आक्षेप होते रहे।

“प्राक्कथन”

प्राचीन जैनागम में बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों को बीज रूप में देखा जा सकता है। जैनागम 454 ई0 में बलभी वाचना के आधार पर संकलित किया गया। अत: इसमें 5 शती ई0 पू0 से लेकर 5 वीं शती ई0 तक के गणधरों की मानसिकता का समावेश संभव है। 5वीं शती ई0 में बौद्ध धर्म अपने विकास के चरम बिन्दु पर अवस्थित था। परन्तु जैनागम में इनके प्रति उदासीनता एक अत्यन्त महत्वशील प्रश्न बन कर उपस्थित होती है। इसका समाधान करते हुए कहा जा सकता है कि सम्भवत: महावीर काल में बौद्ध धर्म शिशु-अवस्था में था इसलिए उसका उल्लेख विशेष महत्वशील न होने से तत्कालिक गणधरों में उधर ध्यान नहीं दिया। परन्तु काल-क्रम के अनुसार 5वीं शती ई0 तक प्रौढ़ावस्था प्राप्त बौद्ध धर्म ने गणधरों को अपने संदर्भ में मौन न रहने दिया अर्थात् गणधरों ने प्राचीन परंपरा, जिसमें बौद्ध धर्म का विशिष्ट संदर्भ नहीं उल्लिखित था, कि अवहेलना कर उनके कतिपय सिद्धान्तों यथा स्कंधवाद आदि की विवेचना प्रस्तुत कर दी। यहीं जैनाचार्यों को अन्य धर्मों के साथ बौद्ध धर्म की विवेचना का मार्ग प्रशस्त किया। जिसके फलस्वरुप सिद्धसेन दिवाकर (5वीं-6वीं शती ई0) ने अपने ग्रंथों दवात्रिंरशति दवात्रिंशिका उपलब्ध एक विशंति दवात्रिशिका न्यांवतार तथा सन्मति प्रकरण में बौद्ध सिद्धान्तों का विवेचन कर उसे अनुचित बताया है। समन्तभट् (7वीं शती ई0 दिगम्बर के अनुसार 2-3 शती ई0) ने मल्लवादी सूरि (7वीं शती के ई0) तथा अकलंक (7वीं शती ई0) ने क्रमश: आप्तमीमांसा, युक्तानुशासन, नवचक्र, अष्टशती, तत्वार्थकी, राजवर्तिका टीका में बौद्धसिद्धान्तों को अन्य धार्मिक सम्प्रदाय के साथ स्थान दिया।इस काल के जैनाचार्यों ने बौद्धों को आत्मसात् करने की परम्परा की शुरुआत की। संभवत: इसी कारण हरिभद्र (8वीं शती ई0) ने इसके सिद्धान्तों का खण्डन किया।

विद्यानन्दी ने बौद्ध सिद्धान्तों के खण्डन को विकसित करने में वहीं अच्छा समझा कि बौद्धों के शास्ता के सर्वज्ञता का खण्डन कर देने पर उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त स्वत: धराशायी हो जाएगा। इसलिए उन्होंने सुगत की परीक्षा कर उनकी सर्वज्ञता का खण्डन किया तथा उन्हें वेदान्तियों के सिद्धान्तों के समान असिद्ध बताया। इतना ही नहीं सिद्धर्षि, माणिक्य नंदि (10वीं शती) ने क्रमश: न्यायावतार टीका एवं परीक्षा-मुख में न्याय के आधार पर बौद्धों के अविसंवादी प्रमाण को असिद्ध किया। सिद्धसेन दिवाकर, जो संभवत: समतिप्रकरण व एक विंशति द्वात्रिशंका के लेखक से भिन्न थे, न्यायावतार में न्याय के आधार पर बौद्ध धर्म की परीक्षा कर बौद्ध धर्म के खंडन का एक नया आयाम प्रस्तुत किया, जिसका विकास सिद्धर्षि, मणिक्यनंदि ने किया। प्रभाचन्द्र सूरि (11वीं शती ई0) ने न्याय कुमुद चन्द्र आदि, चन्द्र प्रभा सूरि (12वीं शती ई0) ने प्रमेयरत्नकोष तथा हेमचन्द्र (12वीं-13वीं शती ई0) नें प्रमाण मीमांसा आदि ग्रंथों के माध्यम से बौद्ध न्याय के खंडन को विकसित कर उसकी इतीश्री की। इसी काल में बौद्धों को आत्म सात करने की प्रक्रिया का विकास भी दिखाई पड़ता है, क्योंकि हेमचन्द्र ने बौद्धों को समुन्द्र में जहाज से उड़े पक्षी की उपमा देते हुए कहा है कि जिस प्रकार वह किनारा न देख पुन: जहाज पर वापस आ जाता है उसी प्रकार कोई अन्य सहारा न पा बौद्ध पुन: जैन धर्म स्वीकार करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन को देखते हुए कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म के चरमोत्कर्ष काल से जैनियों द्वारा उनके खंडन की शैशवावस्था का प्रारंभ होता है। वही बौद्ध धर्म की वृद्धावस्था में जैनियों द्वारा उसके खंडन की प्रौढ़ावस्था के रूप में परिलक्षित होती है तथा बौद्ध धर्म की इतिश्री जैनियों द्वारा उन्हें आत्मसात करनेके रूप में होती है। अत:जैनाचार्यों ने बौद्धों के सिद्धान्तों को कहाँ तक समझा, इस शोध प्रबन्ध से जाना जा सकता हैं।

यह शोध प्रबन्ध डा0 महेश्वरी प्रसाद (रीडर), प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के निर्देशन में सम्पन्न हुआ। इसलिए उसके सहयोग को मैं वाणी द्वारा व्यक्त नहीं कर सकता हूँ। मेरे शोध काल में प्रो0 डा0 के0 के0 सिन्हा तथा प्रो0 डा0 लल्लन जी गोपाल ने विभागाध्यक्ष के रूप

में अविस्मरणीय योगदान किया। शोध काल में प्रो0 डा0 जगदीश नारायण तिवारी, प्रा0भा0इतिहास विभाग का0हि0वि0वि0 वाराणसी, डा0 सागर मल जैन, निर्देशक, पार्श्वनाथ विद्या शोध संस्थान, वाराणसी ने अपने अमूल्य समय में उचित सुझाव दिए, डा0 सोमेश्वर प्रसाद, विभागाध्यक्ष, पालि, का0हि0वि0वि0 ने अपने अमूल्य समय में उचित सुझाव देते रहे हैं, जिनका मैं हृदय से ऋणी हूँ।

मेरे शोध प्रबन्ध के सृजन में मुझे अपने पिता परम पूजनीय पं0 अवध विहारी चौबे तथा माता जी श्री मति सोनवरता देवी का प्यार मिलता रहा तथा साथ-साथ अग्रज सूर्य वंश, दरिवेंश एम0 ए0 (गोल्ड मेडलिस्ट) द्वारा प्रोत्साहन तथा अनुज चन्द्रबंश, रामहंस (शोध छात्र) एवं रघुवंश द्वारा सम्मान एवं सहयोग प्राप्त होता रहा। इतना ही नहीं, मेरी सहधर्मिणी श्री मति कमला देवी से आत्मिक शान्ति एवं पठन कार्य में प्रोत्साहन मिलने के कारण ही यह शोध संभव हो सका। इसलिए सभी को साधुवाद ज्ञापित करना मेरा परम् कर्तव्य है।

मेरे शोध कार्य में डा0 रुद्रसेन कायस्थ कर्मयोगी, डा0 सीता राम दुबे, श्रीराम मूर्ति चौधरी शोध छात्र, श्री सुरेश चन्द्र घिल्डियाल, पुस्तकालयाध्यक्ष, प्रा0भा0इ0सं0 एवं पुरातत्वविभाग तथा श्री चन्द्रिका प्रसाद यादव ने समय-समय पर सहयोग एवं प्रोत्साहन प्रदान कर अनुगृहीत किया, जिसके लिए मैं इनका हृदय से आभारी हूँ।

अंत में मैं श्री छन्नू लाल सिंह, टंकणक का भी विशेष रूप से आभारी हूँ तथा शोध प्रबन्ध पूर्ण करने में जिनका प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग प्राप्त हुआ, उनको मैं हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ।

परमहंस चौबे

शोधकर्ता

"संकेत सूची"

ईश0	ईश
उदान0	उदान कथा
उप0	उपनिषद
का0	कारिका
छान्द0	छान्दोग्य
तु0	तुलनीय
तै0	तैतरेय
टी0	टीका
दीर्घ0	दीर्घनिकाय
प्र0	प्रथम
पृ0	पृष्ठ
बार्ह0	बार्हस्थात्य
बृह0	बृहदारण्य
ब्रा0	ब्राह्मण
भा0	भाग
मज्झिम0	मज्झिम निकाय
मू0	मूल
मा0	माध्यमिक
यो0वि0	योगविन्दु
लंका0	लंकावतार
वि0	विर्भग
वृ0	वृति
श्वे0	श्वेताश्वर
संयुक्त0	संयुक्त निकाय
सू0	सूत्र

विषय-सूची

प्रथम अध्याय: जैन साहित्य में प्रतिबिम्बित बुद्ध चरित 1

द्वितीय अध्याय: जैन साहित्य में प्रतिबिम्बित बौद्ध आचार 17

तृतीय अध्याय: जैन साहित्य में प्रतिबिम्बित बौद्ध अनात्मवाद 29

चतुर्थ अध्याय: जैन साहित्य में प्रतिबिम्बित बौद्ध क्षणिकवाद 73

पंचम अध्याय: जैन साहित्य में प्रतिबिम्बित बौद्ध विज्ञानवाद 125

छठा अध्याय: जैन साहित्य में प्रतिबिम्बित बौद्ध शून्यवाद 167

सातवां अध्याय.. 197

उपसंहार 197

संदर्भ ग्रंथ सूची.. 205

प्रथम अध्याय

जैन साहित्य में प्रतिबिम्बित बुद्ध चरित

जैन साहित्य में वर्णित गौतम बुद्ध का चरित्र

अन्य प्राचीन भारतीय महापुरूषों की तरह बुद्ध के जीवन वृत्त के बारे में भी साहित्य विवादास्पद सूचनाओं से भरा पड़ा है। प्राचीन पालि साहित्य में जहाँ बुद्ध के मानवीय रूप का वर्णन है1, वहीं उत्तर कालीन बौद्ध ग्रंथों में उन्हें श्रद्धा मण्डित देवपुरूष के रूप में प्रस्तुत किया गया है।2 बौद्धेतर, विशेषकर जैन साहित्य में भी बुद्ध के जीवन से सम्बद्ध घटनाओं का यथा प्रसंग उल्लेख है।3 उल्लेखनीय है कि विवादास्पद सूचनाओं के आधार पर अनेक आधुनिक विद्ववानें ने अपने ग्रंथों में स्वतंत्र रूप से या यथा संदर्भ बुद्ध की जीवनीं को ऐतिहासिक रूप देने का सफल प्रयत्न किया है4, पर इन ग्रंथों में भी जैन साहित्य में वर्णित बुद्ध जीवनी के उल्लेख का प्राय: अभाव है और यही इस अध्याय का मुख्य प्रतिपाट्य है।

जैन ग्रंथ5 बुद्ध को कपिलवस्तु में शुद्धोधन की अग्रमहिषी महामाया से उत्पन्न मानते हैं। इस ग्रंथ के आधार पर कपिलवस्तु को काशी के उत्तर माना गया है। बुद्ध कपिलवस्तु गणराज्य के लुम्बिनी वन में पैदा हुए थे, इसका वर्णन बौद्ध ग्रंथों6 एवं अशोक के अभिलेख में है7। जिससे बुद्ध जन्म सम्बन्धी जैन परम्परा की पुष्टि होती है।

---

[1] दीर्घनिकाय-महापरिनिव्वाण एवं तेविज्जसुत्त, मज्झिमनिकाय। बोधिराजकुमार, सेल एवं रेट्ठपाल सुत्त। , संयुक्तनिकाय। धम्मचक्कपवत्तन, चन्द्र व जरासुत, अंगुत्तरनिकाय। पजापति पव्वज्जा सुत्त।, खुद्दकनिकाय। सुत्तनिपात्त। , धम्मपद थेर-थेरी गाथा, निदान, विनय पिटक। चुल्लवग्ग, महावग्ग।, अनुपिटक। महावंश।।

[2] महावस्तु, ललितविस्तार, अभिनिष्क्रमण सूत्र, जातककथा, बुद्धचरित, जिनचरित।

[3] योगविन्दु टीका, षडदर्शन समुच्चय राजशेखर।, समाधिशतक टीका, द्रव्य संग्रह टीका, दर्शनसार, गोम्मटसार, धर्मपरीक्षा आदि।

[4] ओरिजनल गास्पिल इन बुद्धिज्म। रीज डेविड्स अली मोनास्टिक बुद्धिज्म। नलिनाक्ष दत्त।, दी लाइफ आफ दी बुद्ध (थामस), बुद्ध। ओल्डन वर्ग।, इंडियन बुद्धिज्म। ए0के0 वार्डर।, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, आदि।

[5] षडदर्शन समुच्चय (राजकोखर) पृ0 136

[6] बुद्धचरित, 1/1-6

[7] सेलेक्ट इंस्क्रिप्शन, 11, पृ0 67

बुद्ध के पिता गौतम गोत्रीय क्षत्रिय एवं माता कोलीय वंशी राजकुमारी थी। यह सूचना बौद्ध ग्रंथ1 देते हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में कोई सूचना जैन ग्रंथों में नहीं मिलती।

जैन ग्रंथों में बुद्ध को शाक्य सिंह[2], सुगत[3], सुद्धोधणी, दसबलो, सक्को, जिणो आदि सम्बोधनों से सम्बोधित करते हैं।[4] इन सम्बोधनों से जहाँ शुद्धोधन पुत्र को शाक्यों में श्रेष्ठ माना गया है, वहीं उन्हें दस प्रकार के बलों को धारण करने वाला जितेन्द्रिय भी कहा गया है। जैन ग्रंथ[5] इन्हें उत्तम ज्ञान एवं मोक्षपद प्राप्त व्यक्ति के रूप में भी प्रस्तुत करते हैं। इनकी प्रज्ञा सम्पन्नता की पुष्टि जैन ग्रंथ[6] एवं बौद्ध ग्रंथ[7] समान रूप से करते हैं। यही कारण है कि उत्तरकालीन बौद्ध ग्रंथ[8] इन्हें अलौकिक पुरुष के रूप में प्रस्तुत करते हैं। जिनकी अलौकिकता का आभास बालक बुद्ध एवं गुरु विश्वामित्र की वार्ता (जहाँ बुद्ध से चौंसठ लिपियों की अप्रत्यासित बात सुन, उन्हें चौसठ लिपियों का ज्ञानी जान आश्चर्यचकित गुरु, उन्हें लोक परायण बनाने वाली विद्या की दीक्षा देना स्वीकार करने) से होती है।

ज्ञानसम्पन्न शुद्धोदन पुत्र विलासितायुक्त जीवन व्यतीत करते रहे, जिसकी चरम परिणित राहुल नामक पुत्ररत्न की प्राप्ति से हुई। उन्होंने सांसारिक विलासिता के जीवन से विरक्त हो तीस बर्ष की अवस्था में अपने नवजात शिशु एवं सुसुप्त पत्नी को

---

1 महावग्गसुत्त, 3, 1,स 18-20, पृ0 86, दीघनिकाय, 2, पृ0 8

2 षडदर्शन समुच्चय राजशेखर, 135
काश्यपश्च सप्तमस्तु शाक्यसिंहोऽर्कबान्धवः।
तथा राहुलसुः सर्वार्थसिद्धो गौतमान्वयः।।

3 षडदर्शन हरिभद्रः
तत्र बौद्धमते तावद्देवता सुगतः किल
चतुणामार्यसत्यानां दुःखादीनां प्ररूपकः।।

4 अभिधम राजेन्द्र, पृ0 1325

5 समाधिशतक टीका, 2.233.2, द्रव्यसंग्रह टीका, 14, 47, स्थानाङ्गासूत्र, 2, 1, 3, 3, 4, 3 शोभनं गतं ज्ञानं यस्यासौ सुगतः सुष्ठवा अपुनरावर्त्यगतिगम सम्पूर्णवाअनन्त चतुष्टदयं गतः प्राप्तं सुमतः

6 दर्शन सार, 6- श्री, पार्श्वनाथतीर्थे सरयूतीरे पलाशनगरस्य। पिहिताश्रवस्य शिष्यो महाश्रुतो बुद्धि कीर्ति मुनिः।

7 सुत्तांनिपात, 3.7

8 ललितविस्तार , पृ0 88-89

परित्याग दिया।[1] इस परित्याग की घटना को प्रस्तुतिकरण जैन-ग्रंथ[2] करते हैं। जिसमें कहा गया है कि बुद्ध ने पार्श्वनाथ के काल में काशी के उत्तर में स्थित कपिलवस्तु नामक राज्य में शुद्धोदन राजा की अग्र महिषी से उत्पन्न हो 30 वर्ष गृहस्थ धर्म का पालन कर एक पुत्र को जन्म दे, छ: वर्ष तक विविध श्रमण धर्म का पालन कर, सर्वज्ञता प्राप्त कर, काशी, कोशल तथा मगध में धर्मचक्रप्रवर्तन करते हुए 80 वर्ष की अवस्था में निर्वाण प्राप्त किया। परन्तु जैन शब्दकोष कार ने (अभिधान राजेन्द्र) ने इस संदर्भ को योगविन्दु के किस टीका से लिया है, कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि हरिभद्र के योगविन्दु सटीक में यह सन्दर्भ उपलब्ध नहीं है। अत: संभव है कि अभिधानराजेन्द्र के लेखक ने किसी अन्य टीका से यह उद्धरण प्रस्तुत किया हो, जिसकी प्राप्ति हमें न हो सकी हो। अन्य जैन ग्रंथ[3] भी बुद्ध के माता-पिता का नाम शुद्धोदन एवं महामाया बताते हैं। तथा इन्हें देवदत्त का अग्रज कहते हैं।

बौद्ध परम्परा4 से यह विदित होता है कि बुद्ध गृह परित्याग कर विविध आश्रमों में ज्ञानलाभक्षुक हो भटकते रहे। तदुपरान्त वे अडार कलाम के आश्रम में पहुँचे और उन्होंने अकिंचन्यायतन समाधि की दीक्षा ग्रहण की। इस समाधि के सात अंग थे। निर्वेद, वैराग्य, निरोध, उपसम, अभिक्षा, संबोधि एवं निर्वाण। किन्तु कालान्तर मे उन्होंने इस पद्धति का परित्याग कर दिया। इनकी सम्बोधि के प्रति आतुरता ने इन्हें उद्दक रामपुत्त के आश्रम में पहुँचा दिया। यहाँ इन्होंने नैवसंज्ञाना-संज्ञायतन नामक समाधि की दीक्षा ली। इस समाधि के आठ अंग थे, इसकी साधना भी बुद्ध को शान्ति प्रदायनी नहीं लगी। अत: इन्होंने इसका परित्याग कर राजगृह की ओर प्रस्थान किया। इस समय राजगृह श्रमणानुयायियों का केन्द्र था। बुद्ध ने यहां किस श्रमण परम्परा में

---

[1] बुद्धचरित 2-46; ललितविस्तार, आरैयपरियेसन सुत्त, महासच्चेकसुत्त, बोधिराजसुत्त, मज्झिमनिकाय, 35, 2, 4

[2] अविधानराजेन्द्र शब्दकोश , पृ0 1325

[3] षडदर्शनसमुच्चय,(राजशेखर) 135-135
"काश्यश्य सप्तमस्तु शाक्यसिंहोअर्कबान्धव:।
तथा राहुलसू: सवांर्थसिद्धो गौतमान्वय:।।"
"मायाशुद्धोदन सुतो: देवदत्ताग्रजश्च स: शौद्धोदनि धर्मकीर्ति प्रमुखा गुरुवो मता।।"

[4] मज्झिमनिकाय, 25.2.6, 35.3

दीक्षा ग्रहण की इस संदर्भ में बौद्ध ग्रंथ मौन है। परन्तु इसकी सूचना जैन ग्रंथ प्रस्तुत करता है1 इसमें कथन है कि — सरयू के तट पर स्थित पलास नगर में पिहितासव ऋषि का आश्रम था। वे श्रमण परंपरा2 में पार्शवनाथ के शिष्य थे।

इनके शिष्य बुद्धकीर्ति (अर्थात् गौतम बुद्ध) बहुश्रुत एवं महान शास्त्रज्ञ थे। किन्तु उन्होंने प्राप्त दीक्षा से भ्रष्ट हो एकान्त मत का प्रतिपादन किया। द्रव्य संग्रह टीका[3] तथा समाधि शतक टीका[4] में सुगत बुद्ध को केवल ज्ञान एवं सुन्दर ज्ञान आदि से युक्त अविनश्वर मुक्ति पद को जानने वाला माना है। गौम्मटतार[5] में बुद्ध के मत को एकान्त दृष्टि कहा गया है। अत: स्पष्ट है कि दर्शन सार में वर्णत एकान्त मत बौद्धों का ही रहा है। इसकी पुष्टि अन्य[64] जैन ग्रंथ भी करते हैं।

इस आधार पर बुद्ध कीर्तिमुनी को बौद्ध धर्म प्रवर्तक बुद्ध माना जा सकता है। संभवत: बुद्ध ने अडार कलाम एवं उद्दक राम पुत्र के बाद पार्श्वनाथ की भ्रमण परम्परा में दीक्षा ग्रहण करने के उपरान्त उसे त्याग रक्तवस्त्र[7] धारण कर एकान्त मत का प्रतिपादन

---

[1] दर्शनसार 6-7- "श्रीपार्श्वनाथतीर्थ सरयूतीरे पलाशनगरस्य।
पिहितासवस्य शिष्यो महाश्रुतो बुद्धि-कीर्तिमान:।।
सिमिपदर्शनै: अधिगत प्रवज्यात: परिभ्रष्ट:।
श्वताम्बरं घृत्वां एवर्तित तन एकान्तम्।।

[2] दर्शनसार नाथूराम प्रेमी। परिशिष्ट। 26

[3] द्रव्य संग्रह टीका, 14.47: "केवल ज्ञान शब्दवाच्यं गतं ज्ञानं यस्य स सुगत:।
अथवा शोभनम विनश्वरं मुक्तिपदं गत: सुगत:"।।

[4] समाधिशतक टीका, 2.233.2:
"शोभनं गतं ज्ञानं वस्यातौ सुगत: सुष्ठुवा अपुनरावर्त्य
गति गत सम्पूर्ण वा अनन्त चतुष्टयं गत: प्राप्त: सुगत:।।

[5] गोम्मटसार:। जीवकाण्ड। 16
एयंत बुद्धदरसी विवरीओ ब्रह्म तावसो विणओ।
इंदो विय संसइयो मक्कडियो चैव अण्णाणी।।
अर्थात् "एकान्तो बुद्धदर्शी विपरीतो ब्रह्म तापसो विनय:।
इन्द्रोपि व संशपितो मस्करी चैवाज्ञानी।।"

[6] देवागम, परिशिष्ट, 4, श्लोक 67-68। हिन्दी व्याख्या में इन्हें बौद्ध माना गया है।
"अनन्यतैकान्तेअणुना संघातजपि विभाषवत, असंहतत्वं स्याद्भूतचतुष्क भ्रान्तिरेवंसा।
कार्य भ्रान्तेरण भ्रान्ति: कार्य लिंगम हिकारणम्, उभयाअभावतस्तत्स्यं गुणजातीतरन्चन।।"

[7] दर्शनतार, 7

किया हो। बुद्ध के पार्श्वनाथ परंपरा में दीक्षित होने की पुष्टि बौद्ध ग्रंथ[1] करते हैं, क्योंकि इनमें बुद्ध के पुराने जीवन के विषय में जो वर्णन है वह जैन परंपरा के तापसों के साम्य रखता है। गौतम बुद्ध सारिपुत्र से कहते है[2] कि "मैं वस्त्र रहित रहा, आहार अपने हाथ से किया, न लाया हुआ भोजन किया, न अपने उद्देश्य से बनाया भोजन किया, न वर्तन में खाया, न खिड़की से खाया अर्थात् गुप्त रास्ते से भोजन प्राप्त कर नहीं खाया न मूसल के कूटने के स्थान से खाया, न दो आदमियों के एक साथ खा रहे स्थान से लिया, न बच्चे को दूध पिलाती स्त्री से लिया, न भोज करने वाली से लिया, न जहाँ कुत्ता खड़ा था वहाँ से लिया, न वहाँ से लिया जहाँ मक्खियाँ भिन-भिना रहीं थीं, न मछली न मांस, न मदिरा, न सड़ा माड खाया, न तुष का मैला पानी पिया। मैंने एक घर से भोजन लिया तो एक ग्रास लिया, दो घर से लिया तो दो ग्रास लिया, सात घर से लिया तो सात ग्रास लिया, मैंने कभी दिन में एक बार, कभी दो दिन में एक बार कभी सात दिन में एक बार भोजन किया तो कभी पन्द्रह दिन भोजन ही नहीं किया। मैंने मस्तक दाढ़ी एवं मूछों के केशों को लोंच किया तथा उसे जारी रखा। मैं एक बूंद जल पर भी दयावान था। क्षुद्रपाणी की भी हिंसा मुझसे न होती थी। इस प्रकार ताप व शीत को सहता भयानक वन में नग्न रहता था। आग नहीं तापता था, मुनि अवस्था में ध्यान मग्न रहता था।" बुद्ध की इस प्रकार की चयांतथा जैन ग्रंथ मूलाचार में वर्णित जैन साधुओं की चयां में अद्भूत साम्य है।

मूलाचार में जैनियों के लिए लोच को आवश्यक बताया गया है[3], तथा उसको निरंतर जारी रखने का निर्देश दिया गया है।[4] मज्झिम निकाय[5] में बुद्ध स्वयं कहते हैं कि

---

[1] मज्झिम निकाय, 12.6.15

[2] मज्झिम निकाय, महासीहनाद सुत्त, पृ0। 109

[3] मूलाचार, मूलगुणाधिकार,
"पंचय महव्वयाइ सजिदीओ पंच जिणवरूदिण
पंचविंदियरोहा, छप्पि य आवासाघ, लोचो।।"

[4] मूलाचार, 23
"वियतिचउक्कमासे लोचो उक्कस्समज्झि मजहण्णो।
सयडिक्कमणे दिवसे उववासेणेव कायव्वो।।"
अर्थात् "दिदत्रिचतुष्कमासे लोच: उत्कृष्टमध्यमजधन्य।
स प्रतिक्रमेण दिवसे उपवासे नैव कर्त्तव्य।।"

वे अपने मस्तक दाढ़ी एवं मूछों के केशों का लाँच किये तथा उसको जारी रखे। इससे सुनिश्चित हो जाता है कि बुद्ध जैन धर्म को स्वीकार कर ही उक्त बात की होगी। इतना ही नहीं बुद्ध का वस्त्र रहित होना भी उन्हें जैन धर्म स्वीकार करने वाले के करने वाले के रूप में प्रस्तुत करता है, क्योंकि अचेलकता[1] भी जैन धर्म मानने वाले के लिए मूलविहित आचरण में थी। मज्झिम निकाय[2] में कहा गया है कि बुद्धत्व प्राप्ति के पूर्व उन्होंने अपने निमित्त बनाये गये भोजन को न करने की जो बात है वह भी साधुओं के आचार के लिए महाबीर द्वारा निर्दिष्ट है।[3] बुद्ध का अपने हाथ पर भोजन करना भी मूलाचार के वर्णित जैन साधुओं के आचार के समान है, क्योंकि इसमें जैनों को हाथ पर ही भोजन करने का निर्देश दिया गया है।[4] बुद्ध ने अपने सम्बन्ध में जीवों पर दया सम्बन्धी जो बात कहीं है वह भी जैन आचार से मेल खाती है।[5] बुद्ध ने जिस प्रकार जल पर दया करने की बात मज्जिम निकाय में की है वह भी जैनों के आचरण से मिलती है, क्योंकि जैन साधु

---

[5] मज्झिम निकाय, पृ0 109

[1] मूलाचार, 3, 30
"अच्चेलक मव्हाणं सिदि सयभमदतं घंसणचेव।तथा
ठिदभोयणेयभत्तं मूल गणा अठ्ठवीसा दु।।
"वत्थाजिणवक्केण य अहवा पत्ताइणा असंवरणं।
णिबभूसण णिग्गथं अच्चेलक्कं जगदि पूज्जं।।

[2] मज्झिम निकाय, पृ0 109

[3] आचारांग सूत्र। संपादक मुनि नथमल, 2/1/1/7-8

[4] मूलाचार, 34
"अंजलि पुडेण ठिच्चा कुड्डाइविवज्जेणण समपायं।
पडि सुद्रे भूमितिए असणं ठिदिभोयणं णाम।।"
अर्थात्"अंजलिपुटेन स्थित्वा कुड्याादि विबजेनेन समपादम्।
परिशुद्रे भूमित्रिके अशनं स्थिति भोजनं नाम।।"

[5] मूलाचार, 4, 5, 9
"हिंसाविरदी सच्चं अदत्तपरिवज्जणं चबंभंच।
संगविमुत्ती य तहा महव्वया पंच पण्णत्ता।।"
कायेंदिय गुण मग्मणकुला उजोणीसु सव्वजीवाणं।
णाउण य ठाणादि सु हिंसादि विवज्जणमहिंसा।।
जीव णिवद्धद् परिग्गहा जीव संभवा चेव।
तेसिं सक्कच्चागो इयरम्हिं यणिम्मओअसंकगो।।"

स्नानादि के लिए जल का प्रयोग जीव हिंसा के भय से नहीं करते थे।[1] इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध निश्चय ही अनेक श्रमण परम्परा का पालन करते हुए जैन परम्परा का निर्वाह कुछ काल तक किये। तत्पश्चात् उसका परित्याग कर अपने नवीन धर्म का प्रतिपादन किया।

एक अन्य जैन ग्रंथ[2] बुद्ध से सम्बन्धित कथानक प्रस्तुत करता है, जिससे बौद्ध धर्म के प्रवर्तक के विषय में भ्रम उत्पन्न हो जाता है। उसमें कहा गया है कि "पार्श्वनाथ की परम्परा में मौग्लायन नामक तपस्वी था, जिसने महावीर से रुष्ट होकर बौद्ध धर्म का प्रचार (जन्मदाता) किया। इसने शुद्धोदन के पुत्र को परमात्मा माना।" यहाँ भ्रम होता है कि बौद्ध धर्म का जन्मदाता बुद्ध को माना जाय या मौग्लायन को। इस भ्रामक प्रश्न को युक्ति पूर्वक हल किया जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध धर्म के प्रवर्तक बुद्ध के शिष्य मौग्लायन ने धर्म का अति विकास किया, इसलिए उन्हें धर्म प्रवर्तक मान लिया गया।

मौग्लायन को जहाँ जैन ग्रंथ पार्श्वनाथ की परम्परा का उद्घोषित करते हैं, वहीं बौद्ध ग्रंथ[3] इन्हें आजीवक संजय का शिष्य मानते हैं। इन्होंने अश्वजीत से गौतम का उपदेश सुन धर्म परिवर्तन कर लिया था।

उपयुक्त जैन परम्परा के अनुसार पिहितासव आश्रम में मछलियों का आहार ग्रहण करने के कारण बुद्ध दीक्षा भ्रष्ट हुए तदुपरान्त उन्होंने लाल वस्त्र धारण कर एकान्त मत का प्रवर्तन किया। बौद्ध ग्रंथों में बुद्ध द्वारा मत्स्य भोजन का वर्णन तो नहीं है किन्तु यह वर्णन अवश्य है कि नैरंजना के किनारे पंचवर्गीय ब्राह्मणों ने बुद्ध को उग्रतय, हठयोग एवं देह दमन त्याग से विरत होकर पायस खाने के कारण पथभ्रष्ट मानकर छोड़

---

[1] मूलाचार, 31
"ण्हाणदिवंज्जणेण य विलितजल्लमलसेद सव्वंयं।
अण्हाणं घोरगुणं संयमडुगपालणं मुणिणो।।"

[2] धर्मपरीक्षा, 6
"रुष्टः श्रीवीरनाथस्य तपस्वीमौडिलायनः।
शिष्यः श्रीपार्श्वनाथस्य विदर्थ बुद्धदर्शनम्।
शुद्धोदन सुतं बुद्धं परमात्मानम प्रवीत्।।

[3] महावग्ग 1.17.62

दिया। बुद्ध ने इन्द्रिय तृप्ति से मानसिक स्वस्थता को माना।[1] उनके अनुसार स्वस्थ मन से समाधि सिद्ध होती है, जिससे ध्यान योग होता है।[2] ध्यान योग से धर्म प्राप्त होता है जो दुर्लभ, शान्त, अजर, अमर एवं परमपद प्रदान करने वाला होता है।[3] बुद्ध ने यह निर्णय कर नन्दबला[4] (सुजाता)[5] से पायस ग्रहण किया। अत: बुद्ध को जैन एवं बौद्ध दोनों ग्रंथों मे बुद्ध को पथ भ्रष्ट होने की सामाजिक परम्परा का उल्लेख हैं। जैनियों ने मछली का आहार ग्रहण करने के कारण उन्हें तपभ्रष्ट माना[6], वहीं दूसरी ओर पंचवर्गीय भिक्षुओं ने पायस ग्रहण से उन्हें तपभ्रष्ट माना[7], पायस का अर्थ खीर तो है ही, क्या पायस (जल) में उत्पन्न होने के कारण मछली को भी पायस कहा जा सकता है ? यदि ऐसा हो तो बौद्ध ग्रंथों में वर्णित पायस ग्रहण करने की परम्परा से ही बुद्ध द्वारा मत्स्याहार ग्रहण करने की उपर्युक्त परम्परा विकसित हुई होगी।

महावस्तु में कहा गया है कि सुजाता के पायसभक्षण के दिन बुद्ध ने मार को पराजित कर अनुत्तर भेदविज्ञान को प्राप्त किया।[8] मार के विषय में पालि-साहित्य एकमत नहीं है। इसका प्रयोग कभी मृत्यु[9], कभी सांसारिक प्रलोभनों[10] के संदर्भ में किया गया है। इस प्रसंग में सुत्तनिपात[11] तथा धम्मपद[12] उल्लेखनीय है। मार संघर्ष का वर्णन प्राचीन पालि साहित्य में न होने से यह विषय संशय युक्त हो जाता है। अत:

---

[1] बुद्ध चरित 12.105

[2] बुद्ध चरित 12.106

[3] बुद्ध चरित 12.107

[4] बुद्ध चरित 12.109-11

[5] महावस्तु, पृ0 370

[6] दर्शनसार, 8.9
"मांसस्य नास्ति जीवो यथा फले दधिदुग्ध शकेरायां च।
तस्मातं बांछन् तं भक्षन् न पापिष्ठ:।।"
"मट्यं न वर्जनीयं द्रव्य द्रव्यं यथा जलं तथा एतत्।
इति लोके घांषित्वा प्रवर्तितं सर्व सावटयं।।"

[7] बुद्धचरित 107

[8] महावस्तु, पृ0 370:

[9] संयुक्तनिकाय भाग 9, पृ0 156, सुत्तनिपात, 3.2.8:

[10] बुद्धचरित, 13, ललितविस्तार। मार संघर्ष परिवर्तन। महावस्तु, पृ0 363-4:

[11] सुत्तनिपात, 1.9.168:

[12] धम्मपद, चिन्तवग्गो, 37:

आधुनिक विद्वानों[1] ने इसे कथात्मक विकास का परिणाम माना है। रिजडे विड्स[2] ने इसे आध्यात्मिक व्यापार की बाह्य इतिवृत्ति के रूप में प्रस्तुत किया है। मार संघर्ष को गोविन्द्रचन्द पाण्डेय[3] ने मानसिक संघर्ष माना है, जो भावी कार्यक्रम के निश्चय के पूर्व होता है। सम्प्रति इस मत से सहमत हुआ जा सकता है। पायसदान की रात बुद्ध को पूर्वजन्म ज्ञान, दिव्यचक्षुत्व एवं प्रतीत्य समुत्पाद का ज्ञान हो गया[4]। यही उनकी सर्वज्ञता थी। योगविन्दु तथा आप्तपरीक्षा[5] इनकी सर्वज्ञता का का खंडन करते हैं।

ये पायसभक्षण के एक हफ्ते बाद तक बोधिवृक्ष के नीचे मोक्षसुख प्राप्त करते रहे, तदुपरान्त प्रतीत्यसमुत्पाद की अनुलोम प्रतिलोम धारा का मंथन कर अपने मत को प्रस्तुत किए।[6] परन्तु जैन ग्रंथ[7] इनको पायस (मछली) भक्षण के बाद रक्त वस्त्र धारण कर एकांत मत से प्रवृत्त बताते हैं। इनके मत का निरूपण करते हुए जैनियों ने कहा है कि[8] बुद्ध, फल, दही, दूध के समान मांस में भी जीव नहीं मानते हैं। अतएव उनकी इच्छा या भक्षण में कोई पाप नहीं है। मांस ग्रहण करने के प्रति बुद्ध का दृष्टिकोम उदार प्रतीत होता है, क्योंकि इनके यहाँ अस्वस्थ भिक्षणी के लिए मांस भक्षण निषिद्ध नहीं था। जैसा कि सुप्रिया के उदाहरण से स्पष्ट है कि एक रोगी भिक्षु ने उपासिका सुप्रिया के जाँघ का मांस भक्षण किया था।[9] इस घटना से ज्ञात होने पर बुद्ध ने भिक्षु को फटकारते हुए कहा है कि मनुष्य, हाथी, अश्व, कुक्कुर कुत्ता, सर्प, व्याघ्र, भालू और लकड़बग्घा के माँस को नहीं खाना चाहिए। बौद्ध धर्म में त्रिकोटिपरिशुद्ध मांस का भक्षण करना निहित था इन बातों से स्पष्ट हो जाता है कि रोगावस्था में बौद्धों का माँस खाना विहित था तथा स्वयं बुद्ध का केवल मनुष्य, हाथी, आदि उक्त जानवरों के मांस

---

1 थामसईजदी लाइफ ऑफ द बुद्ध, पृ0 74: ओल्डनवर्ग, दी लाइफ ऑफ द बुद्ध, पृ0 230:

2 रिजडेविड्स, ओरिजनल गास्पेल इन बुद्धिज्म, पृ0 16:

3 पाण्डेय गोविन्द चन्द्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ0 48:

4 ललितविस्तार, 20, अंगुतरनिकाय, 8.1.2.1:

5 आप्तपरीक्षा, सुगतोअपि नं निर्वाणमार्गस्य प्रतिपादक:
विश्वतत्वज्ञताअपायात्तत्वत: कपिलादेवत्।। 84।।

6 महावग्ग, 1.1.1

7 दर्शनसार, 7:

8 वही, 8:

9 विनयपिटक, महावग्ग, 6.9.21. 6.10..22 , पृष्ठ 235-36:

का निषेध, उनके अतिरिक्त जीवों के मांसभक्षण का संकेत प्रस्तुत करता है। अत: यह असम्भव नहीं है कि बुद्ध स्वयं मछली का आहार किये हो। इस बात को बौद्ध परम्परा में छिपाने के लिए पायस का अर्थ खीर से ही किया गया है। जैनियों के अनुसार[1] बुद्ध मदिरा एवं जल को समान तरल द्रव्यमान उनके उपयोग की बातें करते हैं। जैन ग्रंथ[2] बुद्ध के इस कथन के कारण उन्हें संसार में पाप की परियाटी चलाने वाला माना। इनके मत से पाप का कर्ता एवं भोक्ता पृथक-पृथक होता है। ऐसे भ्रष्ट सिद्धान्त जिससे पाप को प्रोत्साहन प्राप्त होता है, बुद्ध ने लोगों को अपना अनुयायी बनाया। तदुपरान्त मृत्यु को प्राप्ति हुआ।

उपर्युक्त विवेचन बौद्धों के क्षणिकवाद सिद्धान्त की ओर संकेत करता है। जैनियों ने इसका प्रयोग साधारण जनता के सामने कर बौद्धो को त्याग, तप से विरत माना जो व्यवहारमें उपलब्ध नहीं है। इनमें कहा गया है कि सम्बोधि के बाद बुद्ध कहते हैं कि – "मैं शरीर रुपी घर को बनाने वाले की खोज करता हुआ अनेक जन्मों से संसार मेंभटकता रहा, "बार-बार जन्म लेना दु:खदाई है। घर बनाने वाले मैंने तुम्हें देख लिया है। तुम अब फिर घर न बना सकोगे, तुम्हारी सब कड़ियाँ टूट गई हैं, तथा घर का शिखर गिर गया है। मेरा चित्त संस्कार रहित हो गया है। तृष्णाओं का विनाश हो गया है।[3]

महावग्ग[4] तथा उदान में बुद्धत्व प्राप्त होने के पश्चात् ब्रह्मयाचना का वर्णन है। इसमें ब्रह्मा को बौद्ध धर्मप्रचारक के लिए बुद्ध को प्रेरित करते हुए प्रस्तुत किया गया है।[5] बुद्ध ने अखिलविश्व को पुष्करणी में स्थित कमल की भाँति देखा, जिस प्रकार सरोवर में कुछ अनुषंलिप्त रहते हैं, उसी प्रकार संसार में प्राणी की स्थिति है।[6] अत:

---

[1] दर्शनसार, 9:

[2] वही, 10:

[3] धम्मपद,।। 153,54:

[4] महावग्ग, 1.5.8:

[5] ललितविस्तार, पृ0 286:

[6] ललितविस्त्तर, पृ0 286:

परलोक भय से भयभीत जीवों की स्थिति को देख बुद्ध ने धर्म देशना का विचार किया।[1] इस प्रकार का वर्णन किसी जैन ग्रंथ में उपलव्ध नहीं है। उत्तरकालीन बौद्ध ग्रंथ[2] के रचनाकाल में ब्रह्मा का काफी महत्व बढ़ गया प्रतीत होता है। संभवत: इसी से प्रभावित हो जन समुदाय को भ्रमित करने के प्रयास से बुद्ध का सम्बन्ध ब्रह्मा से जोड़ दिया गया।

बुद्धत्व प्राप्ति के बाद धर्मोपदेश का निश्चय कर बुद्ध ने अलाड कलाम व उद्दाक राम पुत्र का स्मरण किया। परन्तु वे दिवंगत हो चुके थे।[3] इसलिए पंचवर्गीय भिक्षु जो ऋषिपत्तन (सारनाथ) में रहते थे। उनसे मिलने ऋषिपत्तन चल पड़े। रास्ते में उपक आजीवक के प्रश्नों का उत्तर देकर आगे बढ़े[4] तो पंचवर्गीय भिक्षुओं से भेंट हो गयी तब एक लम्बे विवाद के बाद विश्वस्त हो उन्होंने धर्म देशना ग्रहण किया।[5]

पंचवर्गीय भिक्षुओं का बुद्ध देशना से अहंत्व प्राप्त कर लेना ही बौद्ध भिक्षु संग के निर्माण का कारण बना। वाराणसी में यशनामक श्रेष्ठिपुत्र अपने चौवन मित्रों के साथ बौद्ध भिक्षु बन गया। बुद्ध ने विभिन्न दिशाओं में धर्म प्रचार के लिए इन्हें भेजा, स्वयं उरुवेला की ओर प्रस्थान किया। वहाँ उरुवेला काश्यप, नदी काश्यप एवं गया काश्यप अपने शिष्यों सहित बुद्ध का शिष्यत्व स्वीकार किया। बुद्ध ने राजगृह के राजा बिम्बिसार को उपदेश दिया, जिससे प्रभावित होकर बिम्बिसार ने भिक्षु संघ को वेणुवन भेंट किया। तदुपरान्त बुद्ध कपिलवस्तु में अन्य शाक्यों के साथ राहुल को दीक्षित किया। बुद्ध के राजगृह आने पर सारिपुत्र एवं मौदगल्यायन को बौद्धधर्म में दीक्षित किया गया। इन्हीं को जैन ग्रंथ में बौद्ध धर्म का प्रवर्तक माना गया है।[6] जो अग्रधावक कहलाये।[7] बुद्ध ने अपने उपदेश को जनता के निकट जाने के लिए भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए कहा है कि भिक्षुओं ! जितने भी मानुष एवं दिव्य बन्धन है, मैं उनसे मुक्त हूँ। तुम भी सभी दिव्य एवं मानुष भोगों से विमुक्त हो जाओ तथा बहुजनहिताय,

---

[1] वही, पृ0 292-93:

[2] वही, पृ0 293-94:

[3] वही, पृ0 295:

[4] महावग्ग, 1.1.6:

[5] अर्ली बुद्धिज्म, पृ0 8:

[6] धर्मपरीक्षा 6:

[7] महावग्ग, 1.17.60-62:

बहुजनसुखाय लोकपर अनुकम्पा करने के लिए उनके हित के लिए सुख के लिए विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ। आदि, मध्य एवं अन्त में कल्याण कारक इस धर्म का उपदेश करो। अर्थ सहित व्यंजन सहित, केवल परिपूर्ण परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो।[1]

जैन साहित्य[2] में जैन साधुओं के वर्षावास के संदर्भ में बताते हुए उन्हें निर्दिष्ट किया गया है कि बिहारों में प्रवेश करते समय बौद्ध भ्रमण से बच कर प्रवेश करना चाहिए। यहाँ भ्रमण का तात्पर्य बौद्धों के ही साथ-साथ अन्य भ्रमणों से भी है। इससे स्पष्ट होता है कि बौद्ध वर्षावास करते थे। बौद्ध ग्रंथ[3] में ऐसा उद्धरण आया है जहाँ जैनों के वर्षावास से प्रभावित हो बौद्धों ने बुद्ध से वर्षावास की अनुमति प्राप्त कर ली। बुद्ध के वर्षावास से सम्बन्धित विवरण जैन ग्रंथों में अनुपलब्ध है, परन्तु अंगुतरनिकाय[4] इनके वर्षावास की विस्तृत सूची प्रस्तुत करता है।

बुद्ध के परिनिर्वाण के विषय में जैन परंपरा केवल इतना ही सूचित करती है कि बुद्ध भ्रष्ट धर्म का प्रचार कर मृत्यु को प्राप्त हुए। परन्तु बौद्ध[5] में परिनिव्वाण की विस्तृत चर्चा हुई है। इसके अनुसार बुद्ध रोगग्रस्त अवस्था में वैशाली के वेलग्राम में वर्षावास कर पावा पहुँचे। यहाँ चुन्द कम्मारपुत् के घर सुकर मार्दव (शूकरमाँस या कुकुरमुत्ता) खाने से उन्हें मरणांत वेदना हुई। तदुपरान्त बुद्ध ने रक्तातिसार से ग्रसित हो काशी नगर की ओर प्रस्थान किया परन्तु बीच में ही उन्होंने हिरण्यवती नदी पार कर शाल वन में पहुंच, ध्यान की क्रमिक अवस्थाओं की अनुभूति करते हुए परिनिर्वाण में प्रवेश किया।

उपसंहारः

जैन परंपरा बुद्ध को पार्श्वनाथ की परम्परा में भी दीक्षित बताती हैं। परन्तु बुद्ध अपने पुराने जीवन के संदर्भ में सारिपुत्र से कहते हैं कि वे वस्त्र रहित रहें। यह बात भ्रम

---

1 संयुक्तनिकाय, 4.1.4.:

2 आचारांग सूत्र, 2/2/3/88, 2/3/1/112,113:

3 महावग्ग, 3.2.2.:

4 अंगुत्तरनिकाय, 2.43:

5 दीर्घनिकाय, महापरिनिव्वानसुत्त,

उत्पन्न कर देती है कि क्या पार्श्वनाथ की परम्परा में साधुओं का वस्त्र रहित रहना विहित था ? यदि ऐसा था तो निश्चय ही बुद्ध ने पार्श्वपरंपरा में दीक्षित हो कुछ समय विताये होगें। परन्तु ऐसा न होना उन्हें किसी अन्य परम्परा में दीक्षित होने की ओर इंगित करेगा। जैन ग्रंथ[1] मे केशि गौतम संवाद में पार्श्वनाथ के परम्परा के शिष्यों एवं महावीर परम्परा के शिष्यों में सान्तरोत्तर (वस्त्र सहित) और "अचेल" (वस्त्ररहित) के भेद को लेकर संवाद होता है। इसमें महावीर के परम्परा वालों को "अचेल" (वस्त्र रहित) तथा पार्श्वपरम्परा वालों को सान्तरोत्तार अर्थात् वस्त्र सहित (सचेल) कहा गया है। परन्तु उक्त उदाहरण में पार्श्व परम्परा वालों के लिए सात्तरोत्तर शब्द प्रयोग का अर्थ कुछ जटिलता उत्पन्न करता है इसलिए इस पर विचार करते जैनग्रंथों[2] में उसका अर्थ उत्तरीय वस्त्र व अधोवस्त्र दो वस्त्रो के धारण करने से मानता है। परन्तु आचारांगवृत्ति के अनुसार ही सात्तरोत्तर साथ वस्त्र आवश्य रखता था। परन्तु उसका प्रयोग कभी कभी करता था। अत: उक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि पार्श्व परम्परा के लोग कभी नग्न कभी वस्त्र सहित रहते थे। अत: बुद्ध का नंगा रहना, केश लोंच करना तथा हाथ में भोजन करना उन पर जैन परम्परा के प्रभाव को इंगित करता है।

अत: संभव है कि बुद्ध ने अपने जीवन के पूर्व भाग में जैन परम्परा का पालन किया हो। बुद्ध ने सुजाता के द्वारा प्रदत्त पायस प्राप्त किया इससे रुष्ट हो पंचवग्मी भिक्षुओं ने उन्हें तप भ्रष्ट समझ तियाग दिया और ऋषिपत्तन चले गये।[3]

---

[1] उत्तराध्ययन सुत्र, 23/29:
"अचेलयो य जो धम्मो जो इमो सत्तरुत्तरो।
देसिओ बद्धमाणेणं पातेण य महाजता।।"

[2] उत्तराध्ययन नेमिनाथ टीका 23,13 पर पृ0 295, .आचारांग वृत्ति, पृ0 251:
सान्तराणि – महामूल्यतया प्रधानानि प्रक्रमात् वस्त्राणि यस्मिन्नसौ सान्तरोत्तरो धर्म: पार्श्वेन देशित:। तथा – अपगते शीते वस्त्राणि त्याज्यानि अथवा शीत परीन्तार्थ च सान्तरोत्तरो भवेत्। सान्तरमुत्तरं – प्रावरणीयं यस्य स तथा क्वचित् प्रावृणोति क्वचित् पार्श्ववर्ति विभति शीताशंकया नाव्यापि परित्यजति, अथवा अवमचेल एक कल्प- परित्यागात् दिवकल्पधारीत्यर्थ: अथवा शनै:-शनै: शीते अपगच्छति सति दिवतीयकल्पमपि परिव्यजेत् तत एकशाटक: संवृत्त:, अथवा अत्यन्तिर्के शीताभावे तदपि परित्यजेदतो अचलो भवति असौ मुखवस्त्रिका रजोंहरणमात्रोषधि:।

[3] महावस्तु, पृ0 370 , बुद्ध चरित, 12,144:

संभवत: बौद्ध ग्रंथों में उल्लिखित पायस ग्रहण की घटना को ही जैनों ने विकसित कर मत्स्य खाकर[1] बुद्ध के पथभ्रष्ट होने की बात कही हो,। क्योंकि जल (पयस) में उत्पन्न होने के कारण पायस से मछली भी समझा जा सकता है। बुद्ध की मांसभक्षण सम्बन्धी उदारता का लाभ उठाकर जैनों ने जनमानस में उनकी छवि धूमिल करने के लिए बुद्ध को मछली का आहार कर तपभ्रष्ट हुआ माना हो।

वस्तुत: जैन परम्परा[2], उन्हें सरयू के तट पर तिमि (मछली) युक्त भोजन खाकर पार्श्वधर्म से भ्रष्ट हो नये धर्म के प्रवर्तन की बात करती है, जबकि बौद्ध परम्परा[3] के अनुसार बुद्ध नैरंजना नदी के तट पर सुजाता अथवा नन्दबला से प्राप्त पायस (खीर) ग्रहण कर हठयुक्त तप से भ्रष्ट हो धर्मोंपदेश में तत्पर हुए। यहाँ दोनों परम्पराओं में बुद्धत्व प्राप्ति के स्थल में भेद है। एक परम्परा उन्हें बुद्धत्व की प्राप्ति सरयू के तट पर कराती है, तो दूसरी परम्परा उन्हें नैरंजना नदी के तट पर।

इस अध्याय के विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि बुद्ध के जीवन वृतान्त की सूचनाएँ थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ जैन परम्परा में सुरक्षित हैं। किन्तु कुछ बातों में बौद्ध परम्परा से इनका विभेद भी स्पष्ट परिलक्षित होता है। संभवत: बुद्ध जीवनी संबंधी बातों में भिन्नता का कारण आपसी द्वेष रहा हो। जिसके फलस्वरुप जैन परम्परा ने बौद्धों की कीर्ति धूमिल करने के लिए कुछ बातें गढ़ लीं।

---

1 दर्शनसार, 7:

2 दर्शनसार, 6:

3 बुद्ध चरित, 12, 108: महावस्तु, पृ0 370:

द्वितीय अध्याय

जैन साहित्य में प्रतिबिम्बित बौद्ध आचार

जैन वाडंमय में अपने धर्म के साधुओं के आचरण निर्धारम के साथ जैनेत्तर साधुओं के खान-पान सम्बन्धी आचारों का निरूपण हुआ है। इसी में बौद्ध भिक्षुओं के आचार को उद्धृत करते हुए उन्हें हिंसक बतलाया गया है।[1] वस्तुत: बौद्ध भिक्षु अपने को अहिंसक मानते हैं, परन्तु जल आदि का प्रयोग नहाने, पीने एवं वस्त्र प्रच्छालन के लिए करते हैं।[2] इनके अनुसार जल में जीव नहीं होता है।[3] इनके इस चयां को पालन करने से ही जैनाचार्य उन्हें हिंसक कहते हैं, क्योंकि इनके अनुसार पृथ्वी कायिक, जलकायिक जीवों की हिंसा पृथ्वी एवं जल के आलम्भन प्रालम्भन करने के कारण ही हो जाती है। इस स्थिति में बौद्धों को अहिंसक नहीं कहा जा सकता है। इसके लिए जैनाचार्य ने उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि जिस प्रकार इन्दियविकल पुरुष के छेदन भेदन से उसे कष्ट की अनुभूति होती है, उसी प्रकार जलकायिक जीवों को जल के प्रयोग से कष्ट होता है। इस पर भी यदि बौद्ध जल प्रयोग के लिए तर्क उपस्थित करते हुए कहें कि दैनिक क्रिया कर्म के लिए जल प्रयोग किया जा सकता है, तो उन्हें अहिंसक नहीं माना जा सकता है।[4]

जैनियों का मत है कि जलकायिक जीवों की हिंसा करने वाले बौद्ध अपने को अहिसंक नहीं कह सकते हैं,[5] क्योंकि छ: जीव निकायों में किसी का भी बध करना हिंसा है।[6] अत: ऐसा करने वाले सदैव हिंसा से विरत नहीं माने जा सकते हैं।[7] जैनियों के अनुसार बौद्ध जगत् के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए आत्मा के अस्तित्व को नहीं मानते हैं। इसलिए उन्हें अनात्मज्ञ कहते हुए असत्य गति को प्राप्त करने वाला माना जा सकता है।[8] इसकी पुष्टि स्वयं बौद्ध ग्रंथों से हो जाती है कि ये अनात्मज्ञ[9] होते हुए जगत्

---

1 आचारांग सूत्र, 1/1/1/9

2 महावग्ग, 1/25/12, 5/13/7:

3 वही,1/23/78:

4 आचारांग सूत्र , 1/1/3/1-9:

5 वही, 1/1/3/41-59 पर टीका:

6 आचारांग सूत्र, 1/5/1/4

7 वही,1/5/1/8

8 वही, 1/1/4/5तथा, 1/2/2/17:

9 मज्झिमनिकाय,1/1/2:

के अस्तित्व[1] को स्वीकार करते हैं। जैनियों की मान्यता है कि प्राणातिपात अदिन्नादान, मृणावाद, मैथुन एवं परिग्रह दोषों के दोषी[2], अत्यन्त संयमित वर्तमान कालिक सुख की गवेषण करने वाले[3] सांसारिक आवागमन से मुक्त नहीं हो सकते हैं।[4] कुछ लोगों के अनुसार सुख से सुख की प्राप्ति होती है। दु:ख सुख का कारण नहीं बन सकता है। इसलिए परलोक सुख की आशा में भौतिक सुख का परित्याग नहीं करना चाहिए।[5] जैन वृत्तिकार इन्हें सावद्य अनुष्ठान करने वाला एवं परिग्रही मानते हैं। ये स्त्रीपरिग्रह से पराजित अनार्य होते हैं, क्योंकि यह प्रियदर्शन के समक्ष अन्य दर्शनों को अनावश्यक मानते हैं। इनकी मान्यता है कि सराग चित्त से निर्वाण प्राप्त होता है। वृत्तिकार इन्हें बौद्ध विशेष मानते हुए कहा है कि इनके अनुसार जिस प्रकार पके फोड़े से मल एवं रुधिर निकल जाने से आराम हो जाता है, वैसे ही स्त्रीसंसर्ग विषयाशक्तिक दु:ख दूर कर देता है। इसलिए जिस प्रकार कंपिल पक्षी आकाश मैं उड़ते हुए जल ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार याचना करने वाली स्त्री के साथ संभोग करने में कोई दोष नहीं होता है। वास्तव में भेड़ पानी को गंदा किए बिना दोनों घुटनों को सावधानी पूर्वक मोड़कर जिस प्रकार जल ग्रहण कर लेती है, उसी प्रकार राग रहित चित्त वाला पुरुष स्त्री संसर्ग करने पर दोषी नहीं माना जाता है। वृत्तिकार इन उक्त आचरण करने वालों को नीलवस्त्र धारी बौद्ध माना है[6]। लंका में बौद्धों का एक सम्प्रदाय सेनवंशी राजा के काल में था।[7] सम्भवत: जैनियों ने इन्हें अपने तर्कों से नील शब्द[8] का अत्याधिक प्रयोग करने के कारण नील पटोदय कहा अथवा किसी तान्त्रिक बौद्ध सम्प्रदाय, जो नीलवस्त्र धारण करती थी, उनमें उक्त आचरण निहित था, उसी को ध्यान में रखकर उन्हें नील पटोदय

---

1 माध्यमिकवृत्ति172.3:

2 सूत्रकृतांग, 1/3/4/6:

3 वही, 1/1/2/32:

4 वही, 1/1/3/4:

5 वही, 1/1/4/87:

6 सूत्रकृतांग वृत्ति, पृ0 97-98:

7 श्रीमती सुदर्शनासिंघल,भारत और एशिया के अन्य देश,पृ0 33

8 विवरण प्रमेय संग्रह, पृ0 75, सर्वसिद्धान्त संग्रह, पृ0 12, सर्वदर्शन संग्रह, पृ0 38, 70,78, 82:

कहा। अन्यत्र[1] भी नील वस्त्र धारियों का वर्णन हुआ है जो जैनियों द्वारा वर्णित विवरण से साम्य रखता है।

बौद्ध ग्रंथ[2] में कहा गया है कि कोई व्यक्ति चित्त के दूषित होने पर ही दोषी माना जा सकता है। सम्भवत: जैनाचार्य ने इसी को ध्यान में रखकर बौद्धों के उक्त आचरण का वर्णन किया है। इसीलिए जैनियों ने बौद्धों के निर्वाण की परिकल्पना तथा उसके प्राप्ति के लिए उनके ध्यान के विधान को ढंक, कंक, कुलालदि पक्षियों के ध्यान के सद्दश बताते हुए कहा है कि जिस प्रकार पक्षियों का ध्यान मछली प्राप्ति के लिए होता है, उसी प्रकार बौद्धों का ध्यान सुख प्राप्ति के साधनों को एकत्र करने के लिए होता है। जैनियों के अनुसार बौद्ध सुन्दर भोजन वस्त्र, स्थान (आवास) एवं शय्या आदि, राग के कारणों का ध्यान करते हुए उसका उपयोग करते हैं। इसलिए ढंक, कंक, कुलाल एवं मंगु आदि पक्षियों के मछलियों को ग्रहण के लिए किए गये ध्यान के समान बौद्धों का कलुषित ध्यान होता है[3]। वृत्तिकार के अनुसार बौद्धमत में यह विहित है कि जिस प्रकार धान के बीज से युवांकुर नहीं उत्पन्न हो सकता है[4] उसी प्रकार दुःख से सुख नहीं प्राप्त हो सकता है। इसलिए मुक्ति सुख से ही सम्भव है। अतः बौद्ध मुनि सुन्दर घर में अच्छा भोजन कर, अच्छी शय्या पर सोकर ध्यान करता है। इसी कारण बौद्ध सुबह मृदुल शय्या से उठकर दुध पीते हैं, तदुपरान्त मध्यांन में भोजन तथा अपराह्न में पेय एवं अर्धरात्री में दक्षा खण्ड व शर्करा ग्रहण कर अपनी दिन चर्या पूर्ण करते हैं।[5] वृत्तिकार का कथन है कि बौद्ध उक्त आचारण से पाल करने से ही मुक्ति मानते हैं।

---

1 स्मृति संग्रह (आपस्तम्भ स्मृति)पृ0 363-367,तथा (अंगिरत स्मृति)पृ0 372-82तक:

2 चित्तविशुद्धिप्रकरण, 47-51तक:

3 सूत्रकृतांग, सूत्र1/26-28तक:

4 सूत्रकृतांग, 1/3/4/6 की वृत्ति

5 सूत्रकृतांग वृत्ति, 11/26 पर
मणुण्णं भोयणं भोच्चा, मणुण्णं सयणासणं।
मणुण्णंसि अगारसि मणुण्णं झायए मुणी।। तथा
मृद्वीशय्या प्रातरूत्थाय दुग्धं पेया भुक्तं मध्ये पानक चापराह्ने।
द्राक्षा खण्ड शर्करा चार्द्धरात्रे, मोक्षशचान्ते शाक्यपुत्तेणं द्दष्टः।।

उत्तरकालीन बौद्धों (तान्त्रिकों) के आचरणों को देखते हुए यह असंभव नहीं प्रतीत होता है कि उक्त आचरण पतनोन्मुखी बौद्धों में न आ गया हो। अतः इसी को बढ़ा-चढ़ा कर जैनियों ने बौद्धों की कीर्ति धूमिल करने के लिए स्वमेव निर्मित कर जनता के सम्मुख प्रस्तुत कर दी। जैनाचार्य उक्त शिथिलता का आचरण करने वालों को अनार्य एवं मिथ्या दृष्टिवाला कहते हैं। जैनियों के अनुसार मिथ्या दृष्टि वाले जन्मान्थ पुरुष की भांति छिद्रयुक्त नौका से समुद्र पार की इच्छा रखते हुए बीच में ही डूब जाते हैं। इसीलिए मिथ्यादृष्टि अनार्य साधु कर्माश्रव की अधिकता से मुक्ति पथ से विमुख हो नरक गामी होते हैं।[1] जैनियों द्वारा प्रस्तुत बौद्धों के आचरणों की समीक्षा करने के लिए बौद्ध ग्रंथों में विहित इनके आचरणों का अवलोकन करने पर यह प्रतीत नहीं होता है कि बौद्धों के लिए सुन्दर वसति प्राचीन काल में विहिन न थी। महावग्ग में उल्लेख है[2] कि पहले बौद्ध वर्षावास भी नहीं करते थे, वे जैनों का अनुकरण कर वर्षावास करने लगे। बौद्धों द्वारा मृदुजलं शैय्या का उपयोग भी संदिग्ध प्रतीत होता है, क्योंकि इस काल में वर्णित असंदी, पर्यक, गोड़क, चित्रक, पटिक तूलिका, विकतिक, उद्दलोमि, एकान्तलोमि, कटिस्स कौशेय, कुत्तक, हत्थत्थर, अस्सत्थर, रथत्थर, मृगछाला, कदलीमृगशैय्या, स उत्तरच्छद, उभतोलोहित कूप जैसे उच्चासन एवं महाशयनों का प्रयोग भिक्षुकों के लिए निषिद्ध था।[3] सिंह, व्याघ्र तथा चीते आदि के चमड़े को धारण करना बौद्धों को वर्जित था। इसको धारण करने से प्राणीबध की प्रेरणा मिलती थी।[4] उत्तरकाल में सीमावर्ती बौद्धों को एक तल्ले का जूता, नित्य स्नान, चर्ममय आस्तरण एवं चीवर प्रयोग की अनुमति थी।[5] परन्तु जूता पहन कर गाँव में जाना वर्जित था।[6]

बौद्धों के लिए घी, शक्कर, मक्खन, तेल एवं मधु इन पाँच दवाओं का सेवन पूर्वाह्न एवं अपराह्न विहित था। दवाओं के रूप में बौद्ध साधू चर्बी, जड़, पत्तों, फल, नमकों गोदों तथा चूर्णों से निर्मित दवायें ले सकता था। इसी प्रसंग में अनेक रोग एवं

---

[1] सूत्रकृतांग, सूत्र, 11/29/31
[2] महावग्ग, 3, 2, 2, पृ0 144
[3] वही, 5, 9, 20, पृ0 211
[4] वही, 5, 10, 21, पृ0 211
[5] वही, 5, 10, 22, पृ0 212
[6] वही, 5, 10, 23, पृ0 213

उनकी दवाओं का वर्णन करते हुए बताया गया है कि अमानुष्य रोग में कच्चामांस और कच्चा खून ग्रहण करना बौद्ध में विहित था। नेत्र रोग में काला अंजन, रस अंजन, स्त्रोत अंजन गेरू और काजल लगाया जा सकता था। सिर दर्द में तेल नस, नस करनी और धूमवत्ती का प्रयोग भी लाभदायी होता है। बात रोग में तेल में मद्य मिलाकर पिने एवं मालिस करने का विधान था। इसके साथ अन्य अनेक प्रकार के रोग की दवा का वर्णन बौद्ध ग्रंथ[1] में उपलब्ध है। इसमें कहा गया है कि किसी को भूत-प्रेत सम्बन्धी बाधा उपस्थित होने पर अनाज जलाकर बनाया गया सीरा पिलाना चाहिए। बौद्ध भिक्षुओं को लिए उक्त सभी दवाओं का प्रयोग विहित था। इसके साथ ही बौद्ध साधु पाथेय के रूप में घी, मक्खन, मधु और तेल को एक सप्ताह तक रख सकते थे। इनके लिए मांस भक्षण भी निषिद्ध नहीं था। परन्तु ये मनुष्य, हाथी, अश्व, कुक्कुर, सर्प, व्याघ्र, भालू और तरच्छ (लक़ड़बग्घा) के मांस का भक्षण नहीं करते थे। बौद्ध धर्म में त्रिकोटिपरिसुद्र मांस का भक्षण किया जा सकता है . इसमें इतना ही प्रतिबन्ध था कि वह उनको निमित्त करके न बनाया गया हो। इसलिए अद्दष्ट, अश्रुत और अपरिशंकित मांस ही ये भक्षण कर सकते थे।

ऊपर वर्णित पाँच गोरसों के अलावा गहन अटवी में गमन करते समय बौद्ध साधु पाथेय के रूप में तण्डुल, नवनीत, गुड, उड़द, मूँग, तेल, घी, ले जा सकते थे, इसके अतिरिक्त बौद्ध साधुओं को आम्रपान, जम्बुपान, चोंचुपान, मद्यपान, मुद्दिकपान (अंगूर), सालुकपान, फारुसक पान तथा अनाज के फल के रस को छोड़कर सभी फलों के रस की, ढाक के रस को छोड़कर सभी पत्तों के रस की, महुए के फूल के रस को छोड़कर सभी पुष्पों के रसों के पान की आज्ञा प्रदान कर दी गई[2]। उक्त विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्धों के खान-पान, असन सम्बन्धी जो शिथिलता असमान्य स्थिति में प्रदान की गयी, उत्तरकाल में उनका सेवन बौद्ध भिक्षु सामान्य स्थिति में करने लगें और संभवत: नवीं-दशवीं ई0 तक आते-आते उनका यहीं मान्य आचरण हो गया। थेरगाथा में, भविष्य के बौद्ध भिक्षुओं की अवस्था एवं दिनचर्या का जो वर्णन किया गया

---

[1] विनय पिटक महावग्ग, भेसज्जखन्धक, पृ0 264-265 तक

[2] विनय पिटक, महावग्ग। भेसज्जक्खन्धक। पृ0 218:

है। इससे स्पष्ट होता है कि थेरगाथ के रचना काल में बौद्ध भिक्षुओं के आचरण में जो शिथिलता व्याप्त थी, उसको ही व्यक्त करते हुए ग्रंथकार[1] कहता है कि पहले के भिक्षु अधिक नम्र एवं कर्मास्त्रव को दूर करने में दत्तचित्त रहते थे पर अब ऐसे भिक्षु कम हैं। बुद्ध के काल में इनकी दिनचर्या दूसरी थी। परन्तु अब कुछ और ही हो गई है। बौद्धों के शिथिलाचरणका वर्णन करते यह कहा गया है कि यदि ऐसी ही शिथिलता इनमें बनी रही तो बौद्ध शासन विनिष्ट हो जायेगा। इसी ग्रंथ में बौद्धों के संदर्भ में कहा गया है कि ये पाप वासनाओं के वशीभूत हो सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हैं। सद्धर्म को छोड़कर असद्धर्म का पालन करते हैं। भिक्षा के लिए कुकृत्य करते हैं। ये सभी शिल्प सीखते हैं और गृहस्थों से अधिकाधिक प्राप्ति की इच्छा करते हैं। ये भिक्षु औषधि के विषय में वैद्यों की तरह, काम-काज में गृहस्थों की तरह, विभूषण में गणिकाओं की तरह, और प्रताप में क्षत्रियों की तरह हैं। वे धूर्त वांचनिक, ठग, असंयमी तथा आमिष भोगी हैं[2]। ये लोभ के वशीभूत हो धन संग्रह करते हैं। स्वार्थ के लिए धर्मोपदेश देते हैं। संघ की भीतर संघर्ष करते हैं एवं दूसरे के लाभ से जीविकोपार्जन करते हैं[3]।

सूत्र कृतांग में बौद्ध धर्म को क्रियावादी अथवा कर्मवादी दर्शनमान उसकी व्याख्या प्रस्तुत करते हुए जिन-दासगणि एवं शीलांक ने कहा है कि उनके अनुसार दर्शन की कर्म विषयक मान्यता, दुखस्कंध वर्द्धक है[4]। इसी को कर्म समूह तथा आसातोद परम्परा माना गया है। बौद्धों के अनुसार परिज्ञोपचित, अविज्ञोपचित्, इर्यापथ

---

1 थेरगाथा, 921: अज्जथा लोषनाथम्हि तिट्ठन्ते पुरिसुत्ममें।
इरियं असि भिक्खून अज्जथा दानि दिस्सति।।
"सब्बा सब-परिक्खीणा महाझायी महाहिता।
निब्बुता दानि ते थेरा परित्ता दानि ता दिसा।।" 928:

2 वही, 938-939:"भेसज्जे सु यथा वेज्जा, किंच्चाकिच्चे यथा गिंही।
गणिका व विभूंतायं इस्सरे खत्तिप्त यथा।।" 938:
"नेकतिका वंचनिका कूटसक्खी ऊपाटुका।
बहुहि परिकप्पेहि अमिसं परि झुंजरें।। वही939:

3 वही, 940 से 942तक:

4 सूत्रकृतांग,2.1.24:
"कम्मचितायणट्ठाणं संसारस्स पवड्ढणं"

तथा स्वप्नांन्तिक ये चतुर्विध कर्म उपचय को प्राप्त नहीं होते हैं, क्योंकि प्राणी, प्राणिज्ञान, घातक चित्त, घातक क्रिया और प्राण वियोग हिंसा के कारण हैं। जैनियों ने कहा है कि यदि बौद्ध कहें कि चतुर्विध कर्म में हिंसा नहीं होती इसलिए इनको हिंसा नहीं कहा जा सकता है। वस्तुत: जिस प्रकार दीवाल पर फेंकी धूल स्पर्श के बाद विखर जाती है, वैसे ही ये चतुर्विध कर्म स्पर्श के बाद नष्ट हो जाते हैं। इसलिए इन कर्मों का उपचय नहीं होता। इसके समर्थन में चूर्णिकार उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जैसे राग-द्वेष रहित कोई गृहस्थ पिता किसी बड़ी विपत्ति से उद्धार के लिए अपने पुत्र को मार कर खाता हुआ भी कर्म बन्धन को प्राप्त नहीं होता, वैसे ही बौद्ध साधु भी मांस भक्षण करता हुआ, कर्म बन्धन को प्राप्त नहीं होता है[1]।

संयुक्त निकाय में इसी प्रकार की एक गाथा उपलब्ध है। जहाँ कहा गया है कि शरीर सामर्थ्य बढ़ाने के लिए पिता अपने पुत्र का बध कर उसकी माँसभक्षण कर लेने पर भी बौद्ध दृष्टि से पिता को बंधक नहीं माना जाता है। वस्तुत: इस पुत्रबध को औपपातिक नियम की संज्ञा से संशोभित कर पिता को बधक उपाधि मुक्त माना गया है[2]। नायाधम्यकहाओ में सुंसुमा अध्ययन में भी इसी से मिलती-जुलती कथा का उल्लेख है[3]। इन विवरणों से स्पष्ट होता है कि बौद्ध हिंसा में मानसिक प्रवृत्ति को ही महत्व देते हैं। बौद्धें के इसी प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर जैनाचार्य ने उनका उपहास करते हुए कहा है कि बौद्धों का मत है कि यदि खली के पिंड को मनुष्य मान कोई नष्ट करे तो उसे हिंसा का दोष लगेगा। परन्तु पुरुष को खली समझ कर कोई उसका बध करे तो उसे हिंसा का दोषी नहीं कहा जा सकता है। इतना ही नहीं, इस अहिंसक भावना अथवा बुद्धि से पकाये गये पुरुष अथवा कुमार के मांस का बौद्ध भक्षण कर सकते हैं। अत: बौद्धों के अनुसार अहिसंक भावना से पकाये गये मांस द्वारा जो उपासक अपने सम्प्रदाय के दो हजार भिक्षुओं को भोजन कराते हैं वे महान पुण्य स्कन्ध का उपार्जन

---

[1] सूत्रकृतांग,1.2.28पर नियुक्ति:
"पुत्तं पिया संमारब्ध आहारेज्ज असंजये।
भुन्जमाणो वि मेहावी कम्मुणा णोवलिप्यते।।"

[2] संयुक्तनिकाय,2 पृ0 87:

[3] नायाधम्मकहाओ, 1/18/18:

करते हैं। इसीलिए वे आरोग्य नामक देव योनि में जन्म लेते हैं। बौद्धों के उक्त आचरण की निंदा करते हुए जैनाचार्य का कथन है कि पुरुष का खली समझना तथा खली को पुरुष समझना असंभव है। ऐसा समझने वाले अज्ञानी हैं। क्योंकि ये माँसभक्षण के उद्देश्य से ऐसा करते हैं। इनको जिह्वा से स्वाद में आभक्त कहा जा सकता है[1]।

स्यात्वाद मन्जरी (हेमचन्द्र के ग्रंथ अन्ययोगव्यवच्छेद द्धात्रि शिकास्तवन की टीका) में वर्णन है कि यद्यपि बौद्ध साधु जीवों पर दया करते हैं, चलते हुए जमीन को साफ कर चलते हैं, परन्तु भिक्षापात्र में आये मांस को शुद्ध मानकर खा लेते हैं।[2]

अत: उक्त विवरण से स्पष्ट है कि उत्तर काल में बौद्धाचार अत्याधिक शिंथिल हो गया था। बौद्ध सम्प्रदाय अपने धर्म परिपालन में मांस भक्षण विहित किए थे। परन्तु यह मांस त्रिकोटिपरिशुद्ध होना चाहिए। पालि साहित्य में भी बौद्धों को माँसभक्षण करने का वर्णन उपलब्ध है। सीह सेनापति बुद्ध का उपासक हो जाने पर बुद्धसंघ के लिए मांसमिश्रित भोजन प्रस्तुत करता है[3]।

वास्तव में जैन ग्रंथों एवं बौद्धग्रंथों के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि जैनाचार्यों द्वारा वर्णित, बौद्ध भ्रष्टा-चार का बीज, बुद्ध के काल में वपन हो गया था। इसी तरफ भिक्षुपतिमोक्ख और भिक्खुणी पतिमोक्ख की संरचना भी संकेत करती है कि बौद्ध संघ में आचारहीनता प्रारंभ हो चुकी थी[4]। भिक्षओं और भिक्षुणिओं के माध्यम से विनय की शिथिलता सम्बन्धी प्रसंग आसानी से एकत्र किए जा सकते हैं। थेरगाथा

---

[1] सूत्रकृतांग,2.6.26 से 39 तक:
"पिन्नाग पिंडीमवि विद्धु सूके। केइ पणज्जा पुरिसे इमेत्ति।
अला उयं वावि कुमारएत्ति। सलिप्पति पाणिवहेण अम्हं।।26।।
"अहवानि विद्धुण मिलक्ख सूले। बिन्नागबुद्धइ नरं पएज्जा।
कुमारगं वानि अलाबुयंति। न लिप्षइ पपंणिवर्हण अम्हं।।27।।
"सिणायगाणं तु दवे सहस्से। जे भोवए निइए भिक्खुमाणं।
असंजए लोहियायाणि सेऊ। नियच्छत गरिहंमिहेव लोए।।36।।"

[2] स्यात्वादमंजरी,परिशिष्ठ ख:365:

[3] मज्झिम निकायं,सीहं सूत्र 12.6.15:

[4] विनय पिटक,सूत्र विभंग:

के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रंथ के रचना काल तक बौद्धों में पर्याप्त भ्रष्टाचार विद्यमान हो गया था।

जैन ग्रंथों में बौद्धों के कपड़ों सम्बन्धी प्राप्त विवरण में कहा गया है कि बौद्ध सर्दी से बचने के लिए कपड़ों का प्रयोग करते थे। ये आग का भी प्रयोग करते थे[1]। इनके कपड़े धातु रंग से रंगे होते थे। जैन ग्रंथों में रक्त पट परिभाजकों का वर्णन हुआ है[2]। परन्तु शीलांक के निल पटधारी बौद्ध विशेषों के वर्णन से स्पष्ट होता है कि बौद्ध सम्प्रदाय में नील एवं रक्त दोनों रंग के कपड़ों का प्रयोग होता था[3]।

बौद्ध ग्रंथों[4] में चीवर(वस्त्र) के सम्बन्ध में कहा गया है कि बौद्धों के चीवर दुवर्ण होने पर मूल, स्कन्ध, त्वक्, पत्र, पुष्प और फल के रंगों से रंग दिए जाते थे। ये वस्त्रों को रंगने के लिए नाद, थाल, कूडाक, घड़ा, दोषी, आदि पात्रों का प्रयोग करते थे। बौद्धों द्वारा प्रदत्त वस्त्रों एवं पात्रों का ग्रहण जैन साधुओं के लिए निसिद्ध माना जाता था[5]। इससे स्पष्ट होता है कि बौद्धों के पास वस्त्रों एवं पात्रों की अधिकता थी। इसका स्पष्टीकरण बौद्ध ग्रंथों[6] से हो जाता है। इनमें बौद्धों को अधिक चीवर मिलने के कारण उन्हें परिमित करने का उपदेश देते हुए कहा गया है कि एक भिक्षु अधिक से अधिक तीन चीवर रख सकता था। यथा-दोहरी संघाटी, एकहरा उत्तरासंघ और एकहरा अंतरावासक। पुराने चीवरों की संख्या इससे भी अधिक कर दी गयी। बौद्ध ग्रंथ[7] में वर्णन है कि मृगारमाता विशाखा ने भिक्षुओं को वार्षिक साटिका, तथा भिक्षुणियों को उदक साटी रखने की भी अनुमति प्रदान कर दी थी। इसके अतिरिक्त प्रत्यस्तरण (बेडसीट), प्रतिच्छादन (कोपीन), मुख पुच्छन, परिष्कार चोलक (थैला) रखने का

---

1 आचारांग सूत्र 1.7,2 से 14 तक:

2 ज्ञाताधम्मकहाओ, 1.15.5: निशीथ भाष्य, 13, 4420, आचारांग चूर्णि, 2, 9, पृ0 330, वृहद्कल्प भाष्य वृत्ति,1.1490, व्यवहार भाष्य 5, 27-28 तथा निशीथचूर्णि 1, पृ0 1-17,:2, पृ0 113, 116, 121 एवं 3, पृ0 414, 429:

3 सूत्रकृतांग, 3, 4, 10 से 13 पर वृत्ति, पृ0 97-98:

4 विनयपिटक, चीवरखन्धक महावग्ग1,8,13,19, पृ0302:

5 आचारांग, 2,5,146 तथा 2,6,152:

6 महावग्ग, 8,15,21, पृ0 304:

7 वही, 8,17,24,पृ0306:

इनके यहाँ विधान था। इसी में बताया गया है कि नग्नता तीर्थिकों का आचरण है[1]। बौद्ध भिक्षुओं को उनका आचरण नहीं करना चाहिए। इनके लिए कुशचीर, अजिमक्षिय, अर्कनाल पोत्थक तथा सभी नीलक पीतक, लोहितक, मंजिष्ठक कृष्णक, हरितक, महानाम रक्तक, कन्चुक, तिरीटक, वेटक आदि प्रकार के चीवर को धारण करना ठीक नहीं है[2]। इस प्रकार वस्त्रों की अधिकता की जो बात जैनाचार्यों ने की है वह बौद्ध ग्रंथों से साम्य रखती है। परन्तु पिटक साहित्य में बौद्धों के वस्त्रों के रंगों सम्बन्धी विवरण जैनों जैसा नहीं मिलता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि जैनों द्वारा प्रस्तुत बौद्धों के आचार सम्बन्धी विवरण संभवत: तांत्रिक बौद्धों से सम्बन्ध रखता है, क्योंकि सीलांक आदि से कमय में इन्हीं का विशेष प्रभाव रहा। अधिक सम्भावना यह है कि बौद्धों के पूर्व काल में विशेष परिस्थितियों में विहित आचरणों को उत्तर काल में सामान्य स्थितिमें भी प्रयुक्त करने लगे, इसी को ध्यान में ऱखकर जैन आचार्यों ने उसे बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करने का प्रयास किया। इतना ही नहीं जैनियों ने बौद्धों के दार्शनिकविचारों को भावनाप्रधान माना तथा उन्हें हिंसा में प्रवृत्ति हुआ प्रदर्शित कर उनकी अवहेलना की है। ऐसा प्रतीत होता है कि आपसी ईर्ष्या के कारण जैनियों ने बौद्धों के भ्रष्ट आचारों को बढ़ा-चढ़ा कर जनसामान्य के सम्मुख प्रस्तुत किया है। जिससे जनसामान्य में उनकी कीर्ति धूमिल पड जाये।

[1] विनय पिटक महावग्ग,8,24, 45पृ0 320:

[2] वही, 8,25,46,पृ0 320:

तृतीय अध्याय

जैन साहित्य में प्रतिबिम्बित बौद्ध अनात्मवाद

जैन साहित्य में वर्णित बौद्ध अनात्मवाद का अर्थ आत्मा के अभाव से किया गया है। जबकि बुद्ध के अनात्म का अर्थ जगत् की समस्त वस्तुओं के प्रति अपनत्व से विरक्ति किया गया है। परन्तु अन्य धार्मिकों ने इसे आत्मा का अभाव मान, आत्मा की सिद्धि कर बौद्धों के अन- आत्मा को असिद्ध करने का प्रयास किया है। वस्तुत: आत्मा के प्रति बौद्धों का दृष्टिकोण अभावात्मक न होकर भावात्मक था। लेकिन बिना उसको जाने उसके सम्बन्ध में बताना वे अनुचित समझते थे। इसलिए आत्मा के प्रश्न पर बुद्ध मौन रहे। बुद्ध के इसी मौनता को अन्य धर्म वालों ने उन्हें आत्मा के अस्तित्व को न मानने वाला होने के कारण अनात्मवादी समझा। जो उचित नहीं प्रतीत होता है। अत: बौद्धों के अनात्म को समझने के पूर्व तत्कालीन प्रचलित आत्मा की व्याख्या व उसके स्वस्म का विवेचन आवश्यक प्रतीत होता है। अत: हमने महाबीरकालीन आत्मा सम्बन्धी शाश्वत एवं उच्छेदवादी दोनों विचारों को प्रस्तुत किया है। तदुपरान्त बौद्धों का आत्मा सम्बन्धी विचार एवं उनके अनात्मवाद को व्यक्त किया है। इसके पश्चात् जैन साहित्य में प्रतिबिम्बित बौद्धों के अनात्म सम्बन्धी विचार को प्रस्तुत किया है।

बुद्धकालीन आत्मा सम्बन्धी विचार:

इसकाल में एक तरफ आत्मा को नित्य असांसारिक, सर्वव्यापक, अजन्मा तथा शास्वत तत्व माना जाता था। जो चैतन्य रूप होने के कारण बाह्य से भिन्न है। तो दूसरी तरफ उसको इन्द्रिय, शरीर, मन एवं प्राण का पर्यायवाची माना जाता था। इन्हीं दोनों बातों को लेकर आत्मा सम्बन्धी आध्यात्मिक और भौतिक विचारधारा का प्राचीन काल में प्रादुर्भाव हुआ।

आत्मा का अध्यात्मिक रूप:

आत्मा स्थूल और सूक्ष्म इन्द्रियों से परे है। इसे वाणी द्वारा व्यक्त, मन से कल्पित, नेत्र से दृष्टि तथा कान से क्षुत नहीं कहा जा सकता है। परन्तु यह वाणी को अभिव्यक्ति, मन को कल्पना, नेत्र को दृष्टि, कान को श्रुत एवं प्राणों को श्वसित एवं

उच्छ्वसित करने की शक्ति प्रदान करता है[1]। उपनिषदों में शरीर को रथ एवं आत्मा को रथी कहा गया है। इसे शुद्ध, शान्त, शाश्वत और पूर्ण कहा गया है[2]।

परिमाण और स्थान:

आत्मा के परिमाण के संदर्भ में उपनिषदों में कहा गया है कि हृदयांतरगत आत्मा एक चावल, सरसों, जौ के समान सूक्ष्म है। यह विश्व की सत्ता पर शासन करती है[3]। कठोपनिषद में आत्मा को अँगूठे के बराबर तथा हृदयान्तरवासी कहा गया है[4]। छान्दोग्य उपनिषद में इसे प्रदेश मात्र कहा गया है[5]। तैतरेय उपनिषद में इसे हृदयान्तरवती मनोमय पुरुष कहा गया है[6]। कठोपनिषद में हृदयवासिनी आत्मा को सूक्ष्म से सूक्ष्म एवं महान से महान कहा गया है[7]। छान्दोपनिषदकार कहता है कि मेरी आत्मा चावल, जौ, सरसों के दाने से भी सूक्ष्म और पृथ्वी, आकाश, स्वर्ग, तथा सभी लोकों से बड़ी है[8]। अत: आत्मा नित्य विभु, सर्वगत, सूक्ष्म, और ज्ञानियों से ही गम्य है। इसीलिए ज्ञानी पुरुष इस महान और विभु आत्मा को जानकर शोकमुक्त हो जाते हैं[9]। श्वेताम्बर उपनिषद में कहा गया है कि आत्मा, स्त्री पुरुष और नपुंसक नहीं है। वह जिस शरीर को धारण करता है उसी में निवास करता है[10]। ईश0 उप0 में कहा गया है कि आत्मा चल है, अचल है, दूर भी है, निकट भी है, सभी वस्तुओं के भीतर भी है, बाहर भी है। अन्य स्थानों पर भी इसकी सूक्ष्मता का वर्णन है[11]। केन उपनिषद में आत्मा को अदृष्ट होते हुए भी शाश्वत द्रष्टा, अश्रव्य होते हुए शाश्वत श्रोत, अविचार्य होते हुए एक मात्र विचारक तथा अज्ञात होते हुए एक मात्र ज्ञाता कहा गया है। इससे भिन्न कोई

---

[1] केन उपनिषद,1/2-8:

[2] मैत्री उपनिषद, 11.3-4:

[3] वृहदारण्यक उपनिषद, 11.6.12:

[4] कठ0 उपनि0 11.2.12:

[5] छान्द0उप05.18.1:

[6] तै0 उप0 1.6.1-2:

[7] कठ0 उप0 1.2.20:

[8] छान्द0 उप0111.14.3:

[9] कठ0उप01.2.21:

[10] श्वे0 उप0 5.10:

[11] ईश0 उप0 4.5:

ज्ञाता, श्रोता नहीं है[1]। सूर्य, चन्द्रमा, एवं अग्नि से भी बढ़कर आत्मा ज्योति एवं प्रकाश का पुंज है।[2]

आत्मा का भौतिक रुपः

आत्मा के भौतिक स्वरुप की व्याख्या करके इसको शरीर के समान विकारी एवं परिणामी माना गया है। आत्मा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा गया है कि जड़े पदार्थों के विकास से चैतन्य उसी प्रकार उत्पन्न होता है जैसे पान, सुपारी और चूने तथा खैर के योग से पान की लाली निकलती है।[3] भौतिकवादी आत्मा के सम्बन्ध में चार सिद्धान्त प्रस्तुत करता है।

शरीरात्मवादः

इनके अनुसार शरीर ही आत्मा है। मैं मोटा हूँ, तरुण हूँ, वृद्ध हूँ अथवा युवा हूँइन विशेषणों के प्रयोग से सिद्ध है कि शरीर ही आत्मा है।[4] आत्मा के लोकेत्तर गामी होकर कर्मों का फल भोगना उसी प्रकार व्यर्थ है, जैसे अनन्त आकाश वृक्ष में फूल और फल की उत्पत्ति[5]। यदि शरीर से पृथक आत्मा है तो शरीर के नष्ट होने पर उसको प्रत्यक्ष होना चाहिए। यदि कहा जाय कि वह गुप्त रुप से शरीर में व्याप्त है तो यह निरर्थक है, क्योंकि शरीर के नष्ट होने पर उसके गुप्त रुप का अस्तित्व नहीं रहेगा।[6]

इन्द्रियात्मवादः

---

[1] केन0 उ0 1.3:

[2] वृह0 उप0 42.3-6:

[3] जड़भूतविकारेषु चैतन्य यत्तु दृष्यते। ताम्बलपूगचूर्णानां योगाद्राग
इबोतिपतम्।।सर्व0द0स0।माधवाचार्य।

[4] स्थूलोअहं तरुण्गो वृद्धो युवेत्यादि विशेषणे:
विशिष्टो देह एवात्मा न ततोअन्यो विलक्षण:
सर्व0द0सं0। माधवाचार्य।

[5] प्रबोधचन्द्रोदय (कृष्णमित्र)
आत्मास्ति देहाद व्यतिस्ल मूर्ति भोला स लोकान्तरितः फलामाम।
अशेयमाकाशतरोः प्रसूनात् प्रथीयसः स्वादु फल प्रसूतौ।

[6] वही,
हंहो पश्चत तत्वतो यदि पुनश्छिन्नादितो वर्ष्मणो।
इष्टः कि परिणाम रुपषित चितेर्जीवः पृथककेरपि।।

ये शरीर को आत्मा नहीं मानते हैं। इनका तर्क है कि मैं देखता हूँ, सुनता हूँ इत्यादि क्रियाओं में मरने के समय तक सहायता देने वाली इन्द्रियाँ ही आत्मा है।[1] क्योंकि मैं अंधा हूँ, काना हूँ, इसका अनुभव सबको होता है।

मनआत्मवादः

ये शरीर व इन्द्रिय को आत्मा न मान कर मन को ही आत्मा मानते हैं। ये कहते हैं कि इन्द्रियों के अभाव में मन का अस्तित्व बना रहता है इसलिए मन ही आत्मा है।[2]

प्राणात्मावादः

ये स्थूल शरीर एवं सूक्ष्म मन को आत्मा न मानकर परम सूक्ष्म प्राण को ही आत्मा मानते हैं।[3]

आत्मा के प्रश्न पर बुद्ध का मौनः

इनके युग में आध्यात्मिकता की बाढ़ थी। इसलिए जगत् के स्वरुप नित्य, अनित्य, शान्त अनन्त अथवा जीव को शरीर से भिन्न या अभिन्न माना जाय, इन प्रश्नों की विविध व्याख्या प्रचलित थी। इस समय दर्शन की यही कसौटी थी। परन्तु बुद्ध इन प्रश्नों का उत्तर न दे इन्हें अव्याकृत कहा करते थे। इसका यह अर्थ कदापि नहीं था कि वे आत्मा के सम्बन्ध में नहीं जानते थे। परन्तु इन्हें व्यर्थ समझ मौन रहते थे, इसीलिए मालुक्य पुत्र ने जब उनसे जीव व जगत् के सम्बन्ध में दस प्रश्न पूछा तो उन्होंने प्रश्नों का उत्तर न दे उन्हें अव्याकृत कहा।[4] इसी प्रकार अग्नि वच्छ गोत्तसुतन्त में प्रश्नों का उत्तर न

---

[1] बार्हस्पात्य सूत्र, 36
पश्यमि श्रृणोमीत्यादि प्रतीत्या मरणपर्यन्तं।
यावन्तीन्द्रियाणि तिष्ठन्नि तान्येवात्मा।।

[2] वार्ह0 सू0 37:
"इलरेन्द्रियाद्यभावेअसत्वात् मन एवात्मा।।

[3] वार्ह0 सू038:
"प्राण एव आत्मा"तथा
तै0उ0: 2.2.1:
"अन्योत्तर आत्मा प्राणमय:"

[4] मज्झिम0 2.2.3:

दे बुद्ध मौन रहे।[1] इसीलिए जब पोट्ठपाद परिब्राजक ने प्रश्न किया कि अव्यक्त क्या है ? तो बुद्ध ने अपने अव्याकृत का आशय व्यक्त करते हुए कहा है कि मेरे अव्याकृत का अर्थ है कि उक्त प्रश्न न अर्थयुक्त है, न धर्मयुक्त है, न आदि ब्रह्मचर्य के लिए, न निर्वेक्ष के लिए, न विराग के लिए, न निरोध दुख निरेध। के लिए, न उपसम के लिए, न अभिज्ञा (संकल्प) के लिए, न सम्बोधि (परमार्थ ज्ञान) के लिए और न निर्वाण के लिए है।[2] इसलिए मैंने उक्त प्रश्न को अव्याकृत कहा है।

बौद्ध ग्रंथों के अध्ययन से आभास होता है कि यदि आत्मा और जगत् सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर बौद्ध सत्तात्मक दें तो शाश्वत वादी हो जायेंगे। तथा उसका नकारात्मक उत्तर दें तो उन्हें उच्छेदवाद का समर्थक मानना पड़ेगा।[3] जबकि बुद्ध दोनों मतों को नहीं मानते थे।[4] इसलिए मौन रहते थे। मालुक्य के प्रश्नों के समान मिलिन्द ने भी प्रश्न किया था।

बुद्ध के मौन को समझाते हुए कहा गया है कि प्रश्नों को हम उत्तर देने के ढंग के आधार पर चार श्रेणियों में बाँट सकते हैं। जो एकांश व्याकरणीय, विभज्य व्याकरणीय, प्रतिपृच्छा व्याकरणी तथा स्थापनीय नाम से जाने जाते हैं।[5] इनमें प्रथम प्रकार के प्रश्न का उत्तर सीधे दिया जा सकता है। जैसे क्या जो प्राणी जन्मा है, मरेगा ? उत्तर हाँ में दिया जाता है। दूसरे का उत्तर विभक्त करके दिया ज सकता है। यथा क्या मृत्यु के बाद सभी प्राणी जन्म लेते हैं। तो उत्तर होगा कलेषमुक्त प्राणी जन्म नहीं लेगा और कलेषयुक्त प्राणी जन्म लेगा। तीसरे प्रकार के प्रश्न का उत्तर प्रश्न पूछ कर दिया जाता है

---

1 मज्झिम02.2.32:

2 दीघ0 पासादिक सु0, 9.3.16, (ना0) पृ0 157:

3 मा0 का0 15.10:
"अस्तीति शाश्वतंग्रहो नास्तीत्युच्छेददर्शनम्।
तस्मादस्तित्वनास्तित्वे नाश्रीयेत विचक्षण:।।"

4 अद्वय बज्र संग्रह, पृ062:
"शाश्वतोच्छेद्विर्मुक्तं तत्वं सौगतसम्मतम्।।"

5 अभि0 कोश, 5/22:
"एकांशेन विभागेन पृच्छात: स्थापनीयत:।
व्याकृतं मरणोत्पत्ती विशिष्टात्मान्यता दिवत्।."तथा
लंका0 सू02/173:

यथा क्या मनुष्य उत्तम है या अधर्म ? तो इस पर प्रश्न पूछना पड़ेगा कि किसके सम्बन्ध में ? अत: इसमें किसी की अपेक्षा से मनुष्य को उत्तम या मध्यम कहा जायेगा। चौथे प्रश्न का उत्तर मौन द्धारा ही दिया जा सकता है यथा क्या पंच स्कन्ध तथा जीवित प्राणी एक ही हैं ? इस प्रश्न को छोड़ने में ही इसका उत्तर दिया जा सकता है। क्योंकि बुद्ध धर्म के अनुसार कोई सत्य नहीं है। इसलिए बुद्ध मालुक्य पुत्र का उत्तर न दे मौन रहे। बुद्ध के मौन का यही अर्थ पंडित बलदेव उपाध्याय को भी मान्य है।[1] लेकिन विधुशेखर भट्टाचार्य ने बुद्ध के मौन का एक अलग ही आधार बताया। इनके अनुसार मनुष्यों के अधिकार की विभिन्नता ही बुद्ध के मौन के कारण स्वरुप रही है।[2] परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज जगत् और जीव के प्रश्नों को लेकर परेशान था, जो उनको प्रगति के मार्ग में अवरुद्ध कर रहा था। इसीलिए बुद्ध ने दुख से व्याकुल मानव के उद्धार को ध्यान में रखकर जगत और आत्मा संबंधी प्रश्नों को अव्याकृत कहा तथा दुख हेतु को, दुखनिरोध को तथा दुखनिरोधगामी मार्ग को व्याकृत कहा है।[3]

बुद्ध के अनात्मवाद का मूल उपदेश:

अनात्म का उपदेश देते हुए बुद्ध ने रुप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान को आनात्मा है।[4] क्योंकि ये अनित्य होने से दु:ख रुप हैं। इसलिए इनको आत्मा नहीं कहा जा सकता है।[5] अत: जब रुप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान आत्मा नहीं है, तो इनसे निर्वेद प्राप्त करना चाहिए।[6] निर्वेद से आत्मा के प्रति विरक्ति का भाव उत्पन्न होगा, जिसके फलस्वरुप विनिर्मुक्ति का दर्शन होगा। इस प्रकार से विनिर्मुक्ति का दर्शन कर

---

[1] उपाध्याय बलदेव, बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ048-49:

[2] भट्टाचार्य, विधुशेखर, "दी सेन्ट्रल कन्सेप्शन ऑफ बुद्धिज्म,पृ0 16, पाद टिप्पणी 17 में उद्धृत:

[3] दीघ09.3.16:

[4] महावग्ग,1.8.20:
"रुपंभिक्खेद अनत्ता। रुपंचहिदं, भिक्खवे, अत्ता अभविस्य नदियं रुपं
आबाधाय संवत्तेयंय, लब्मेथ च रुपं- एवं में रुपं होतु, एवं में रुपं मा आहोसी इति। यस्या च खो, भिक्खवे, रुपं अनत्ता, तस्मारुपं आबा- धाय संवत्तति, न च लाब्भतिरुपे-एवं में रुपं होतु एवं मे रुपं मा आहोसी ति।
बेदना ------- संस्कार------- विज्ञान -----।

[5] वही,1.8.21.22:

[6] वही,1.8.23:

व्यक्ति को कृतकृत्यता सम्पादित करनी चाहिए। इसी प्रकार का वक्तव्य मज्झिम निकाय के सच्चक सुत्तन्त[1], राहुलोवाद, सुत्तन्त[2], पुण्णोवाद सुत्तन्त[3] में भी बुद्ध ने किया है। इतना ही नहीं परिलय्यक बन में अपने शिष्यों को बुद्ध ने ऐसा ही उपदेश दिया है।[4] इन्द्रियों की अनियता बताकर उनके प्रति अनाशक्ति रखने का बुद्ध ने उपदेश दिया है।[5] मज्झिम निकाय के महापुण्णम-सुत्तन्त में भी अनात्यवाद का उपदेश है।[6] अलगद्दूपम-सुत्तन्त में उपदेशित किया गया है कि जो अपना नहीं है उसको छोड़ देना चाहिए।[7] पृथ्वी, जल, तेज, वायु, श्रुत, स्मृत, विज्ञान आदि को न मैं, न मेरा, समझना चाहिए।[8] चुल्लवेदल्ल सुत्त में कहा गया है कि जो कार्य दर्शन से वंचित है, वही रुप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान को आत्मा की तरह देखते है।[9]

बुद्ध के अनात्म उपदेश का प्रयोजन:

सारिपुत्र ने बुद्ध के अनात्मवाद के उपदेश को सनातन(नित्यकल्प) शासन कहा है।[10] जिसका उपदेश बुद्ध ने मरणासन्न अनाथपिंडक को रागमुक्तार्थ एवं शान्त्वनाथ दिया था।[11] इसके अतिरिक्त बुद्ध ने छन्न को आत्म हत्या से रोकने के लिए अनात्मवाद का उपदेश दिया।[12] यही उपदेश नन्दक भिक्षु ने भिक्षुणियों को दिया और कहा जो नित्य हे वह दुख है और जो दुख है वह अपना नहीं हो सकता है।[13] बुद्ध ने अनात्म का उपदेश व्यक्ति के अन्दर व्यक्ति "अद्रव" भावना को नष्ट करने के लिए दिया।

---

[1] मज्झिम0 1/4/5:

[2] वही,3.5.5:

[3] वही 3.5.3:

[4] संयुक्तनिकाय,29.8.8:

[5] मज्झिमनिकाय ,1.4.8,3.10.10,1.4.9:

[6] वही,3.1.9:

[7] वही,1.3.2:

[8] वही, 1.1.1:

[9] वही, 1.5.4:

[10] वही, 3.5.2:

[11] वही,3.5.1:

[12] वही,3.5.2:

[13] वही,3.5.4:

इसी को मज्झिम निकाय में आर्य तथा आवागमन से छुटकारा देने वाला कहा गया है। यही उपदेश मार से मुक्त तथा रागविसंयुक्त करता है।[1] इसी में कहा गया है कि अनात्मसंज्ञी ही अभिमान से विमुक्त हो निर्वाण को प्राप्त करता है।[2]

सम्पूर्ण विशव को अनित्य, दुख, अनात्म रुप चिन्तन करने से ज्ञान, प्रीति एवं चित्त की शान्ति होती है। जिससे सुख, सुकल्प एवं उच्चतर विकास संभव है।[3] इसके चिंतन से व्यक्ति निवृत्ति एवं प्रवृत्ति का यथाभूत ज्ञान प्राप्त करता है, जो सम्यक् दर्शन कहलाता है। इतना ही नहीं अनात्म के कारण ,सभी धर्मों का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है।[4]

संसार की सभी वस्तुओं को अनित्य देखने से मान (अहं) नष्ट हो जाता है। सभी वस्तुओं को दुख रुप देखने से उसकी इच्छा नष्ट हो जाती है। तथा वस्तुओं को अनात्म रुप देखने से उसकी दृष्टि सम्बन्धी आसक्ति दूर हो जाती है।[5] इससे व्यक्ति के वैराग्य का उद्देश्य पूरा हो जाता है।[6] तब वह तृष्णा से विरक्ति, राग में अनासक्ति तथा दुख समुदाय से निरोध का मार्ग ढूँढकर, ग्रहण की गई आसक्ति को छोड़ देता है।[7] इस प्रकार अनात्म के चिन्तन से प्रतिसंख्या ज्ञान की उत्पत्ति होती है।[8] यहाँ प्रतिसंख्या ज्ञान का तात्पर्य प्रजा से उत्पन्न ज्ञान से है।

बुद्ध तृष्णा को ही दुख का कारण मानते हैं। उसको निरोध को वर्णन संयुक्त निकाय में किया गया है।[9] वास्तव में इस विचित्र संसार के दुख का कारण तृष्णा या काम है। काम वह समुद्र है जिसके भीतर जगत् के समस्त पदार्थ समा जाते हैं।[10]अथर्वेद

---

[1] मज्झिम0,1.2.3:

[2] उदान0, 4.1:

[3] पटिसम्भिदामग्ग,2.100-101 , विसुद्धिमग्ग,20.106:

[4] वही,2.62-63:

[5] वही, 20.87:

[6] वही, 21.34: ,पटिसम्भिदामग्ग,2.62:

[7] पटिसम्भिदामग्ग,1.977:

[8] वही, 2.63-64:

[9] संयुक्त0 , 34.4.6:

[10] तैत्तिरेय0ब्रा0 2.2.5.6:

के काम सूक्त में इसके प्रभाव का विशद वर्णन है।[1] इसके रहस्य को देवताओं, पितरों एवं मत्स्यों में से कोई नहीं जानता।[2] इसमें कहा गया है कि काम अग्नि रुप है जो प्राणियों के हृदय को जलाता है।[3] बुद्ध धर्म में इसी को "मार" नाम से जाना जाता है। धम्मपद में कहा गया है कि तथागत के उपदेश के मार्ग पर चलने वाले तथा उसका ध्यान करने वाले मार के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।[4] अत: बुद्ध के अनात्म उपदेश का मूल उद्देश्य व्यक्तियों को सांसारिक दुख निरोध का मार्ग दिखाना था।

बुद्ध के अनत्त का अर्थ:

यह सर्वमान्य तथ्य है कि बुद्ध आत्मवादी थे। इन्होंने आत्मवाद का निराकरण कर अनात्मवाद की प्रतिस्थापना की। यद्पि उनका अनात्मवाद एक विशेष अर्थ रखता है उसे सम्यक प्रकार न समझ कर विद्वान विविध रुप से उसकी व्याख्या करते हैं।

वास्तव में इस काल में आत्मा के सम्बन्ध में शाश्वतवादी एवं उच्छेदवादी अपने-अपने मतों का संलाप कर रहे थे। बुद्ध ने इनके मत जो नदी के दो तटों की भाँति के बीच अपने सिद्धान्त रुपी जल को प्रवाहित किया। इनका सिद्धान्त शाश्वतवाद एवं उच्छेदवाद दोनों को छूता अवश्य है परन्तु इसी प्रकार उससे भिन्न है जैसे नदी का जल किनारों को छूते हुए उनसे भिन्न होता है।

बुद्ध के अनन्त अथवा अत्त सम्बन्धी उपदेश दीघनिकाय[5], मज्झिम निकाय[6], महाबाग[7], धम्मपद[8], संयुक्त निकाय[9] आदि में संग्रहीत हैं। जिनकी परवर्ती बौद्ध आचार्यों ने अपने सूझ-बूझ के अनुसार व्याख्या की है।

---

[1] नमइत्कृणोमि 9.1.2.19:

[2] अथर्वेद, काम सूत्र,9.1.1.:

[3] वही,3.2.1.4:

[4] धम्मपद,20.4:

[5] दीघ0 भाग1, पृ0 89,310, 9.3.16आदि।

[6] मज्झिम0 3.230,3.5.6,1.12आदि।

[7] महावग्ग, पृ0 25:

[8] धम्मपद, 100, 101, 104, 146, 160, 380,:

[9] संयुक्त भाग 4,पृ0 400,(पंचम लक्सण सुत्त)

बुद्ध ने शोक विह्वल विशाख को उपदेश दिया था कि इस संसार में जितने दुख हैं वे प्रिय वस्तु के लिए होते हैं। प्रिय के अभाव में दु:ख का अभाव अवश्य होता है।[1] इसी से मिलता-जुलता संदर्भ उपनिषदों में भी उपलब्ध है जिसका कथन है कि "आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रिय भवति" अर्थात् आत्मा के काम के लिए सब प्रिय है। इससे प्रतीत होता है कि इस काल में आत्मा को सबसे प्रिय माना गया था। जिसके लिए प्राणी आज भी अनेक सुखों की कामना करता है। संभवत: बुद्ध ने इस उपनिषद वाक्य को ग्रहण कर आत्मा के अस्तित्व पर विचार करने को दु:ख का कारण माना। इसलिए उसके अस्तित्व नास्तिक पर विचार न करके ही दुख से मुक्त हुआ जा सकता है।

बुद्ध के इसी उपदेश को कालान्तर में बौद्ध आचार्यों ने अपने ग्रंथों में उद्धृत करते हुए कहा है कि जो आत्मा को देखता है, अर्थात् अपनत्व में विश्वास करने पर उसका अहं के लिए स्नेह रहता है इससे सुखों की अभिलाषा बनती है। जिसके परिणामस्वरूप उससे उत्पन्न दोषों पर पर्दा पड़ सकता है। इस स्थिति में पुरुष "विषय मेरे है" इस विचार से उन्हें ग्रहण करता है। अत: कहा जा सकता है कि आत्मभाव के अस्तित्व पर ही संसार व्यावहारिक अस्तित्व अवलम्बित है। आत्मा भाव के ही कारण स्व, पर भाव से रागद्वेष की उत्पत्ति होती है। इसलिए समस्त दोषों का मूल कारण आत्मभाव है। इसके निराकरण से ही मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है।[2] अत: मन में जब तक अंहकार भाव विद्यमान रहते हैं जन्म-जन्मान्तर की गति शान्ति नहीं हो सकती है।

---

[1] उदान,8.8:
"ये केचि सोका परिदेवितं वा दुक्खा च लोकस्मिं अनेक रूपा।
पिअं पटिच्चेव भवन्ति एते पिये असन्ते न भवेति एते।।"

[2] वोधिचयांवतार पंजिका, पृ0 412:
"य: पश्यत्यात्मान तस्याहनिति शाश्वत: स्नेह:
स्नेहात् गुणेषु तृष्णाति तृष्णा दोषोंस्तिरस्कुरुते।।
गुणदर्शी परितृष्यंन् ममेति तत्साधनमुपादत्ते।
तेनात्माभिनिवेशो यावत् तावन्तु संसार।।
आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागार परिग्रहद्वषौ।
अनयों: सप्रतिवन्धात् सर्वे दोषा प्रजायन्ते।।

इसीलिए आत्मभाव में विश्वास करने पर हृदय में अहंभाव का विकास होता है।[1] अत: बौद्ध योगी आत्मदृष्टि को ही समस्त दोषों का कारण मानकर उसके निषेध का प्रयास करते हैं।[2] इसीलिए यशोमित्र ने अभिधम्मकोष की स्पुटार्थ व्याख्या में कहा है कि बुद्ध ने लोक व्यवहार के लिए आत्मा को रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान का समुदाय माना तथा उसे "संतान" शब्द द्वारा इंगित किया।[3] परन्तु उन्होंने परमार्थिक रूप से इसके सिद्धान्त का निराकरण किया। लेकिन उनके बाद वात्सीय पुत्रियों ने पंचस्कंधों के संघात के अतिरिक्त एक नित्यपरमार्थ रुप में पुद्गल की सत्ता मानी है।[4]

अव्याकृत एवं मध्यमप्रतिपदा के आधार पर भगवान बुद्ध ने आत्मा के अस्तित्व से न तो इन्कार ही किया, न स्वीकार ही किया।[5] व्यवहारिक दृष्टि से वे आत्मा की स्वीकृति देते हैं परन्तु परमार्थिक दृष्टि से उसका निराकरण करते हैं। इस कथन की पुष्टि पोट्ठपाद सूत्तके वर्णन से होती है।[6] जिसमें बुद्ध ने आत्मा को पंचस्कंधों का संघात रूप माना है।[7] इसी प्रकार का वर्णन पंचस्कन्धों के समवायात्मक रुप को सम्मुतिसच्च दृष्टि से अस्तिम्वमय तथा परमत्थतच्च दृष्टि से अनस्तित्वमय मान कर संयुक्त निकाय में हुआ है।[8] मिलिन्दपँह में नागसेन ने स्कन्ध की तुलना रथ के अंगों से की है[9] तथा उसके

---

[1] तत्व संग्रह पंजिका, पृ0 905:
"साहंकारे मनसि न शमं याति जन्म प्रबन्धो।
नाहंकारश्चलति हृदयात् आत्म दृष्टौ च सत्याम्।।"

[2] माध्यमकावतार 6/123,वृत्ति पृ0 340:
"सत्कायदृष्टि प्रभवानँशेषान् क्लेशांश्च दोषांश्च धिया विपश्यन।
आत्मानमस्या विषयं च बुद्धवा योगी करोत्यात्म निषेदमेव।।

[3] अभिधमकोश की व्याख्या, माध्यमकावतार, वृ0 पृ0340, मू0 6/123:
"प्रवचन धर्मता पुनश्च नैरात्म्यं बुद्धानुशासने वा।"

[4] श्चेरवात्स्की द सोल हिस्ट्री ऑफ दी बुद्धिज्म, पृ0 824:

[5] संयुक्त निकाय (पा0टे0सी0) भाग 4, पृ0400:

[6] दीघनिकाय, पाट्ठपाद सुत्त:

[7] विनय पिटक, महावग्ग, अनंन्तलक्खण सुत्त,

[8] संयुक्त निकाय, पंजम लक्खणसुत्त:

[9] मिलिन्दपंह,:
यथा हि अंग संभारा होति सद्दो रथो इति।
एवं संधेषु सन्ते सु होति सत्तोति सम्रमुति।।"

संगात को रथ माना है। उसी प्रकार आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व न मानकर उसे स्कन्धों का संघात रूप माना जा सकता है तथा इन विविध भागों के समष्टि को रथ कहने के समान स्कन्धों के समष्टि को आत्मा कहा जाता है। नागार्जुन के अनुसार तथागत ने आत्मवाद, अनात्मवाद दोनों का उद्देश्य दिया, परन्तु उनका वास्तविक अभिप्राय: यह नहीं था कि अनात्मवाद असात्विक है। इनके अनुसार आत्मवाद, अनात्मवाद दोनों ही कोटियों के परे अनिर्वचनीय रूप से परे आत्मा की सत्यता प्रतिष्ठित है।[1] इस प्रकार बुद्ध के अनात्म संबंधी विवेचन को कुछ विद्वानों ने उसे आत्मा का खंडन मान लिया है।[2] तो कुछ ने इसे अनात्म भूत तत्वों में आत्मा के न देखने का उद्देश्य माना है।[3] परन्तु नि:संदेह इन विद्वानों ने बुद्ध के अनात्मवाद का अर्थ न समझ उनकी व्याख्या प्रस्तुत कर दी है। वास्तव में बुद्ध के अनत्ता संबंधी विवेचन से कहीं स्पष्ट नहीं होता है कि उन्होंने इस उपदेश का अर्थ आत्मा के अस्तित्व नास्तित्व से समझा परन्तु यह बात अवश्य है कि जब बौद्धों को आत्मा के संदर्भ में अनात्म की बात जोड़ उसकी व्याख्या प्रस्तुत करने के लिए बाध्य होना पड़ा तो उस स्थिति में भी वे बड़े साफ ढंग से पंचस्कन्धों के समुच्चय अथवा रथ का उदाहरण प्रस्तुत किया। इनकी व्याख्या से आत्मा का स्वरुप अन्य भारतीय दार्शनिक व्याख्याओं जैसा नहीं है। इन्होंने हमेश आत्मा से तटस्थ रहने की बात की है। जबकि उनके अत्ता संबंधी विवेचन में गोविन्द चन्द पाण्डेय ने उपनिषदिक आत्मा से समता स्थापित करने का प्रयास किया है।[4]

जैनाचार्यों का कथन है कि आत्मा को न मानने वाले बुद्ध पुनर्जन्म में विश्वास करते हुए कहते हैं कि तृष्णायुक्त मानव अविद्याग्रस्त हो बार-बार जन्म-मरण के बन्धन में बँध जाता है। इनके अनुसार बौद्धों का कथन है कि इस बंधन से मुक्त होने का एक ही रास्ता है कि व्यक्ति अहंका त्याग कर दे। जैनाचार्यों ने यहाँ अहंभाव का अर्थ आत्मभाव से किया है। बौद्धों का कथन है कि जब तक वह अहंभाव से ग्रसित रहेगा,

---

1 श्चेरवात्स्की, सेन्ट्रल कन्सेप्शन ऑव बुद्धिज्म, पृ0 73 आदि।

2 श्रीमती, राइज डेविड्स, शाक्य ह्वाट वाज दी ओजिजनल गॉस्पेल आदि ,उद्धृत पाण्डेय गोविन्द चन्द्र बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ0 101:

3 माध्यमिक कारिका, 18/6:

4 पाण्डेय गोविन्द चन्द्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ0 102:

उसका निर्वाण नहीं हो सकता है। आत्मभाव बंधन का कारण है। इससे अविद्या जन्य मोह आदि उत्पन्न होती है। इसके त्याग से विद्या की उत्पत्ति होती है। जो व्यक्ति को निर्वाण प्राप्ति कराती है . अत: जैनाचार्यों ने कहा है कि बौद्ध अविद्या से बंधन एवं विद्या से मोक्ष मानते हैं। इनके अनुसार अनित्य, अनात्म, असुचि और दुख रुप सभी पदार्थों को नित्य, सात्मक, सुचि और सुख रुप मानना अविद्या है। इन्हीं से राग-द्वेष आदि संस्कार की उत्पत्ति होती है। इसी संस्कार से शुभ अशुभ तथा अनुभव रुप से वस्तुओं के प्रति ज्ञान होता है। इसलिए संस्कार ज्ञान में कारण (प्रत्यय) माना जाता है। इसे ही विज्ञान कहा जाता है। इससे नाम, रुपी एवं अरुपी स्कंधों की उत्पत्ति होती है। बौद्धों ने जल, पृथ्वी, वायु एवं अग्नि को रुपी स्कंध तथा वेदना संज्ञा संस्कार को अरुपी स्कध के रुप में स्वीकार किया है। ये इन्हीं रुपी-अरुपी स्कंधों कोनाम शब्द से भी अनिबोधित करते हैं। इनका कथन है कि ये ही नाम रुप पंचइन्द्रियों एवं मन की उत्पत्ति करता है। इसीलिए षडायतन को नाम रुप प्रत्यय कहा जाता है। विषयेन्द्रिय एवं विज्ञान के सन्निपात को स्पर्श करते हैं। अर्थात् इनके मत से छ: आयतनों का विषया विमुख होकर प्रथम ज्ञान तन्तुओं को जागृत करना स्पर्श है। इसी से वेदना की अनुभूति होती है। इसी वेदना के फलस्वरुप उनमें होने वाली आशक्ति से तृष्णा उद्भूत होती है। अर्थात् अनुभवों से रस लेना उनका अभिनंदन करना तथा उनमें लीन रहना ही तृष्णा है। इसकी वृद्धि से उपादान होता है। अर्थात् अपनत्व (आत्मत्व) की भावना जागृत होती है। यथा यह मेरी प्रिय वस्तु सदा मेरे साथ रहे। इसी प्रकार अप्रिय वस्तु से द्वेष कर उससे दूर रहने की आकांक्षा से तृष्णातुर व्यक्ति उपादान करता है। इसी कारण पुनर्भव अर्थात् परलोकगामी कर्म करता है। मनसा-वाचा-कर्मथा सभी शारीरिक कर्म भव कहलाते हैं। इससे परलोक में शरीर की उत्पत्ति होती है। इसी को जाति कहते हैं। तथा शरीर स्कन्ध का पक जाना ही जरा और उसका विनाश मरण है। इसीलिए जरा व मरण को जाति प्रत्यय कहा गया है। इस प्रकार यह द्वादशांक चक्र परस्पर हेतु है। इसको ही प्रतीत्य समुत्पाद कहते हैं। इस प्रकार यह भवचक्र हमेशा चलता रहता है। इस भवचक्र के चलते रहने को आत्मभाव अथवा अविद्या कहा जाता है। जब सब पदार्थों में अनित्य निरात्मक, असुचि और दुख रुप तत्व ज्ञान उत्पन्न होता है तब अविद्या नष्ट हो जाती है। अर्थात् अनात्मभाव उत्पन्न हो जाता है। इसके उद्भूत होने से अविद्या का

नाश हो जाता है, इससे संस्कार आदि नष्ट हो जाते हैं। तब मोक्ष या निर्माण की प्राप्ति होती है।[1] बौद्धों के इस मत पर जैनाचार्य कहते हैं कि अविद्या से बंध व विद्या से मोक्ष तो हम भी मानते हैं, इससे इनके व हमारे मत में समानता है, इसलिए इनको भी हमारे समान आत्मा को मानना चाहिए। क्योंकि सामायिक मात्र से अनन्त जीव सिद्ध हुए हैं। इस आर्य वचन से ज्ञान रूप सामायिकी से सिद्ध प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त जब सभी दर्शनों में निर्विवाद रूप से अज्ञान से बन्ध तथा ज्ञान से मोक्ष स्वीकार किया गया तब बौद्धों को सम्यक दशानादि को मोक्ष का मार्ग बताना अनुचित है।[2]

सिद्धसेन दिवाकर ने कहा है कि बौद्धों ने अहंभाव को अविद्या का कारण बताया है। परन्तु उनका यह कथन विचारणीय नहीं है, क्योंकि इनके अनुसार अविद्या की तरफ अग्रसरित करने वाली है। इसीलिए अहं की भावना की पुष्टि होती है। जबकि आत्मवादी बौद्ध हैं।[3] अत: इनके द्वारा प्रस्तुत मत ही न्हें आत्मवादी बना देता है। ऐसा जैनाचार्य का मत है। सिद्ध सेन का यह कथन जिसमें बौद्धों को आत्मा को सेना, वन आदि की भांति माना गया है। क्योंकि ये स्कन्धों के समुच्चय को आत्मा मानते हैं।[4] अत: जैनाचार्य ने सिपाही व पेड़ों से स्कन्धों की उपमा दी है। तथा सेना व वन को आत्मा से समीकृत किया है। इनका यह वर्णन मिलिन्द्रपँह के संवाद की याद दिलाता है। जिसमें राजा मिलिन्द नागसेन से प्रश्न करता है कि --- नाग सेन कौन है ? क्या उसके शारीरिक अवयव नागसेन हैं ? इस पर नागसेन राजा से प्रश्न करते हुए उनका उत्तर देता है कि राजन् आप यहाँ (राजसभा) तक कैसे आये ? राजा उत्तर देता है कि रथ से, तो नागसेन फिर प्रश्न करता है कि क्या रथ, नेमि, चक्र, धूरि आदि रथ है तो राजा इन सब की समष्टि को रथ कहता है। इस पर नागसेन कहता है कि जैसे रथ के अवयव की समष्टि के अतिरिक्त रथ कुछ नहीं है, वैसे ही शारीरिक अवयवों के संघात ही नागसेन कहते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि आत्मा नामक किसी तत्व का अलग से की

---

[1] तत्वार्थवार्तिकम्, पृ0271-272:
तु0 शिक्षा समुच्चय, पृ0 219, 222, 223: तथा बोधिचयांवतार पंजिका, पृ0 368:
एवं माध्यमकि कारिका, पृ0 564: और माध्यान्त विभंग सूत्र टीका, पृ0 42।

[2] तत्वार्थ वार्तिकम, (हिन्दी) महेन्द्र कुमार जैन, पृ0 72-73:

[3] एकविंशतिद्यत्रिंशिका, 15/1

[4] वही, 15/4:

अस्तित्व नहीं है। अत: जगत् के अवयवों को अपना मानना ही आत्मवाद है। तथा उसका निराकरण करना अनात्मवाद है। इसी का वर्णन करते हुए सिद्धसेन पुदगल स्कंध की शून्यता को ही बौद्धता का धर्म समझते हैं।[1] इससे स्पष्ट होता है की सिद्धसेन ने बौद्ध अनात्मवाद को ठीक से ग्रहण नहीं किया, क्योंकि यहाँ पुद्गल से तात्पर्य आत्मा से है। जो पुदगल, जीव, आत्मा, सत्ता का पर्यायवाची है।[2] स्कन्ध से तात्पर्य पंच स्कन्धों से है। यहाँ सिद्धसेन पर नागार्जुन का प्रभाव परिलक्षित होता है। इसे अनात्मवाद के विकास का द्वितीय भाग माना जा सकता है। इस द्वितीय भाग के विकास स्वरूप बाह्यार्थ सत्ता तथा अन्तरंगार्थ सत्ता का निराकरण कर दिया गया है। बुद्ध के इस सिद्धान्त का इस काल में होने के फलस्वरूप विज्ञानवाद का जन्म हुआ। अब सत्ता को विज्ञानमय मानकर उसकी व्याख्या प्रस्तुत की जाने लगी। यह अनात्मवाद के विकास का तृतीय पक्ष था। इसका वर्णन भी सिद्धसेन ने अपने ग्रंथ में सेना, वन आदि के एकत्वाभाष की भाँति आत्मा को निरुपित करके किया है।[3] इसको स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि जिस प्रकार अनेक सिपाहियों से युक्त सेना तथा अनेक पेड़ों से पूरित वन को अलग-अलग सिपाहियों अथवा अलग-अलग पेड़ों के नाम से न जानकर उसे क्रमश: सेना तथा वन नाम से इंगित किया जाता है। उसी प्रकार स्कंध संस्कार आदि के संघात को अलग लग नामों से उल्लिखित न कर उसे आत्मा, जीव अथवा पुद्गल आदि की संज्ञा से प्रदर्शित किया जाता है। अत: आत्मा की सत्ता को उसी प्रकार अस्तित्वहीन समझना चाहिए जिस प्रकार सिपाहियों, वृक्षों के अनअस्तित्व पर सेना, वन आदि शब्द भी अस्तित्वहीन हो जाते हैं। अत: स्कन्धाधि संस्कार की सत्ता पर ही आत्मा की सत्ता निर्भर है।[4] चूँकि स्कन्धाधि को भी नागार्जुन ने अपने तर्क से खडिंत कर व्यावहारिक जगत को विज्ञान को प्रतिभाष रूप माना है अत: विज्ञान, चित्त, चैत्तादि जो समानार्थक संज्ञाएँ हैं उनके अतिरिक्त पुद्गल व स्कधादि किसी कि सत्ता नहीं मानी जा सकती है। लेकिन जैनाचार्यों ने नागार्जुन के जगत् आदि के निराकरण का

---

[1] वही, 15/2:

[2] उपाध्याय, बलदेव, बौद्धदर्शन मीमांसा , पृ0 83:

[3] एकविंशति द्वात्रिंशिका, 15/4-9:

[4] वही, 15/7-9:

अर्थ वाह्यजगत् को चित्त के अंतर्गत् सन्निहित कर किया है। जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, अथवा स्वप्न में स्थूल जगत् की कल्पना की जाती है[1], उसी प्रकार बाह्यजगत् की कल्पना बौद्ध करते हैं। जिसके फलस्वरूप आलय विज्ञान, एवं संतान के सिद्धान्त का विकास हुआ। जो आत्मा के अनास्तित्व को प्रमाणित कर दिया। जिसके परिणामस्वरूप क्षणवाद का उदय हुआ। क्षणवाद ने आत्मा के अस्तित्व को दीपक की लौ की निरन्तरता तथा जल प्रवाह तथा सरिता के जल प्रवाह की निरंतरता की भाँति जगत् को माना। जो आत्मा के अलग जगत् के अस्तित्व की आवश्यकता नहीं समझा, इसको जैनों ने अनात्म के विकास का चतुर्थ चरण कहा। इनके अनुसार इससे आत्मा के अभाव की पुष्टि नहीं होती है। यहाँ हम देखते हैं कि जैनाचार्य ने अनात्म का अर्थ आत्मा (जीव) के अभाव से किया है। परन्तु बौद्ध ग्रंथों के अनुशीलन से कहीं भी यह स्पष्ट नहीं होता है कि बौद्ध आत्मा (जीव) के अस्तित्व से इन्कार किया है। इसलिए जैनाचार्य के अनात्मवाद पर किए गए आक्षेप निराधार प्रतीत होते हैं। इन्होंने बौद्ध ग्रंथों अध्ययन एवं मनन नहीं किया अथवा उनका अलग अर्थ लिया। इसलिए अनात्म का व्यवहारिक अर्थ ग्रहण कर उसे आत्मा के अभाव समझने की भूल की है। इसी के आधार पर जैनाचार्यों ने अनेक भाँति से इसकी आलोचना प्रस्तुत की है।

बौद्धों के सिद्धान्त में अविसंवाद को ही प्रमाण माना गया है। इसको जैनाचार्य ने विज्ञान की कसौटी पर कस कर उसे एकांगी कहा है।[2] परन्तु जब हम जैनों के प्रमाण स्वपराभाषि बाधा, विवर्जित, ज्ञान की तुलना करते हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध अपने विसंवादी ज्ञान की ही सत्ता स्वीकार करते हैं। परन्तु जैन पर (दूसरे) के ज्ञान को स्थान देते हैं अत: अपने मत की पुष्टि करते हुए बौद्धों ने जब आत्मा को विसंवादी प्रमाण पर तौलते हुए तो वह सत्य नहीं प्रतीत होता है क्योंकि उनका कथन है कि अलग से किसी सत्ता का न तो प्रत्यक्ष ही होता है, न अनुभव ही होता है, इसलिए आत्मा का अस्तित्व नहीं माना जा सकता है। परन्तु जैनियों के अनुसार यह ठीक नहीं है। क्योंकि आत्मा का बाह्य अस्तित्व है। जैन ग्रंथ में जीव के संदर्भ को उद्धृत करते हुए कहा गया है

---

[1] एकविंशति द्वात्रिंशिका, 15/19-31 तक:

[2] न्यायावतार, सटीक (हिन्दी) , कारिका एक पर टीका:

कि यदि कोई (बौद्ध) कहे कि जीव कोई वस्तु नहीं है, तो उसका यह कहना उक्ति संगत नहीं है। क्योंकि जीव के ग्राहक (अस्तित्व सूचक) प्रमाणक का सद्भाव है। इसके प्रमाण की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि जीव शब्द वाह्यार्थ सहित है।[1] अर्थात् वाह्य में जीव शब्द का वाच्य अर्थ स्वरूप लक्षण विशिष्ट जीव एक वस्तु है। इसीलिए यह कहा जा सकता है कि बाह्य रुप से जीवशब्द से उसके अर्थ स्वरूप तथा उसके विशेष (गुण) से युक्त जीव वस्तु है। क्योंकि यह शब्द संज्ञा (नाम) है। और जो शब्द संज्ञायुक्त या नामरुप होता है, वह वाह्य अर्थ के बिना नहीं रहता है। यथा हेतु शब्द अग्निमान आदि के अनुमान में प्रयुक्त धुमादि संज्ञात्मक हेतु शब्द धुआँ आदि नामधारी बाह्य पदार्थ के अस्तित्व के बिना नहीं होता है। सभी हेतु वादी हेतु शब्द को वाह्यार्थ सहित मानते हैं। अन्यथा हेतु और हेत्वाभाष में कोई भेद नहीं बन सकता है।

इस पर यदि बौद्ध कहें कि माया आदि भ्रान्ति की कुछ ऐसी संज्ञाएँ हैं जिनका कोई वाह्यचार्थ नहीं होता है, अर्थात् इन्द्रजाल में देखी वस्तुओं का नाम होता है पर उसकी सत्ता नहीं होती है। अत: संज्ञापनाह हेतु अनेकान्तिक है। व्यभिचारी है – उससे जीव शब्द का बाह्यार्थ होना आवश्यक नहीं है। इस पर जैनाचार्य कह सकते हैं कि बौद्धों का यह कहना ठीक नहीं हैं[2] कि, क्योंकि जो माया आदि भ्रान्ति की संज्ञाएँ हैं, वह भी प्रमाणोक्ति के समान अपने अर्थ को साथ में लिए हुए हैं। जिस प्रकार प्रमाण वचन का ज्ञान लक्षण वाह्यार्थ है, उसी प्रकार मायादि भ्रान्तिसंज्ञाओं का भी बाह्यार्थ भ्रान्ति विषयक विशिष्ट प्रतिपत्ति है। क्योंकि भ्रान्ति संज्ञाओं का भ्रान्ति रुप अर्थ का अभाव मानने पर भ्रान्ति संज्ञा से, भ्रान्ति प्रपत्ति नहीं बन सकती। इस स्थिति में प्रमाण तत्व के प्रतिपत्ति का प्रसंग आ जायेगा अर्थात् भ्रान्ति को भी सम्यक् ज्ञान मानना पड़ेगा। जो इष्ट तथा अबाधित नहीं है। यदि इस बात को स्वीकार किया जाय तो गहदे के सींग तथा गगन कुसुम आदि शब्दों को भी व्यर्थ नहीं माना जा सकता है। क्योंकि उनकी

---

[1] देवागम्, 84:
"जीवशब्द: सबाह्यार्थ: संज्ञात्वाद्धेतु शब्दवत्,
मायादि-भ्रान्ति, संज्ञाश्च मायाद्यै: सवै:प्रमोक्तिवत्।।" तथा इसका हिन्दी अनुवाद देखें।

[2] आप्तमीमांसा टीका (अष्टसहस्त्री), 84 पर:

अनुपस्थिति ही उस शब्द का अर्थ है, परन्तु ऐसा न मानने पर खरविषाणादि शब्द के साथ ही उक्त संज्ञत्व हेतु का दोष उपस्थित नहीं होगा।

जैनाचार्य ने बौद्धों के अनात्म का अर्थ आत्मा (जीव) रहित माना है। इसलिए आत्मा के अस्तित्व की पुष्टिकर बौद्ध अनात्म का खंडन कियाहै। इन्होंने बौद्धों के अवक्तव्य शब्द का अर्थ वर्णनातीत से करते हुए कहा है कि आत्मा को अवक्तव्य मानने पर वह अज्ञेय तत्व हो जाती है। अर्थात् वह प्रमेय नहीं रह जाता है। आत्मतत्व के अप्रमेय होने पर तथा उसे प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण का विषय नहीं माना जा सकता है। इस स्थिति में बन्ध व मोक्ष की कल्पना भी बन्ध्यापुत्र की तरह व्यर्थ हो जायेगी।[1] जैनाचार्य ने अवक्तव्य का भी बौद्धों से अलग अर्थ समझा, क्योंकि जैनाचार्यों ने कहा है कि यदि बौद्ध साधन को अनात्म मानते हैं तो उनका साध्यसाधन का अर्थ अवास्तिविक हो जायेगा। इस संदर्भ में यदि बौद्ध साध्य साधन व्यवहार की साम्वृतिक मान उसे सम्वृति से कल्पित मानते हुए कहें कि इससे पराभ्युपेतेक्र्थ का प्रसंग नहीं आता है। तो बौद्धों का यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि अनात्म- निःस्वभाव सम्वृति रुप तथा असाधन की व्यावृति मात्र का साधन के द्वारा उसी प्रकार के अनात्म साध्य की जो गति प्रतिपत्ति है वह नहीं बनती है। यदि सम्वेदना द्वेतवादियों के द्वारा यह कहा जाय कि साध्य साधन भाव से शून्य "संवेदनमात्र से ही हमारे यहा" तत्व सिद्ध है। तो विकल्पिताकार द्वैत की भी सिद्धि हो जायेगी। यदि बौद्द साधन के बिना स्वतः ही सम्वेदनाद्वैत रुप साध्य की सिद्धि माने तो वह उचित नहीं है . क्योंकि तब पुरुषाद्वैत की भी सिद्धि हो जायेगी।[2] यहाँ भी जैनों ने अनात्म का संबंध साध्य-साधन के अभाव रुप में जोड़कर इस सिद्धान्त के प्रति अपनी अनभिज्ञता ही प्रस्तुत की है। इसके अतिरिक्त जैनाचार्य ने अनात्म को भावनात्मक मान बौद्धों के अनात्मवाद के संदर्भ में उनका पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हुए कहा है कि इनका विश्वास है कि नेरात्मभावना से

---

[1] युक्तानुशासन, 10:
"येषामवक्तव्यमिहाअअत्म-तत्व, देहादनन्यत्व-पृथक्त्व कलृप्तेः।
तेषा ज्ञ-न्तत्वेजनवधायंतन्त्वे का बन्ध-मौक्ष स्थितिरप्रमेये।।"

[2] युक्तानुशासन, 57: (हिन्दी):
"अनात्मनाअनात्मगतेरयुक्तिर्वस्तुन्ययुक्तेयंदि पश्च सिद्धि।
अवस्त्वयुक्तेः प्रतिपक्ष-सिद्धिः न च स्वयं साधन-रिक्त-सिद्धि।।"

रागादिमनोदोषों का निवारण किया जा सकता है। बौद्धों के अनुसार अनात्मभावना के अनुभव से ही सांसारिक दुखों का विनाश हो सकता है।[1] अर्थात् नित्य, सात्मक, दुख-रुप जगत् को अनित्य, अनात्मक, दुख रुप मानने पर इसके प्रति श्रद्धा का अभाव हो जायेगा। इसलिए जो आत्मस्वरुप मानने पर अपनत्व उत्पन्न होता है, उसका अभाव हो जाने से राग का विनाश हो जायेगा। तथा परात्मस्वरुप वस्तुओं के प्रति उत्पन्न द्वैष नष्ट हो जायेगा। इस प्रकार अविद्याजन्य मालिन्य के नष्ट होते ही विद्या का आलोक प्रस्फुटित हो जायेगा। जिससे मोक्ष प्राप्ति संभव हो जायेगी।

वास्तव में बौद्धों के अनुसार तत्व के प्रति विचार ही सर्वोच्च समाधि है। क्योंकि विचार करने पर तत्व का अनात्म स्वरुप ही प्रकट होता है। अनात्मक जगत् की वस्तुओं के प्रति अपनत्व के अभाव से उनके प्रति उत्पन्न रागवत सम्बन्धों का निवारण हो जाता है। जब किसी के प्रति राग नहीं रहेगा, तो किसी के प्रति द्वेष भी नहीं रहेगा। इसलिए मनुष्य अनात्मक विचार के परिणामस्वरुप राग-द्वेष रुपी मानसिक कालुष्य से निर्विकल्प हो अनुपम सुख रुपी अमृत का पान करेगा। व्यक्ति की इस स्थिति को ही निर्वाण कहा जाता है।[2]

यदि सांसारिक वस्तुओं में आत्मभाव माना जाय तो निश्चय ही उससे रागादि संस्कारों का अभ्युदय होगा। इस संस्कार से वस्तुओं में इष्ट-अनिष्ट के प्रति विज्ञप्ति (ज्ञान) उत्पन्न होगा। जिससे नाम रुपी षडायतन उद्भूत हो स्पर्श, वेदना को जन्म देंगें। तब व्यक्ति का उनमें रस लेना, उनका अभिनन्दन करना तथा उनमें लीन हो जाना, सुनिश्चित हो जायेगा। जो तृष्णा को जन्म देगा। अत: जगत् की वस्तुओं के प्रति आत्मभाव रखने से तृष्णा की उत्पत्ति तथा आत्मभावका निराकरण करने से तृष्णा का निराकरण हो जाता है . यही जन्म, पुनर्भव, जरामरण आदि से मुक्ति दिलाता है, क्योंकि

---

[1] योगविन्दु, 458:
"नेरात्म्य दर्शनादन्ये निबन्धन नियोगत:।
दोषाप्रहाणिमिच्छन्ति सर्वथा न्याय योगिन:।।"

[2] योगविन्दु, 459:
"समाधिराज एतत् तद् तदेतत् तत्वदर्शनम्।
अग्ग्रहच्छेद कार्येतत् तदेतदमृतं परम्।।"

तृष्णावृद्धि से उपादान, पुनर्भव (नया शरीर) जरा एवं मृत्यु का प्रादुर्भाव होता है। अत: तृष्णा के निराकरण से जन्म, जरा-मरण से छुटकारा प्राप्त हो जायेगा। इसी को मोक्ष कहा गया है। अत: निश्चय हीअनात्मभावना मोक्ष प्रदायनि है।[1]

जैनाचार्यों के अनुसार बौद्धों ने कहा है कि अनुभव के बिना (आत्मादि) उसमें रागादि भाव की उत्पत्ति नहीं होगी। तथा तृष्णा की पिपाता नहीं होगी[2]। परन्तु जिसका आत्मभाव के प्रति लगाव है, उसमें रागादि भाव का स्थायित्व हो जायेगा। जो वैराग्य भाव से वंचित रखेगा।[3] रागभाव से ग्रसित व्यक्ति को निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि अनात्मभाव विद्या का द्योतक है तो आत्मभाव अविद्या का आश्रय है। यह सुविदित तथ्य है कि अविद्या से बंध तथा अविद्या से मोक्ष लाभ होता है।[4]

जैनियों ने आत्मभाव का अर्थ जीव भाव से लिया है। इसलिए उसका खंडन प्रस्तुत करने के लिए बौद्धों के अनात्मभाव सिद्धान्त को दो प्रकार से प्रदर्शित किया है। इन्होंने इसका एक अर्थ आत्मा (जीव) के अभाव एवं दूसरा अर्थ उसकी क्षणिकता से किया है।

अनात्म का अर्थ आत्मा का अभाव:

जैनाचार्य अनात्म का अर्थ आत्मा के अभाव से करते हैं।[5] इनके अनुसार बौद्ध सर्वथा आत्मा का अभाव ही मानते हैं, तो इनकी मुक्ति और बन्ध की चिंता व्यर्थ है।

---

[1] योगविन्दु, 460:
"तृष्णा यज्जन्मनो योनिंधवा सा चात्मदर्शनात्।
तद्भावान्न तद्भावस्तत् ततो मुक्तिरित्यपि।।"

[2] वही, 461:
"न हयपश्यन्नहमिति स्निहयत्यात्मनि कश्चन।
न चात्मानि विना प्रेम्णा सुखकामोअभिधावति।।"

[3] वही, 462:
सत्यात्मनि स्थिरे प्रम्णि न वैराग्यस्य संभव:।
न च रागवतो मुक्तिदांतव्योअस्या जलान्जलि।।

[4] तत्त्वायवा तिंकम् (हिन्दी) महेन्द्र कुमार जैन, पृ0 271:

[5] योगबिन्दु, 463
नैरात्म्यमात्मनोअभावः क्षणिको वाअयमित्यद।
विचार्यमाणां नो युक्तत्या दयमप्युपपद्यते।।

क्योंकि जब धर्म नहीं है, तो उसको धारण करने वाला भी नहीं होगा।[1] जैनियों ने जगत् के अनात्मकता का अर्थ उसके अभाव से करते हुए कहा है कि बौद्ध आत्मा का अस्तित्व न माने तो वह प्रश्न उपस्थित होता है कि उनके अनात्मवाद के अस्तित्व का अनुभव कौन करेगा। तथा उनकी व्याख्या कौन करता है।[2] अर्थात् आत्मा के अभाव के प्रसंग में उसके अनात्मत्व के उपदेश किसको कौन देता है। यह प्रश्न उपस्थित हो जायेगा। इसका उत्तर आत्मा के अभाव में नहीं दिया जा सकता है। वस्तुत: किसी उपदेश की व्याख्या करने वाला, वक्ता तथा उसका श्रोता होना आवश्यक है। चूँकि वक्ता व श्रोता एक नहीं हो सकते हैं क्योंकि दोनों के एक होने पर उनके उपदेश का की महत्व नहीं रहेगा। इसलिए वक्ता व श्रोता अलग-अलग होने चाहिए। समन्त भद्र ने भी इसी की पुष्टि करते हुए कहा है कि वक्ता का वाक्य श्रोता का बोध और प्रमाता का प्रमाण ये तीनों एक दूसरे से पृथक जाने जाते हैं।[3] इससे स्पष्ट हो जाता है कि जैनियों के अनुसार आत्मा का अस्तित्व होने पर ही बौद्धों की बातों की पुष्टि नहीं होती। इसलिए बौद्धों के अनात्म को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इसलिए बौद्धों का अनात्मवाद का सिद्धान्त स्वप्न में कुमारी कन्या के पुत्र पैदा होने की तरह ही भ्रान्ति युक्त है।[4] इसको हम दो प्रकार से समझ सकते हैं। एक तो कुमाराभाव, तथा दूसरी तरफ पुत्र बनना। साथ साथ संभव नहीं हो सकते हैं। क्योंकि जब तक कुमारी भाव है, पुत्र जन्म का प्रसंग नहीं बन सकता। पुत्र जन्म के साथ ही किसी कुमारी का कुमारा भाव समाप्त हो जाता है।[5]

---

[1] वही, 464
सर्वथैवात्मनोअभावे सर्वा चिन्ता निरर्थका।
सति धर्मिणि धर्मा यच्चिन्त्यन्ते नीतिमद्वचः।।

[2] वही, 465
नैरात्म्यं दर्शनं कस्य को वाअस्य प्रतिपादकः।
एकान्ततुच्छया हिप्रतिपाद्यस्तयेहकः।।

[3] आप्तमीमांसा, 86
वक्तृ-श्रोतृ प्रमातृणाबोध वाक्य प्रमाः पृथक्
भ्रान्तावेव प्रमाभ्रान्तो वाह्याअर्थौ तादृशांतरौ।।

[4] योगविन्दु, 466:
“कुमारी सुत जन्मादि स्वप्न बुद्धि समोदिता।
भ्रान्तिः सर्वेयमिति चेन्ननु सा धर्म एवहि।।”

[5]

अर्थात् कुमारी भाव तथा पुत्र जन्म जैसे दो विरोधी गुण एक साथ नहीं रह सकते हैं। यही कठिनाई नेरात्मभाव एवं उसके वाचक के संदर्भ में भी उपस्थित हो जायेगी, क्योंकि एक तरफ सब वस्तुओं का अभाव कहने में कम से कम इस वाक्य को कहने वाला तथा जिससे कहा जायेगा उसकी उपस्थिति होनी ही चाहिए। ऐसी स्थिति में सब वस्तुओं का अभाव नहीं हो सकता है।

दूसरे प्रकार से यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार कुमारी कन्या पुत्र पैदा होने का स्वप्न नहीं देख सकती है, क्योंकि यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि स्वप्न उसी का देखा जाता है कि जिसका प्रत्यक्ष हुआ हो अथवा उसका कभी अनुभव हुआ हो। कुमारी कन्या को पहले कभी पुत्र न होने के कारण उसका उसे न तो प्रत्यक्ष हुआ है और न तो उसका इस संबंध में अनुभव ही है। इससे कुमारी का इस प्रकार स्वप्न देखना असंभव है। इसी भाँति बौद्धों का अनात्म भी सम्भव नहीं है। अर्थात् जैनाचार्यों के अनुसार बौद्धों का अनात्म कुमारी का पुत्र जनना दोनों एक ही समान भ्रमपूर्ण हैं। यदि कुमारी भाव में पुत्र पैदा हो सकता है तब इस संसार में बन्ध्या का पुत्र भी स्वप्न देख सकता है।[1] अर्थात् इन सब बातों का तात्पर्य यह है कि उक्त सभी कथन आत्मा का अभाव, कुमारी भाव का पुत्र जन्म तथा बन्ध्या के पुत्र का स्वप्न देखना एक ही कोटि में आते हैं। अत: अनात्म की व्याख्या करने वाला अर्थात् आत्मा को न मानने वाला उत्तम कोटि को मूर्ख में परिमणित किया जायेगा।

नेरात्मवादी (अनात्म) का अर्थ अभाव (शून्य) माना जाए तो समस्त जगत् को शून्य रूप मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में नर, पशु, पक्षी, घट-पटादि पदार्थों का अभाव मानते हुए उन्हें स्वप्नादि अथवा इन्द्रजादि में हाथी आदि के प्रतिभाष के समान प्रतिभाषित मानते हैं।[2] तो उनके द्वारा आत्मा वैसे ही सत्य नहीं होगा जैसे गंधर्वादि नगर

---

[1] योगविन्दु, 467:
"कुमायां भाव एवेह पदेततदुपपद्यते।
बध्यापुत्रस्य लोकेअस्मिन्न जातु स्वप्न दर्शनम्।।"

[2] आदिपुराण: 5/45:
"शून्यमेव जगद्विश्व मिदं, मिथ्याक्षभासते।
भ्रान्तेः स्वपन्नेन्द्रालादौ हस्त्या दि प्रतिभासवत्।।"

सत्य नहीं होते हैं।[1] इसलिए जैनियों का कथन है कि जो बौद्ध परलोक के लिए तपस्चर्या तथा अनेक अनुष्ठानादि कर व्यर्थ क्लेष सहते हैं वे परमार्थ ज्ञान से वंचित है।[2] जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु में मरुभूमि पर पड़ती हुई सूर्य की चमकीली किरणों को जल समझकर मृग व्यर्थ ही दौड़ता है, उसी प्रकार ये बौद्ध भोगविलासी मनुष्य परलोक के सुख को समझ कर व्यर्थ ही उसकी प्राप्ति का प्रयत्न करते है।[3] जैनाचार्य का मत है कि अनात्मवादियों से यदि प्रश्न किया जाय तो कि उनके शून्यवाद (आत्मवाद) में शून्यत्व (अनात्म) को प्रतिपादित करने वाला बचन और उसमें उत्पन्न होने वाला ज्ञान है या नहीं[4]। यदि बौद्ध इन प्रश्नों के उत्तर में कहें कि शून्यत्व (अभावत्व) को प्रतिपादित करने वाले वचन और ज्ञान दोनों ही हैं तो उनको वाक्य और ज्ञान की भाँति समस्त पदार्थों को मानना पड़ेगा। जैनियों का कथन है कि यदि बौद्ध कहें कि हम वाक्य और विज्ञान को नहीं मानते तो शून्यता। अभाव की सिद्धि नहीं होगी। यदि बौद्धों के शून्यता का प्रतिपादक वचन और विज्ञान को स्वीकार करते हैं तो वचन व विज्ञान के विषयभूति जीवादि समस्त पदार्थ भी उन्हें स्वीकार करने पड़ेंगे। इसलिए इनके द्वारा शून्यवाद अनात्मवाद की सिद्धि नहीं हो पायेगी। यदि बौद्ध वचन व विज्ञान को नहीं माने तो शून्यवाद (अनात्मवाद) का मनन व समर्थन नहीं कर सकेंगे।[5] ऐसी अवस्था में बौद्धों के अनात्मवाद (शून्यवाद) का प्रतिपादन करना उन्मत्त पुरुष के रोने के समान व्यर्थ हो

---

[1] वही, 5/46:
"ततः कुतोअस्ति वो जीवः परलोकः कुतोअस्तिवा।
असत्सवंमिदं यस्माद गन्धर्वनगरादिवत्।।"

[2] वही, 5/47:
असतोअभी परलोकार्थ तयोअनुष्ठानतत्पराः।
वृंधव क्लेश मायान्ति परमार्थानभिज्ञका।।

[3] आदि पुराण, 5/48:
धर्मारम्भे यथा यद्वदद्दष्टाद्वा मरुमरिचिका:
जलाशयानु धावन्ति तद्वभंगोगार्थिनीअप्यमी।।

[4] वही, 5/82:

[5] वही, 5/83:

जायेगा। अत: जैनाचार्य के अनुसार यह सिद्ध होता है कि जीव शरीर आदि से पृथक पदार्थ है। तथा दया संयम आदि लक्षणवाला धर्म भी है।[1]

यदि बौद्ध कहें कि वास्तव में वस्तु का अस्तित्व हैलेकिन उनके प्रति नेरात्म भाव रखने से मोक्ष प्राप्त हो जायेगी। क्योंकि भावना से ही सभी शुभ-अशुभ वस्तु चित्त में स्पष्ट रुप से झलकती है . इस पर जैनियों का कथन है कि यदि भावना से स्पष्ट अवलोकन मात्र से मुक्ति प्राप्त होती है तब बन्धकों एवं वियोनियों को भी मुक्त हो जाना चाहिए।[2] परन्तु ऐसा नहीं होता। यहाँ जैनाचार्यों ने इससे संबंधित गाथा प्रस्तुत करते हुए कहा है कि सब ओर से बंद जैल खाने में सूई की नोक द्वारा भेदने के लिए अशक्य अत्यन्त गाढ़े अंधकार के होते हुए मेरे नेत्र बन्द कर लेने पर भी मुझे अपनी प्रिया का मुख स्पष्ट दिखाई देता है . तब भी वह प्राप्ति नहीं होती है।[3] इसलिए कहा जा सकता है कि भावना से किसी वस्तु का चिंतन मात्र किया जा सकता है, उसको पाया नहीं जा सकता है। इसीलिए नैरात्य भावना से मुक्ति प्राप्ति बौद्धों को नहीं हो सकती है।

जैनाचार्यों का कथन है कि बौद्धों में समाधि के माध्यम से मोक्ष की कामना विहित है। लेकिन नैरात्म भावना में सब कुछ के अभाव होने से कौन किसका ध्यान करेगा यह प्रश्न उत्पन्न हो जायेगा। इसलिए इनके मत में ध्यान की कल्पना करना कछुये के बालों से आकाश पुष्प का माला बनाने के समान होगा।[4] अर्थात् नैरात्मवादी न तो ध्यान करने वाली आत्मा को मानते हैं और न तो ध्यान करने योग्य पदार्थ को ही मानते हैं, ऐसी दशा में उनके यहाँ ध्यान की कल्पना ठीक उसी प्रकार असंभव है, जैसे कछुओं के बालों द्वारा गगन कुसुम का सेहरा बाँधना। इसके अलावा बौद्धों से ध्येय तत्व की भी सिद्धि नहीं हो सकती है। ध्येय तत्व में दो प्रकार के विकल्प होते हैं। एक ग्रहण करने

---

[1] वही, 5/84:

[2] यशस्तिलक, 6/29:
सर्वचेतसि भासेत वस्तु भावनया स्पुटम्
तावन्मात्रेण मुक्तत्वे मुक्ति: स्याद्विप्रलम्भिनास्।।

[3] वही, 6/30:
पिहिते कारामारे तमसि च सूची मुखाग्रनिर्भय।
मयि च निभीलित नयने तथापि कान्ताननं व्यक्तम्।।

[4] आदि पुराण , 8/249:

तथा दूसरा त्यागने योग्य। जैनियों का कथन है कि जब नैरात्मवादी मूलभूत किसी पदार्थ को नहीं मानते हैं तो उनके द्वारा देय और उपादेय का विकल्प नहीं किया जा सकता है।[1]

जैनाचार्य का मत है कि तथागति बुद्ध नैरात्म भावनावश सभी जगत् को शून्य (अभाव) मानते हैं। तथा अहिंसा को धर्म बतलाते हैं। परन्तु उनका यह कथन मूर्खों के समान है, क्योंकि जगत् शून्य होने पर धर्म नामक वस्तु का भी अस्तित्व नहीं रहेगा। अर्थात् धर्मों जगत के शून्य होने पर उसका स्वभाव अहिंसक धर्म मानना व्यर्थ है।[2] यह बन्ध्यापुत्र का मृगतृष्णा में स्नान करने के समान है। अत: जैनियों का मत है कि जब सत्य ज्ञान वाले बुद्ध इस प्रकार के मिथ्यावाक्य का प्रवचन करते हैं तो उनके अनुयायी असत्य भाषण में पटु होगें ही। जैनाचार्यों का कथन है कि बिना प्रमाम के अनात्मवादी अपने मत को सिद्ध नहीं कर सकते हैं। यदि वे किसी प्रमाण को माने तो अभाव रूपी यमराज क्रोधित होकर उनका विनाश कर देंगे।[3] अर्थात् बौद्धों के शून्यवाद (अनात्मवाद) की सिद्धि नहीं हो सकती है।

उपर्युक्त विवेचन में जैनाचार्यों ने बौद्धों के अनात्म का उनसे अलग अर्थ समझा है। बौद्धों के अनात्म का अर्थ कभी आत्मा या जगत् की वस्तुओं के अभाव से नहीं रहा। जबकि जैनियों ने उसे इनके अभाव से ही माना है। जैनियों ने समस्त जगत की वस्तुओं के अभाव के अतिरिक्त अनात्म भाव को भावना प्रधान मान उसकी कटु आलोचना की है। परन्तु यह भी उनकी अनात्म के प्रति अलग दृष्टि का ही द्योतक है। जैनाचार्यों की बौद्ध अनात्मवाद की आलोचना से ऐसा पता चलता है कि इन्होंने संभवत: बौद्ध ग्रंथों में वर्णित अनात्म का अर्थ की उपेक्षा की है। इन्होंने अनात्म का शाब्दिक अर्थ अपने अनुसार किया है। इसके अतिरिक्त जैनियों ने अनात्म को अभावात्मक भावना का

---

1 आदिपुराण, 8/250:

2 सिद्धान्तसार, संग्रह, 4/29:
जगच्छून्यमिदं एवं धर्मों हिंसाविवर्जित:।
मुढ़ात्मनो वदन्त्योतत्तथ्यं तथागता: कथम्।।

3 अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिकास्तवन्, श्लोक 17:
विना प्रमाणं परवन्न शून्य: स्वपक्ष सिद्धे: षदमश्नुवीत।
कुप्येत्कृतान्त: स्पृशते प्रमाणामहो सुदृष्टंत्वद सूयिदृष्टम्।।

प्रतीक माना है . इससे स्पष्ट है कि, इसे स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि जैनाचार्यों को बौद्धों के अनात्मवाद के सिद्धान्त की स्पष्ट जानकारी न थी। उसके वावजूद भी उन्होंने बौद्ध अनात्मवाद की आलोचना में व्यर्थ परीश्रम किया। क्योंकि इन्होंने बौद्ध अनात्मका अर्थ अनात्मा ही समझा। जो बौद्धो की अनात्मा का अर्थ नहीं है।

अनात्मवाद का अर्थ क्षणिकता:

जैनियों के अनुसार यदि आत्मा को क्षणिक मानो तो यह भी संभव नहीं लगता। क्योंकि यदि आत्मा क्षणिक है तो जन्म का क्षण समाप्त होते ही उसे समाप्त हो जाना चाहिए।[1] यदि वह समाप्त हो जाय तो दूसरी आत्मा को उत्पन्न करना उसके लिए असंभव हो जायेगा। यदि प्रथम क्षणवाली आत्मा, बाद के क्षण की दूसरी आत्मा उत्पन्न कर सकती है, तो निश्चय ही बाद के क्षण वाली आत्मा में प्रथम क्षण वाली आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करनी चाहिए। इसको दूध से दही बनाने के उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। यदि कहा जाय कि दूध अपने दूसरे क्षण में नष्ट हो, दही बनाता है तो प्रथम क्षण में दूधत्व के भाव समाप्त होने के बाद ही दधित्व भाव बनता है। इस संदर्भ में जैनाचार्य कहते हैं कि जब दूधत्व समाप्त हो गया तो कैसे कहा जायगा कि दूधसे दही बन गयी। क्योंकि दूधत्व के उपस्थित में दधित्व भाव असंभव है। इस पर भी यदि बौद्ध कहें कि दूध से दही बनती है तो निश्चित रूप से दही में दूध का अस्तित्व रहेगा। अर्थात यह कहा जायेगा कि उत्पन्न में उत्पादक का अस्तित्व है। परन्तु यह असंभव है कि दही में दूध का भाव रहे। इसलिए आत्मा को क्षणस्वभावी नहीं माना जा सकता है।

जैनाचार्यों ने कहा है कि यदि बौद्ध यह कहें कि आत्मा का अस्तित्व दूसरी वस्तुओं के उत्पन्न होने के पूर्ववर्ती क्षण में विनष्ट न होकर दूसरे वस्तु के अस्तित्व के हेतु में परिणत हो जाता है।[2] अर्थात् यह कहा जाय कि दूध दही बनने के पूर्वक्षण में विनष्ट

---

[1] योगविन्दु, 468:
क्षणिकत्वं तु नेवात्य क्षणादध्वं विनाशत:
अन्यस्याभावतोउसिद्धरन्यथाअन्वयभागवत्:।।

[2] वही, 469:
भावाविच्छेद एवायमन्वयो गीयते यत:।
स चानन्तरभावित्वे हे तोरस्यानिवारित:।।

नहीं होता है, बल्कि दही बनने का हेतु होत है। इसको समझने के लिए ऐसा कहा जा सकता है कि जिस प्रकार घड़े के बनने में मिट्टी विनष्ट नहीं होती है बल्कि घ़ड़े के रूप को धारण कर लेती है। तो यहाँ मिट्टी घ़ड़े का हेतु हुई। इसी प्रकार दूध भी दही का हेतु हुआ। अत: कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा का अस्तित्व नष्ट न हो, करके दूसरी आत्मा के रूप में बदल जाता है। ऐसा बौद्धों का मानना भी दोषपूर्ण है। क्योंकि क्षणिक अस्तित्ववाली वस्तुविनष्ट होकर के किसी नये पदार्थ को उत्पन्न नहीं कर सकती है। यदि क्षणिक अस्तित्ववाली वस्तु नये वस्तु का जन्म देती है तो यह कहना कि क्षणिक वस्तु नये उत्पन्न वस्तु के पूर्ववर्ती क्षण में विनष्ट हो जाती है, स्वीकार नहीं किया जा सकता है।[1] वस्तु क्षणभर में नष्ट हो दूसरे क्षण में उत्पन्न होगी। क्योंकि किसी वस्तु का एक ही क्षण में नाश एवं उसी नाश क्षण में उससे नये वस्तु का जन्म इन दोनों विरोधी बातों का होना संभन नहीं है। यदि इसे संभव मान लिया जाय तो दूसरी वस्तुओं को पहली वस्तु से अलग पहचानना अंसभव हो जायेगा।[2] उदाहरण स्वरूप दूध से दही, दही से मक्खन, मक्खन से घी बनता है यदि दूध का भाव दही में रहे तो, दही का भाव मक्खन में रहे तथा मक्खन का भाव घी में रहे तो सब में दूध का भाव रहेगा। और जब दूध का भाव सब में रहेगा तो दही, मक्खन, घी सभी दूध से अभिन्न पदार्थ होंगे। हरिभद्र सूरी के कथन का यही अर्थ प्रतीत होता है। अत:आत्मा के अस्तित्व को कुछ क्षण के लिए स्थायी मानना भले ही कुछ विशिष्ट वस्तुओं के लिए न हो, परन्तु अन्यों में हो गा ही।[3] हरिभद्र सूरि के विचार से आत्मा के अस्तित्व का उपस्थित होना कुछ विशिष्ट वस्तुओं के लिए न होने पर भी कुछ अपने सहयोगी कारणों के उत्पादन क्षण में निश्चित रूप से होगा। अत: आत्मा का अस्तित्व कुछ क्षण के लिए मानने में कोई दोष नहीं है। इसको

---

[1] योगविन्दु, 470:
स्वनिवृत्तिस्वभावत्वे क्षणस्य नायरोदय:।
अन्य जन्मस्वभावत्वे स्वनिवृत्ति: असंगता:।।

[2] वही, 471:
इत्यं द्वैयैक भावत्वे न विरुद्धोअवयोअपि ही।
वावृत्याद्येकभावत्वयोगतो भाव्यतामिदमू।।

[3] योगविन्दु, 472:
अन्बयोअथस्य न आत्माचित्र9 भावो यतोमते:
न पुनर्नित्य ऐवेति ततोदोषो न कश्चन।।

समझने के लिए दूध से दही एवं मिट्टी में घड़े, दोनों उदाहरण उपयुक्त हैं। प्रथम दूध से दही बनती है, परन्तु दूध का अस्तित्व, दही के उत्पन्न होने के पूर्व क्षण में समाप्त हो जाता है। इन्हीं को जैनाचार्य विशिष्ट वस्तु की श्रेणी में सन्निहित करते हैं। दूसरा मिट्टी से घड़े की उत्पत्ति होती है, इसमें मिट्टी अपने अस्तित्व को समाप्त कर घ़ड़े का सृजन नहीं करती अपितु उसकी उपस्थिति रहती है।

आत्मा के कुछ क्षण स्थायी अस्तित्व न मानने पर उसके द्वारा न किए पाप कर्मों का फल भी भोगना पड़ेगा। यदि आत्मा के क्षणिक माना जाय तो उस क्षण में उसके द्वारा किए पाप का फल निश्चित ही किए गए पाप क्षण के बाद वाले क्षण में ही मिलेगा। परन्तु उस क्षण पूर्वक्षण में पाप करने वाली आत्मा नष्ट होकर दूसरी आत्मा उत्पन्न हो जायेगी। इसलिए पहली आत्मा द्वारा किया गया पाप उत्पन्न दूसरी आत्मा को भोगना पड़ेगा। जो पाप कर्म नहीं की है।[1] अत: जिस प्रकार नैरात्म में स्वयं की मूर्खता बीते हुए पाप कर्मों का कारण नहीं होती है, अपितु दूसरे के लिए होती है। इसी प्रकार आत्मदर्शी का भी प्रसंग हो जायेगा। यह विचार वैसे ही है जैसे मैं। अर्थात् जिस प्रकार आत्मा में विश्वास करने वाले कर्म के कारण उसके फल के आकांक्षी स्वयं होते है, इनके अनुसार जो जैसा कर्म करेंगे, वैसे फल पायेंगे। इसकी भावना रखते हैं,वैसी भावना अनात्मवाद पर लागू नहीं होती है। अत: जब यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कोई क्षणिक वस्तु अपनी मूढता का बर्द्धन स्वयं नहीं करती है, क्योंकि क्षणिकता का विचार अस्तित्व के साथ हमेशा लगा रहता है। इसलिए अपनी मूढता के कारण उत्पन्न दोषों की चिन्ता बनी रहने का कोई औचित्य दृष्टिगोचर नहीं होता है। अत: पाप पुण्य कर्मों के जिम्मेवार को अपने कर्म से निवृत्ति का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है, इसलिए इस पर सोचना अनुचित है।[2] क्षणिक स्वभाव के कारण जब यह दोष आ ही जाता है कि वस्तु अपने प्रथम क्षणवर्ती कर्मों का ही फल द्वितीय क्षणवर्ती वस्तुएं नहीं

---

[1] वही, 473:
नं चात्मदशंनादेव स्नेहो यत् कर्म हेतुक:
नैरात्म्येअव्यन्यताअयं स्याज्ज्ञान स्यापिस्वदशंनात।।

[2] योगविन्दु, 474:
अध्रवेक्षणतो नो चेत् कोअपरा धो ध्रुवोक्षणे।
तद्गता कालचिन्ता चेन्नासौ कर्म निवृत्तित:।।

दिखाई देता। जैनाचार्य का कथन है कि जब वस्तुओं नहीं दिखाई देता, कुछ क्षण स्थाई रह कर कर्म करती है तत्पश्चात् नष्ट होकर उसका फल भोगती है तो दोनों में उनके एक क्षण या अनेक क्षण स्थायित्व की कल्पना कर भेद उत्पन्न करना व्यर्थ हैं।

इसलिए हेतु कारण में उत्पन्न मूढता बौद्धों के उत्पत्ति के नियम कारणवाद को भ्रान्तिमानने का खण्डन भ्रान्ति स्वरुपा है। उसे ग्राहादिक रुप की भाँति निवृत नहीं किया जा सकता है।[1] अत: जो उत्पाद विनाश एक दूसरे के हेतु से उत्पन्न माने जाते है, वे सभी भ्रान्ति के कारण हैं। जैनों का कथन है कि इस बौद्धों के मत को मानने पर जगत् की वस्तुओं के हेतु का ज्ञान व उस ज्ञान को जानने वाला भी भ्रान्ति के कारण ही होता होगा। ऐसी स्थिति में सांसारिक वस्तुओं का निवारण कैसे संभव होगा ? इसको यों कहा जा सकता है कि जब क्षण-क्षण वस्तु नष्ट व उत्पन्न हो रहीं है, इस स्थिति में ज्ञान व ग्राहक भी क्षण स्थाई होगा। परन्तु यदि इसे न माना जाय कि भ्रान्ति कुछ वस्तुओं को स्थायी बना देती है तो यह कैसे माना जा सकता है कि एक आत्मा भ्रान्ति का निवारण करके मोक्ष या गति पा जायेगी।[2] अत: जैनों के अनुसार निश्चय ही स्थायित्व के बिना कोई आत्मा संसार से वैराग्यत्व प्राप्त नहीं कर मुक्ति पा सकती है। यहाँ वैराग्य का अर्थ बौद्धों के अनात्मत्व से लिया गया है। अत: हरिभद्र सूरि का कथन है कि आत्मा के स्थायित्व माने बिना मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता है।

आत्मा को क्षणिक मानने पर बौद्धों के मोक्ष का खंडन हो जाता है। यदि चेतना ही एक मात्र सत्य है और कर्मादि कल्पित होती जैनाचार्य ने कहा कि यह नहीं कहा जा सकता है कि मोक्ष हमेशा स्थायी है। यह एक विचारणीय प्रश्न है। अर्थात् आत्मा के अस्तित्व को क्षणिक नहीं माना जा सकता है ऐसा जैनाचार्य का मत है।

---

[1] वही, 475: उपब्लवशात् प्रेम सर्वच्चोपजायते।
निवृत्तं तु न तस् तस्मिन ज्ञाने ग्राह्यादि रूपवत्।।

[2] योगविन्दु,
स्थिरत्व मित्यं न प्रेभ्णो यतो मुख्यस्य युच्यते।
ततो वैराग्य संसिद्धेक्तिरस्य नियोगत:।।

निष्कर्ष:

जैनों के मान्यतानुसार क्षणिकात्मवाद प्रमाण शून्य होने के कारण प्रवाद मात्र है, क्योंकि इसका ज्ञापक कोई भी दृष्ट अदृष्ट हेतु नहीं बनता।[1] जिस प्रकार प्रथम क्षण में नष्ट आत्मा द्वितीय क्षण में विद्यमान नहीं रहती, उसी प्रकार संतान का भिन्न चित्तों में कार्य कारण भाव नहीं बनता जो चित्त क्षण-क्षण विनष्ट होने वाले माने गये हैं वे किसके सदृश्य होगें। कहना असंभव है। असत् है। आकाश पुष्प के सदृश्य हेत्वापेक्ष नहीं होता है। उसे सिद्ध नहीं किया जा सकता है। कोई तार्किक असत् वस्त्र को हेत्वापेक्ष के रुप में नहीं मानते हैं।[2] हेतु को सत रुप मानने पर इस सेवा विभव का प्रसंग उपस्थित हो जाता है। इसलिए क्षणिकवाद में हेतु नहीं बनता है। यदि हेतु को असत् रुप माना जाय तो, यह मानना पड़ेगा कि कार्य अकस्मा होते हैं। अत: संतान के भिन्न क्षणों में नाश और उदय की एक क्षणता का अभाव होने से नाशोदयैक क्षणता रुप दोष उत्पन्न हो जाता है।[3] इस दोष का अर्थ है एक ही क्षण में वस्तु का विनाश व उत्पन्न होना। परन्तु यह परस्पर विरोधी होने से असंभव है। यदि पदार्थ को आकस्मिक माना जाय, तो वह अपने किए कर्म का फल नहीं भोग पायेगा बल्कि उसे बिना किए कर्म का फल भोगना पड़ेगा। अत: यह कहा जा सकता है कि उसके द्वारा किया कर्म अंसचेतित एवं अविचारित होगा। इसी प्रकार पदार्थ के प्रलयस्वभाव रुप होने पर उसका मोक्ष मार्ग का साधक एवं बाधक कोई भी नहीं रहेगा।[4] इसलिए बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था बुद्धि मिथ्या होती है तो निर्विकल्प बुद्धि भी मिथ्या होगी। यदि कहा जाय हेसत्वे सत्वं समुणा

---

[1] युक्तानुशासन का0।।:
हेतुनं दृष्टोअत्र न चाअप्यदृष्टो, योअयं प्रवांद: क्षणिकात्मवाद:
न ध्वस्तमन्यत्र भवै दिवतीये सन्तानभिन्ने नही वासनाअस्ति।।

[2] युक्तानुशासन, का: 12:
तथा न तत्कारण कार्य भावो निरन्वया: केन समान रुपा:।
असत्य पुष्पं न हि हेत्वपेक्षं दृष्टं न सिद्धयत्युभयोर सिद्धम्।।

[3] वही, का 13:
नैवाअस्ति हेतु: क्षणिकात्मवादे न सन्नसन्वा विभवादकस्मात्।
नाशोदयोकक्षणता च दुष्टा सन्तानभिन्न क्षणयोरभाबात्।।

[4] वही, का, 14:
कृत प्रणाशाअकृत कर्मभोगी स्यातामसच्चोतित कर्मेच स्यात्।
आकस्यिकेअर्थे प्रलय स्वभावे मार्गो न युक्तो वाधकश्च न स्यात।।

त्रित्य बुद्धयां धर्मदेशना। लोक संवृत्ति सत्यं च सत्यं च परमार्थ अर्थात् एक लोक संवृत्ति सत्य और दूसरी परमार्थ सत्य तो यह भी विकल्प मात्र होने से सत्य नहीं कहा जा सकता। अत: आत्को मो क्षणिक या अभाव रुप मानने पर उक्त वर्णित सभी दोषों के उपस्थित हों जाने से व्यवहारिक जगत् की व्यवस्था ही नहीं वन सकेगी। अनात्म का अर्थ न तो आत्मा का अभाव माना जा सकता है और न उसे आत्मा क्षणिक ही सिद्ध किया जा सकता है।

परन्तु यदि कहा जाय कि आनात्मा का अर्थ परमार्थिक वृत्ति से उसका अभाव मात्र है। चूँकि परमार्धवृत्ति सवृत्ति रुप है, इसलिए वह तात्विक नहीं है। यदि शून्य संवृत्ति तात्विकी कही जाय तो शून्य तत्व का प्रतिषेध हो जायगा। परन्तु यदि कहा जाय कि संवृत्ति सर्व विषयों से शून्य है, तब पदार्थ का सद्भाव नहीं रहेगा। अत: इस अविद्यात्मिकाएवं सकलतात्विक विशेष शून्य संवृत्ति के बन्ध और मोश विशेष हेत्वजन्य है। इसलिए कहा जा सकता है कि सावृत्ति रुप हेतु स्वभाव के द्वारा व्यवस्थित है। जो आत्मीय अभिनिवेश के द्वारा वंध का एवं नैरात्म्य भावना के अभ्यास से मोक्ष का विधान करती है। परन्तु दोनों तात्विक नहीं है। इसलिए दोनों विशेष परस्पर विरोधी नहीं है।[1] लेकिन रुपादि चतुष्ट की अपेक्षा से सत् रुप पदार्थ ही पर रुपादि चतुष्ट की अपेक्षा से अभाव (शूनय) रुप है। अत: अभाव मात्र से स्वरुप से ही असत होने पर उसमें परमार्थिकत्व नहीं बनता। इसलिए अंतिम को परमार्थिक वृत्ति से अभाव मात्र कहना ठीक नहीं है। सर्वथा सामान्य विशेष भाव से रहित आत्मा सर्वअभिलाषों तथा विकल्पों से शून्य होने के कारण गगन पुष्प के समान है।[2] परन्तु यदि हम सामान्य का निराकरण कर सर्वत: व्यावृत्ति रुप विशेष पदार्थों (आत्मा) को मानते हैं। लेकिन वे विशेष पदार्थ भी नहीं बन सकते, क्योंकि सामान्य से विशेष सर्वथा नहीं बनता है।

---

[1] युक्तानुशासन, 25:
अभाव मात्रं परमार्थ वृत्ते: संवृति: सर्वविशेष शून्या।
तस्या विशेषी किल बंध मोक्षो हेत्वात्मनेति त्वदनाथ वाक्यम्।।

[2] वही, 25:
व्यतीत सामान्य विशेष भावाद् विशवाअभिलाषाअर्थविकल्व शून्यम
खपुष्पवत्स्यासदेव तत्वं प्रबुद्ध तत्वाद्भवत: परेषायं।।

इसलिए सामान्य के अभाव में विशेष परमार्थतत्व (आत्मा) का भी अभाव हो जायेगा। अत: परमार्थवृत्ति से भी आत्मा का अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

अत: आत्मा को कालान्तर स्थायी मानने पर चाहे वह अपने उत्पादक व उत्पन्न में भिन्नता रखता हो, अभिन्नता रखता हो, अनिर्वचनीय हो तो भी कर्ता और कार्य उसी प्रकार नहीं बन सकते हैं। जिस प्रकार पदार्थ के सर्वथा अनित्य अथवा नित्य होने पर नहीं बनते हैं। इससे परिणाम की निवृत्ति होती है। परिणाम की निवृत्ति क्रम अक्रम को निवृत्ति करती है, क्योंकि क्रिया के साथ उसकी व्याप्ति है। क्रिया धिष्ठ स्वतंत्र द्रव्य के ही कर्तत्व की सिद्ध होती है। कर्ता के अभाव में कार्य नहीं बन सकता है। अत: एकान्तवादी बौद्धों द्वारा स्वर्गायपवर्गादि (मोक्ष) की प्राप्ति के किये किया श्रम व्यर्थ ही है। अर्थात् उनके सिद्धान्त से मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं हो सकती है।[1]

बौद्ध दार्शनिकों ने दोषों की स्व हेतुक मान उन्हीं को संसार का कारण मानता है। इनके अनुसार दोष ही अविद्या का कारण है। इसी के कारण ज्ञान एवं तृष्षादि भोगों की अभिलाषा उत्पन्न होती है। यही अनादिकाल की वासना से चित्त क्षण रूप आत्मा में उत्पन्न होते हैं। अत: पौद्गलिक (आत्मिक) कर्म संसार का कारण नहीं है, क्योंकि मूर्तिमान कर्म के द्वारा अमूर्तमान आत्मा पर आवरण नहीं होता है।

इस पर जैनियों ने कहा है कि मूर्तिमान मदिरा के पीने पर अमूर्तिमान आत्मा में भ्रम देखा जाता है। मदिरा के प्रभाव से भी भ्रम उत्पन्न हो जाता है। यदि ऐसा न हो तो मदिरा पीने के बाद पुरुष उन्मत नहीं होगा। यदि बौद्ध कहें कि मदिरा का प्रभाव मूर्तिमान इंद्रियों पर पड़ता है। तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अचेतन इंद्रिय, अचेतन पात्र के समान होने से जिस प्रकार पात्र में मदिरा रखने से उसमें कोई भी विभ्रान्ति (चंचलता) नहीं होती है, वैसे ही इन्द्रियों को भी अचंचल ही होना चाहिए, लेकिन ऐसा नहीं होता है। इससे स्पष्ट होता है कि आत्मा का अचेतन द्रव्य से भिन्न अस्तित्व है।[2]

---

[1] युक्तानुशासन, का0 34:
कालान्तरस्थे क्षणि के ध्रवेवाअपृथक् पृथक्त्वाअवचनीयतायाम्।
विकारहाने नं च कर्तृ कार्यें वृथा श्रमोअपं जिन।विद्धज्ञां।

[2] अष्टसहस्री, पृ0 287, द्रष्टव्य: अविद्या प्रत्यया: संस्कारदि, राजवार्तिकम्, 46:

यदि बौद्ध यह कहें कि इस समस्त जगत में जीव नाम का कोई पदार्थ नहीं है क्योंकि उसकी पृथक उपलब्धि नहीं होती है। अत: यह समस्त जगत् विज्ञान मात्र है, तथा क्षणभंगुर है। परन्तु क्षणभंगुरता ज्ञान के विकार के कारण ही होती है। यदि ये ज्ञान के विकार न होकर स्वतंत्र पदार्थ होते तो वे नित्य होते। परन्तु संसार में कोई नित्य पदार्थ नहीं है। इसलिए सभी ज्ञान के विकार मात्र हैं।[1] चूँकि विज्ञान अवान्तर भागों से रहित है यह बिना परंपरा पैदा किए नष्ट हो जाता है तथा वेद्याकादि सम्वृत्ति रूप से भिन्न प्रकाशित होता है। वास्तव में विज्ञान स्वभावत: ज्ञान के द्वारा नहीं जाना जा सकता है। यह किसी ज्ञान को नहीं जानता है। यही क्षण भर रह कर समूल नष्ट हो जाता है।[2] परन्तु नष्ट होने से पहले अपनी सम्वृतिक संतान छोड़ जाता है। इसलिए पदार्था का स्मरण होता रहता है। परन्तु इसका संतान अपने संतानी ज्ञान से भिन्न है।[3] जैनाचार्यों ने कहा है कि विज्ञान की संतान प्रति संतान मान लेने से पदार्थ का स्मरण तो सिद्ध हो जायेगा परन्तु प्रत्याभिज्ञान सिद्ध नहीं होगा। इसके लिए पदार्थ को अनेक क्षण स्थायी मानना पड़ेगा। हम जानते हैं कि उस ज्ञान को जो पूर्व क्षण में अनुभूति पदार्थ का उत्तर क्षण में प्रत्यक्ष होने पर जोड़ रूप ज्ञान होता है, वह प्रत्याभिज्ञान कहलाता है। यही क्षणभंगुर पदार्थों में भ्रामक है। उदाहरण स्वरूप कहा जा सकता है कि बढ़ा हुआ नाखून एवं केश कटा हुआ ही है, जैसे इस प्रकार का प्रत्याभिज्ञान भ्रान्त होता है[4], वैसे ही अनात्म वस्तुओं का आत्मभाव भी भ्रान्त होता है। अतः यदि विज्ञान के संतान के अतिरिक्त जीव नाम का कोई पदार्थ नहीं है, तो परलोक रूप फल को कौन भोगने वाला

---

[1] आदि पुराण5/38:
जीवावादिन्न ते कश्चिज्जीवोअस्त्यनुपलब्धित:।
विज्ञप्ति मात्रमंवेदं क्षणभिंगी यतो जगत्।।

[2] वही, 5/39:
निरंशतच्च विज्ञानं निरन्वयं विनश्वरम्,
वेद्य वेदक संवित्ति भोगोभिन्नं प्रकाशते।।

[3] आदि पुराण, 5/40:
सन्ताना वस्थितेस्तत्य स्मृत्याद्यपि घटामटेत्
संवृत्या सच सन्तानः सन्तानिभ्यो न भिद्यते।।

[4] वही, 5/41:
प्रत्याभिज्ञानादिकं भ्रान्तं वस्तुनि क्षणनश्वरे।
यथा लून पुनर्जात नख केशादिषु क्वचित्।।

होगा।[1] अर्थात् कोई नहीं। अतएव बौद्धों के परलोक संबंधी दुख दूर करने का प्रयत्न टिटिहरी के समान है, जो रात में आकाश के गिरने के भय से अपने पैर को ऊपर करके सोती है। इसका अभिप्रायः यह है कि वह अपने पैर पर गिरने वाले आकाश को रोक लेगी। ऐसी जनत्रुति है। जो उसकी अज्ञानता को प्रदर्शित करती है।

जैनाचार्य का कथन है कि यदि संसार में सत् (आत्मा) का विनाश होता तो पुन: इसी में यह वही है ऐसा ज्ञान संभाव नहीं होता। यदि असत् वस्तु की ही उत्पत्ति मानी जाय तो वह उसी प्रकार निर्मूल होगी जैसे बिना वृक्ष के फूल-फल की उत्पत्ति हो, परन्तु ऐसा नहीं होता है।[2]

यदि यह माना जाय कि वासना से प्रत्यविज्ञान रूप विकल्प ज्ञान की उत्पत्ति होती है तो निश्चय ही वह वासना पाँचों स्कन्धों से भिन्न नित्य हो जायेगी।[3] परन्तु हम जानते हैं कि यदि वस्तु को सर्वथानित्य मानें तो सर्वथा नित्य वस्तु में अर्थ क्रिया नहीं हो सकती है। अर्थ क्रिया से रहित वस्तु नहीं होती है। नित्य द्रव्य में गमन और स्थिति ही संभव नहीं है। इसलिए शुभ और अशुभ क्रिया भी उसमें नहीं होगी। यदि नित्य द्रव्य में उपचार से क्रिया मानी चाय तो वह भी असंभव है। यदि सबको असत् माना जाय तो गेय, ज्ञान, एवं अज्ञान का भी अभाव हो जायेगा। गुण-गुणी को अभिन्न मानने से वह प्रमाण विरुद्ध है। इसलिए प्रमाण से जो वस्तु असिद्ध हो वह परमतत्व नहीं हो सकती है। यदि गुण और गुणी में भेद माना जाय तो द्रव्य का अभाव हो जायेगा। अन्यथा अनन्त द्रव्य (आत्मा) होने का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। यदि संवाय संबंध को अभेद मानकर गुण-गुणी को अभिन्न माना जाय तो अनवस्था दोष उपस्थित हो जायेगा। अत:

---

1 वही, 5/42
ततो विज्ञान संतान व्यतिरिक्तो न काश्चन।
जीव संज्ञः पदार्थे अस्ति प्रव्यभाव फलोपभुक्।।

2 नयचक्र,। माइल्लधवल कृत। श्लोक 43: तथा यशस्तिलक, 8/126:
सोअहं योअभूवं बालवयसि निश्चिन्वक्षणिकमत जहासि।
तंतानोअप्यत्र न वासनापि पद्यन्वय भखस्तेन नापि।।8/126:

3 वही, 44-49: तथा चित्तं न विचारकमक्षजंनित्तमखिलं सविकल्पं स्वांश पतितमुदिता नि वस्तु नैव स्पृशन्ति शाक्या: कथमात्महितान्युशान्ति।। यशस्तिलक8/127:

द्रव्य (आत्मा) को क्षणिक विनाशशील नित्य भेद रूप असत्, व्यापक तथा एक स्वभाव शील नहीं कहा जा सकता है।[1]

यदि जीव को अनित्य माना जाय तो क्षणक्षण में नवीन उत्पन्न होने वाले चित्तों की संतिति में ध्यान की भावना ही नहीं रहेगी। क्योंकि इस क्षणिक वृत्ति में अपने द्वारा अनुभव किए हुए पदार्थों का स्मरण होना असंभव है।[2] सचमुच जीव को सर्वथा अनित्य मानने से ध्यान की भावना नहीं हो सकती है। क्योंकि ध्यान करने वाला जीव क्षण-क्षण में नष्ट हो जायेगा। यदि यह कहा जाय कि जीव अनित्य है, किन्तु वह नष्ट होते समय अपनी संतान छोड़ जाता है। इसलिए स्मरण में की बाधा नहीं आती है। बौद्धों की इस बात को जैनाचार्यों ने उचित नहीं माना है। क्योंकि जब जीव का निरन्वय नाश हो जाता है तब यह उसकी सन्तान है ऐसा नहीं कहा जा सकता है। यदि किसी तरह उसकी संतान भी लिया जाय तो सब क्षणिक है इस नियम में जीव के संतानों का समुदाय भी क्षणिक होगा। इसलिए इस दशा में ध्यान संभव नहीं हो सकता है। इसके अलावा ध्यान उस पदार्थ का किया जाता है, जिसका कभी अनुभव हुआ हो। परन्तु क्षणिक पक्ष में अनुभव करने वाला जीव और अनुभूति पदार्थ दोनों विनष्ट हो जाते हैं तो कौन किसका स्मरण करेगा। अर्थात् कोई किसी का अनुभव नहीं करेगा।

जैनाचार्यों ने कहा है कि जिस प्रकार एक पुरुष के द्वारा अनुभूत वस्तु का स्मरण दूसरे पुरुष को नहीं हो सकता है, क्योंकि वह उससे सर्वथा भिन्न है। उसी प्रकार अनुभव करने वाले मूल भूत जीव के नष्ट हो जाने पर उसके द्वारा अनुभव की वस्तु का स्मरण उसकी संतान प्रति संतान को नहीं हो सकता है। अत: मूल पदार्थों का निरन्वय नाश मानने पर संतान प्रतिसंतान के साथ उसका कोई संबंध नहीं रह जाता है। यह मान्य तथ्य है कि बिना अनुभूत वस्तु के स्मरण के ध्यान की इच्छा नहीं होगी। इसलिए ध्यान न होने से मोक्ष की प्राप्ति बौद्धों को नहीं हो सकेगी। इसलिए उनकी अष्टांगिक समाधि असंभव हो जायेगी।[3]

---

[1] वही, श्लोक 42:

[2] आदिपुराण, 21/243:

[3] आदिपुराम, 21/244:

बौद्धों की एक सम्प्रदाय जिसे वात्त्वि पुत्रियों के नाम से जाना जाता है। वह आत्मा को पुद्गल मानते हैं। तथा देह और पुद्गल तत्व को आपस में भिन्न-अभिन्न एवं अवक्तव्य कहते हैं। उनसे भी ध्यान की सिद्धि उसी प्रकार नहीं हो सकती है, जैसे आकाश पुष्प के गंध की कल्पना नहीं हो सकती है।[1] अर्थात् पुद्गल रूप आत्मा देह से भिन्न है। तो पृथक आत्मतत्व सिद्ध हो जाता है। यदि अभिन्न है तो देहात्मवाद (चारवाक) का सिद्धान्त आ जायेगा। यदि आत्मा अवक्तव्य है तो उसके किसी रूप का निर्णय नहीं हो सकता है। साथ ही उसे अवक्तवय् शब्द से भी इंगित नहीं किया जा सकता है। ऐसी दशा में ध्यान की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है।

जैनाचार्य ने कहा है कि विज्ञानवादी विज्ञान के अलावा किसी वस्तु को नहीं मानते हैं। इसलिए विज्ञान का कुछ विषय शेष नहीं बचता। अत: विषय के अभाव में विज्ञान के स्वरूप का निर्धारण असंभव हो जायेगा।[2] विज्ञान उसी को कहते हैं जो किसी गेय (पदार्थ) को जाने। परन्तु विज्ञानवादी विज्ञान के अलावा किसी पदार्थ की सत्ता को नहीं मानते हैं। इसलिए गेय पदार्थों के बिना निर्विषय विषय विज्ञान के स्वरूप का अभाव हो जायेगा। ऐसी दशा में ध्यान, ध्येय तथा मोक्ष आदि प्रसंग नहीं आयेगा। हम जानते हैं कि दीपक, सूर्य तथा अग्नि आदि प्रकाशक और घट-पटादि प्रकाश्य पदार्थों के रहते हुए ही पदार्थों का प्रकाशन हो सकता है।[3] अर्थात् जिस प्रकार प्रकाश एवं प्रकाश्य दोनों की उपस्थिति में ही किसी वस्तु का ज्ञान होता है, उसी प्रकार विज्ञान, विज्ञेय दोनों के रहने पर ही ध्यान ध्येय तथा मोक्ष का भाव बनेगा। परन्तु विज्ञानवादी केवल प्रकाशक (विज्ञान) की ही सत्ता मानते हैं। जो विचार करने पर सत्य सिद्ध नहीं हो सकती है। इसलिए उनके द्वारा ध्यानादि की कल्पना सिद्ध करना असंभव है।

यदि बौद्ध समस्त वस्तुओं को प्रतिक्षण विनाशशील मानते हैं तो बन्धन व मोक्ष दोनों का अभाव परिलक्षित होता है।[4] इसलिए इनके मत के प्रति श्रद्धा नहीं रखी

---

[1] वही, 21/245:

[2] वही, 21/247/

[3] वही, 21/248:

[4] यशस्तिलक, 6/106:
क्षयाक्षयैक पक्षत्वे बन्ध मोक्षक्षयागम:

जा सकती है। यह मत बाह्यरूप से मनोग्य आवश्यक प्रतीत होता है। परन्तु इनका मत दुष्ट अभिप्राय: एवं निन्दय आचरण से भरा होने के कारण विषफल के समान कष्टप्रद है।[1] अत: बौद्धों की अस्तुति तथा प्रशंसा नहीं करनी चाहिए। इनके विज्ञान एवं ज्ञान रूपी वशीकरण मंत्र विद्वानों को भ्रमित नहीं कर सकते हैं।[2] यह जगत को भ्रम रूप मानते हैं। इसके मत से केवल परमाणुपुंज रूप, क्षणिक ज्ञान ही तत्व है। परन्तु विद्वान बौद्धों के इस मत से प्रभावित नहीं हो सकते हैं। क्योंकि इस अद्वैतत्व (क्षणिक ज्ञान मात्र) में प्रतीक्षा हेतु व उदाहरण की स्थिति सिद्ध नहीं होती है।[3]

बौद्धों ने आत्मा को क्षणिक माना है। इसलिए एक क्षण के बाद वह नष्ट हो जाती है। इस स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि पूर्व में किए गए पाप व पुण्य कर्मों का कौन भोक्ता होगा। क्योंकि पूण्य जिस समय किया जाता है, उसी समय उसका फल प्राप्त नहीं होता है। एक ही समय में कारण कार्य रूप में परिणति नहीं होता है। इस लिए पदार्थों को अनेक क्षण स्थायी होने पर ही वह पर्याय के नष्ट होने पर द्वतीय आदि पर्याय के रूप में परिणति होगा।[4] परन्तु यदि बौद्ध कहें कि एक ही समय में पदार्थ की उत्पत्ति एवं विनाश होती है तथा वह विनष्ट पर्यायान्तर में परिणति न होकर निरन्वय विनाश रूप होने के पूर्वकृत पाप पुण्य का भी निरन्वय विनाश हो जाता है। इस पर जैनियों का कथन है कि निरन्वय विनाश के सदृश्य निरन्वय उत्पत्ति होने पर पाप पुण्यों की व्यवस्था, हिंसा-हिंसक, हिंसा व हिंसा का फल, अस्थिर क्षणिक पदार्थों से संभव नहीं

सात्विक कत्वसद्भाव स्वभावान्तरहानित:।।

[1] वही, 6/176:
अन्तद्र्दुरन्त संचारं बहिशकार सुन्दरम्।
न भ्रद्दाध्यात कुदृष्टिनां मतं कि पाकसंनिभम्र।।

[2] वही6/182:
तत्संस्तवं प्रशंतां वान कुर्वीतं कुदृष्टिजु।
ज्ञानंविज्ञान नयोस्तेषां विपश्चिन्त च विभ्रमेता।।

[3] वही, 8/126:
अद्वैतं तत्त्वं वदति कोअपि सुधिया धियमातनुतेनसोयपि।
पत्पक्ष हेतु दृष्टान्त वचन संस्था: कुतोअत्र शिवशर्म सदन।।

[4] सिद्धान्त सार संग्रह,परिच्छेद 4/25:
क्षणिक स्वीकृते जीवे क्षणादुर्ध्वं स्वभावत:।
पुण्यं पापं च तत्रापि क: प्राप्नोति पुरातनम्।।

है। इसलिए बौद्धों के मत को मानने पर कारण बिना कार्य की उत्पत्ति माननी पड़ेगी।[1] परन्तु यह बौद्ध मत के विपरीत है। क्योंकि बौद्ध कारण से कार्य मानते हैं।

अत: जब आत्मतत्व अकारण उत्पन्न होगा तो हिंसक मनुष्य हिंसा कार्य करता है ऐसा मानना उचित न होगा। यदि हिंसा एवं हिंसक बिना कारण के उत्पन्न हो जायेंगे तो हिंसा का हिंसक से कुछ भी संबंध नहीं होने से हिसंक को पापी अथवा निंदय मानना अनुचित होगा। इस परिस्थिति में किसी की मोक्ष मार्ग में प्रवृत्ति तथा मार्ग की स्थिति भी नहीं होगी। ऐसी स्थिति में मार्ग किसके कहा जाय, यह प्रश्न भी अनुत्तरित रह जायेगा। अत: वस्तुओं का निरन्वय विनाश या निरन्वयं उत्पत्ति मानना युक्ति संगत नहीं हैं।[2]

निरन्वय उत्पत्ति से यह नियम नहीं बनेगा कि जीव जीवत्व धारण करके ही उत्पन्न होगा। जीव अपना जीवत्व खोकर अजीव हो जायेगा और अजीव अपना अचेतन पना छोड़कर जीव हो जायेगा। अत: जब पदार्थों में नियात्मकता नहीं रहती तब जीव का परिणयम् जीव रूप ही होना तथा अजीव का परिणयम अजीव रूप ही होने की संबद्धता समाप्त हो जायेगी। इसलिए जीव-जीवादिक तत्व को शान्वय मानना चाहिए।[3] आत्मा को परमतत्व का भोगने वाली नहीं मानने पर यदि पूण्य व पाप के कारणों की कल्पना व्यर्थ हो जायेगी। इस प्रकार आगम में वर्णित पाप-पुण्य निरर्थक हो जायेगा। अत: आत्मा को कर्मफलों का भोक्ता मानना चाहिए।[4] जब हेतु एवं हेतु फल एक साथ नहीं

---

[1] वही, 4/26:
निरन्वय विनाशेतु हिंसा हेतोरभावत:।
तत्वभाकस्मिकं तेषां कथं मिथ्याद्दशांनहि।।

[2] सिद्धान्त सार संग्रह, 4/27:
तस्मिन्नकस्मिके तावद्धिसाहेतुनं हिंसक:।
प्रवृत्तिस्तु कथं मार्गे तत्र मार्गोअपि वाकथम्।।तथा द्रष्टव्य सूत्र कृतांक
षष्ठ अध्याय, बुद्ध भिक्खूगं सामिप्याय निरूवणपदं,26/29तक।

[3] वही, 4/28:
अन्याव्यावृत्तिरूपं स्याज्जगत्सर्वमिदं यदि।
जीवोअप्पयजीव एवास्य का कथा धर्म कर्मणि।।

[4] वही, 5/27:
कर्म भोक्तृत्वमप्यस्य सौगतानां निषेधकम्।

रह सकते हैं तो हेतु के नाश हो जाने पर फल की प्राप्ति नहीं हो सकती है। तब जगत को विज्ञान रूप मानने पर पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता है। इस स्थिति में बौद्धों द्वारा प्रतिपादित विज्ञान रूपी इन्द्रजाल की समाप्ति हो जायेगी।[1] बौद्ध अपने प्रतिपक्षीकरणों को नौरात्म के दूसरे पक्ष क्षणिक बाद को मानने के कारण किए हुए कर्मों का फल न भोगने एवं बिना किए कर्म के भोगने वाला हो जाता है। इसके अतिरिक्त बौद्ध परलोक का नाश मुक्ति का नाश तथा स्मरण शक्ति के अभाव आदि दोषों से युक्त होकर उनकी उपेक्षा करके अपने सिद्धान्तों को स्थापित करने का महान साहस करते हैं।[2] आत्मा की क्षणिकता के कारण वासना एवं क्षण संतति आपस में भिन्न-अभिन्न, अनुभय तीनों प्रकार से किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होती। इसलिए जिस प्रकार समुद्र में जहाज से उड़ा हुआ पक्षी समुद्र का किनारा न देखकर के बाद में उसी जहाज पर लौट कर आता है। उसी प्रकार कोई अन्य उपाय न होने से बौद्ध लोग जैन सिद्धान्तों को स्वीकार कर लेते हैं।[3] जैनियों के ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि पहले बुद्ध जैनी थे, जो भ्रष्ट हो बौद्ध मत का प्रतिपादन किए।[4] तदुपरान्त अपने प्रतिपादितों के मत के खंडन हो जाने के परिणाम स्वरुप पुन: जैन मत का अनुसरण करने लगे।

उपसंहार:

अनेक समानतांओ के रहते हुए भी आत्मा के प्रति जैन एवं बुद्ध दोनों के विचार भिन्न थे। बौद्ध अनात्मवादी थे तो जैन आत्मवादी। इसलिए इन दोनों धर्मों का आपसी वैमनस्य सदा स्थिर रहा। जैनाचार्यों ने बुद्ध के अनात्म संबंधी सिद्धान्तों को

तद्देतेपुण्य पापानां कारणं फल्गुतां ब्रजते।।

[1] अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिकास्तवन्: श्लोक 16:
न तुल्य काल: फल हेतु भावों हेता विलेलेन फलस्यभाव:
न संविद्द्वैत पथेअर्थ संविद विलन शीणं सुगतेन्द्र जालम्।।

[2] वही, 18:
कुष प्रणाशाकृतकर्मभोगभव प्रमोक्ष स्मृति भंगदोषान्।
अपेक्ष्य साक्षात् क्षणभंगमिच्छन्न हो महा साहिसिक: परस्ते।।

[3] वही, 19:
वासना सा क्षणसन्ततिश्च नाभेदानुभयैर्थटते।
ततस्तटादशिंशकुन्तपोत न्यायत्वदुक्तानि परेश्रयन्तु।।

[4] दर्शन शास्त्र, श्लोक 6 से 9 तक:

अनुचित बताकर उसकी आलोचना की है। बौद्धों के अनात्मवाद के सिद्धान्त के सभी पक्षों को सृष्टि में रखे बिना ही जैनियों ने इसका खंडन किया। जैनाचार्य उनकी अवक्तव्य विज्ञान संतान, क्षणिक तथा अभाव आदि रूपों से व्याख्या कर खंडन प्रस्तुत किया हैं। जैनाचार्यों ने अनात्मवाद सिद्धान्त का व्यवहिरक दृष्टिकोण से खंडन किया है। जबकि बुद्ध ने आत्मा और ईश्वर एवं जगत के प्रति उत्पन्न प्रश्नों के उत्तर में उसे अव्याकृत अवश्य कहा था।[1] परन्तु इसका सम्बन्ध अनात्मवाद से नहीं था। यहाँ इनके अनात्मवाद का अर्थ आत्मा नहीं था। जैनाचार्यनि इनके अनात्म का संबंध आत्मा से जोड़कर उसका खंडन किया है। जो उन्हें बौद्धों के अनात्मवाद की अनभिज्ञता को प्रदर्शति कराता है।

जैनियों ने बुद्ध को आत्मा के प्रति मौन रहने के कारण उन्हें आत्मा के अभाव की पुष्टि करने वाला बताया है। जबकि बुद्ध के निम्न उपदेश से स्पष्ट हो जाता है कि वह आत्मा से अनभिज्ञ नहीं थे। उन्होंने अपने उपदेश में कहा है कि भिक्षुओं आत्मदीप बनकर विचरण करो, आत्मा की ही शरण तो तथा धर्म ही तुम्हारा दीपक है और वहीं तुम्हारा शरण स्थल है। अन्य का शरण न तो, तथा अप्रमादधपूर्वक जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करो।[2] इतना ही नहीं धम्मद में उन्होंने कहा है कि आत्मा ही आत्मा का स्वामी है। कोई अन्य उसका स्वामी नहीं हो सकता है।[3] बुद्ध के अनात्मवाद का सम्बन्ध आत्मा के अभाव से कदापि नहीं था। परन्तु जैनों ने अनात्म का संबंध आत्मा कर उसका खंडन किया। वास्तव में सिद्धसेन ने बुद्ध के अनात्म का अर्थ आत्मा के अभाव से किया है। उनके स्वभाषी प्रमाण को एकान्तिक माना है। तथा अपने स्वपराभाषि प्रमाण को अनेकान्तिक मानकर आत्मा को सिद्ध किया है। इस प्रकार सिद्धसेन बौद्धों के अनात्म का अर्थ आत्मा के अभाव से किया है। जैनाचार्यों ने अनात्म का अर्थ आत्मा के अभाव अथवा उसके क्षणिक स्वभावी होना मानकर उसका खंडन किया है। इसके अतिरिक्त समन्त भद्र ने बुद्ध को आत्मा को अव्याकृत को अनात्म से जोड़कर उन्होंने बाह्य, उभय, अनुभव आदि किसी भी प्रकार की सत्ता से न मानने को कहा है। उन्होंने युक्तानुशासन में क्षणिकता का खंडन कर आत्मा के अस्तित्व को अनेक क्षण स्थायी मानने के लिए

[1] दीघ निकाय, पोट्ठयाद सुत, पृ0 156:

[2] महापरिनिब्बान सूत्र,

[3] धम्मपद, 180:

बौद्धों को बाध्य किया है। जबकि बौद्ध आत्मा के क्षणिकता की बात कभी नहीं करते हैं। अत: स्पष्ट हो जाता है कि जैन आचार्य ने बौद्ध के अनात्म का उनसे अलग अर्थ ही समझा।

हरिभद्र ने भी अनात्मवाद का दो अर्थ किया है। प्रथम अभावात्मक, तथा दूसरा क्षणिकात्मक। इससे स्पष्ट होता है कि इन्होंने भी बुद्ध आत्मवाद को समझने की कोशिश नहीं की। अष्ट सहस्त्री में आप्त मीमांसा के श्लोकों की व्याख्या करके जीव के अस्तित्व की सिद्ध कर बौद्धों के अनात्मवाद का निर्समन किया गया है। जिससे भी बौद्धों के अनात्मवाद न समझने का प्रसंग उपस्थित हो जाता है। इतना ही नहीं जैनों का कथा साहित्य आदि पुराण, यशस्तिलक में भी अनात्मवाद का खंडन किया गया है। इनमें आत्मा के अभाव के रूप में ही बौद्ध अनात्मवाद को प्रस्तुत किया गया है। अथवा उसको क्षणिक मानकर उसका खंडन किया गया है। इसमें जैन कथाकार भी अपने अन्य आचार्यों (पूर्ववर्कीं) की परंपरा का ही पालन किया है। इस प्रकार जैनियों के बौद्ध अनात्मवाद के अर्थ से विमुक्त होना सुनिश्चित किया जा सकता है। इसके अलावा सिद्धान्त सार संग्रह में नरेन्द्र सेना चार्य ने भी अनात्मवाद का सूक्त अर्थ ग्रहण करके उसके अनस्त्वि का खंडन किया है।

परन्तु अकलंक ने राजवार्तिक में। अविद्या प्रत्यया संस्कारा: की तत्वावार्तिकम में व्याख्या करके बौद्धों एवं अपने सिद्धान्तों को एक जैसा बताकर उनके प्रति अपनत्व का प्रदर्शन किया है। जिससे स्पष्ट होता है कि इस जैनाचार्य ने किसी न किसी रूप में बौद्धों को आत्मसात करने का प्रयत्न किया है। जैनाचार्यों के अनुसार बौद्धों के दर्शन को परिशुद्ध पयांनयन का विकल्प कहा है।[1] चूँकि प्रमाण से सभी पदार्थ अनेक धर्मी होते है, उकन एक भी वच्छिंत पक्ष के रूप में प्रतिपादन करना ही नय वाद कहलाता है। और यदि वह अभिप्राय: एकान्तिकता के बावजूद उस वस्तु के दुसरे अन्य विवक्षित पक्ष के प्रति उदासीन हो तो वह परिशुद्धनय वाद कहलाता है। इस प्रकार बौद्ध धर्म अनित्ययी कान्तवादी होने से कृत अकृत कर्मों का क्रमश: अभोक्ता और भोक्ता हो जायेगा। तब इस क्षणिकता से संसार एवं मोक्ष दोनों की गति व्यर्थ होगी। तथा

[1] सन्मति प्रकरण, 48:। शुखलाल। कृत व्याख्या , पृ090:

निरन्वय विनाश मानने पर उत्तर क्षण की उत्पत्ति संभव नहीं होगी। इसलिए इस प्रकार से पदार्थों को सर्वथा विनाश स्वभावी मानना उचित नहीं है। क्योंकि वस्तु के पूर्वरूप का परित्याग न करना ही उसका स्वरुप होता है।[1] अंत में जैनाचार्य हेम चन्द ने अपने ग्रंथ में समुद्र में जहाज पर से उड़े पक्षी को जिस प्रकार कोई आलम्ब न पाकर उसी पर आना पड़ता है, वैसे ही निरालम्बित बौद्ध महाबीर के शिश्वत्व को ग्रहण कर लेते हैं। यह दर्शनसार के उस वक्तव्य को ध्यान दिलाता है कि जहाँ यह कहा गया है कि भगवान बुद्ध पहले पार्श्वनाथ के शिष्य थे। बाद में भ्रष्ट आचार हो, भ्रष्ट धर्म का प्रतिपादन किए। इससे लगता है कि जैनियों ने बौद्धों को आत्मसात करने का प्रयत्न किया। जिसमें वह किस हद्द तक सफल हुए यह नहीं कहा जा सकता है।

वास्तव में दोनों धर्मों में आत्मा को लेकर मत भेद है। जैनियों ने इसका स्वतंत्र अस्तित्व मानकर उसकी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया है। परन्तु बौद्धों ने उसके अस्तित्व का उत्तर मौन रह कर दिया है।[2] बुद्ध वैदिक यज्ञों के कारण आत्मशब्द से घृणा[3] कर जनसाधारण का ध्यान उधर से हटाकर व्यवहारिक सदाचार की ओर किया।[4] संभवत: उनका संकेत सदा अनश्वर, अजन्मा सत्ता की ओर था।[5] इसीलिए आत्मा के अस्तित्व के प्रश्न को अव्यकृत कोटि में रखा।[6] इन्होनें विज्ञान संतति का निरोध ही निर्वाण माना।[7] जो प्रदीप के बुझने के सदृश है।[8] तथा इसे अविद्या एवं संस्कार जन्य माना।[9] इसके निराकरण के लिए अषटांगिक मार्ग का उपदेश दिया।[10] अत: बुद्ध का अनात्मवाद न तो साख्य के आत्मवाद का विकास था[11] और न उसका तात्पर्य स्नायु

---

1 प्रमेय रत्न माला,। लघु अनन्तबीयं। , पृ0 268:

2 चतु:शतक, अध्याय 10:

3 जैन, महेन्द्र कुमार, जैन दर्शन, पृ0 217:

4 उपाध्याय बलदेव, बौद्ध दर्शन मीमांसा , पृ0 46:

5 खुद्द्क निकाय, खंड 1, पृ0 163:

6 मज्झिम निकाय, खंड 2, पृ0 113:

7 महावग्ग, (ना) पृ0 13:

8 उपाध्याय बलदेव, बौद्ध धर्म दर्शन पृ0 225:

9 सौंदरानन्द, 16, 28, 29:

10 संयुक्त निकाय, खंड 1, पृ0 14:

11 शेरवास्की, द शोल हिस्ट्री ऑफ बुद्धिज्मपृ0 824:

तन्तुओं युक्त चेतना का अभाव ही था।[1] परन्तु वह अपने आप में एक पूर्ण सत्ता थी। आत्मा के प्रति उनका मौन का कारण यह था कि बिना जान उसके प्रति कुछ कहना ठीक नहीं है। इसी को बुद्ध का अवक्तव्य शब्द से सम्बोधित किया था। जैनियों ने इसकीअलग व्याख्या प्रस्तुत कर उनको अपनी आलोचना का भाजन बनाया। अर्थात् जैनियों ने बुद्ध के आत्मा सम्बन्धी अवक्तवयता को अपनी बुद्धि के अनुरुप व्याख्या कर उसकी आलोचना की है। जिससे स्पष्ट हो जाता है कि जैनाचार्यों ने बुद्ध अनात्म का कुछ पक्ष ही ग्रहण कर उसका खंडन प्रस्तुत किया है, जो सर्वथा उचित नहीं है।

[1] रीजडेविड, बुद्धिज्म,आउट लाइन ऑफ बुद्धिज्म पृ0 46

चतुर्थ अध्याय

जैन साहित्य में प्रतिबिम्बित बौद्ध क्षणिकवाद

प्राय: बौद्ध धर्म के सभी सम्प्रदाय पदार्थों को क्षणिक मानते हैं।[1] हीनयानी पदार्थों की बाह्य सत्ता स्वीकार करते हैं तथा महायानी बाह्य पदार्थों की सत्ता को असत्य मानते हैं। इसलिए हीनयानियों को भी लक्ष्य करके जैनाचार्यों ने उन्हें क्षणिकवादी कहा है। बौद्ध हीनयान में भी दो समप्रदायों का समावेश है। जिसमें प्रथम वैभाषिक जो जगत् की समस्त सत्ता को क्षणिक मानते हैं। परन्तु उसकी सत्ता को प्रत्यक्ष मानते हैं। तथा दूसरा सम्प्रदाय सौतांत्रिक है। जो क्षणिकता को आधार मान जगति की सत्ता को अनुमेय मानते हैं। इनका मत है कि जगत् के पदार्थों के क्षणिक होने के कारण जब तक उनका हमें ज्ञान होगा वे नष्ट हो गयीं होगी। इसलिए इनके ज्ञान के समय उनका अनुमान ही शेष बचा रहता है।[2] इसका कारण पदार्थों के स्वरुप का अनुमान ही किया जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उनका मत विशेष रुप से पदार्थों के क्षणिकता पर टिका है अत: संभवत: इन्हीं की आलोचना करते हुए, जैनाचार्यों ने इन्हें क्षणवादी कहा है। इनका मत है कि वस्तुओं का स्वभाव क्षणिक होने के कारण ज्ञान क्षण में वस्तु नष्ट हो गयी रहती है। इसलिए उसका अनुमान ही किया जा सकता है।[3] वस्तुत: इनकी दृष्टि में सभी धर्मों की सत्ता अनुमान-गम्य ही मानी जा सकती है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु क्षणिक होने के कारण जब तक उसका ज्ञान प्राप्ति होता है, वह उत्पन्न होकर नष्ट हो गयी होती है। इस स्थिति में उसके द्वारा मानव पटल पर उत्पन्न सम्वेदन ही शेष रह जाता है। इस दशा में किसी वस्तु का नीला-पीला स्वरूप प्रत्यक्ष होते ही मानव के मानस पटल पर अंकित हो जाता है। उसी को चित्त देख कर उसे उत्पन्न करने वाली वाह्यवस्तु का अनुमान कर लेता है।[4] जैनाचार्यों के मत से अन्य सभी

---

[1] लंकावतार, 6/9
शून्यमनित्यं क्षणिकं बालाः कल्पेन्ति संस्कृतम।
नदी दीप बीज दृष्टान्तैः क्षणिकार्थों विकल्प्येते।।
द्रष्टव्य, सूत्र कृतांक टीका, पृ0 59-60

[2] षडदर्शन समुच्चय, (राजशेखर) 45, प्रमेय रत्नकोष, षडदर्शन समुच्चय, टीका

[3] गुण रत्न, पृ0 45, श्लोक 11 परः
"अर्थोज्ञान समन्वितो मसिमता वैभाषिकेणोच्यते।
प्रत्यक्षो नहि बाह्य वस्तु विसरः सौत्रान्तिकैराश्रितः।।"

[4] सर्वसिद्धरन्त संग्रह, पृ0 13,
नील पीतादिभिश्चमबुध्याकारे रिहान्तरे,

दार्शनिक सम्प्रदाय जगत् की वस्तुओं का स्वभाव क्षणिकता सम्बन्धित नित्यता मानते हैं। परन्तु बौद्ध वस्तुओं को क्षण स्वभावी मानते हैं। यही उन्हें उनसे पृथक कर देता है।[1]

क्षणिकवादियों का कोई स्वतंत्र ग्रंथ भारतीय भाषा में उपलब्ध न होने से उनके सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने के लिए अन्य बौद्धेत्तर। धार्मिक एवं दार्शनिक ग्रंथों पर निर्भर होना पड़ता है। वस्तुत: सर्वास्तिवादियों के अभिधम्मकोश को इस सम्प्रदाय का प्रतिपादक ग्रन्थ माना जाता है। परन्तु लंकावतार में भी इसका विवेचन हुआ है।[2] सौतांत्रिको को क्षणिकवादी कहा जा सकता है। इसका प्रादुर्भाव सर्वास्तिवादियों से ही हुआ प्रतीत होता है। कुछ बौद्ध ग्रंथ सौतांत्रिक एवं संक्रान्तिकों में अभिन्नता मानते हैं। परन्तु शारिपुत्र परिपृच्छा-सूत्र एवं दीपवंश में इन्हें भिन्न बताया गया है। जन्म-जन्मान्तर में स्कंधों का शंक्रमण मानते के कारण इन्हें संक्रान्तिक कहा जाता है तथा सूत्रपटक को प्रमाण मानने के कारण इन्हें सौतांत्रिक कहा जाता है।[3] इसकी पुष्टि यशोमित्र में अभिधम्म कोश की व्याख्या में की है।[4] उपर्युक्त बातों से स्पष्ट हो जाता है कि क्षणिकवाद सर्वास्तिवाद का मुख्यअंग था।

श्वान-च्वांग ने इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक का नाम आनन्द बताया। तथा भव्य के उत्तर नाम धरी व्यक्ति को इस सम्प्रदाय का प्रवर्तक माना है।[5] संभवत: इसी कारण तिब्बती परंपरा में इस सम्प्रदाय को उत्तरीय नाम दिया गया है। एक अन्य स्थान पर श्वांन-च्वांग कुमार लात को (कुमार लब्ध) को इस सम्प्रदाय का प्रवर्तक बताया गया है। जिसकी पुष्टि तारानाथ भी करते हैं। इन विविध आचार्यों को इस मत का प्रवर्तक माना गया है। तारानाथ संक्रान्तिवाद उत्तरीय ताम्रशदियों के साथ-साथ द्राष्टिंकितों को भी इसी संप्रदाय का मानते हैं। संभवत: इस शाखा के प्रवर्तक कुमारलात के ग्रंथ कल्पनामंडिसिका द्रष्टांत पंक्ति के आधार पर तारा नाथ ने इस सम्प्रदाय को द्राष्टांकित

सौत्रान्तिकमते नित्यं बाह्यर्थस्त्वनुमीयते।।

1 शास्त्रवार्ता समुच्च (महेन्द्र नाथ जैन) टिप्पणी, पृ0 59

2 लंकावतार, क्षणिक परिवर्तन, पृ0 90-77 तकः

3 पॉण्डेय गोविन्द चन्द्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ0 282

4 अभिथम्कोश, की व्याख्या (पृ0 11) (यशोमित्र)
कः सौवांत्रिकार्थः ये सूत्रपिटका न तु शास्त्र प्रमाणिकास्तेसौत्रान्तिकाः

5 पॉण्डेय गोविन्द चन्द्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ0 282

मान लिया है। इनके सिद्धान्तों का विवरण बसुबन्धु के अभिधम्मकोश से प्राप्त होता है। इसका विवरण प्रस्तुत करते गोविन्दचन्द्र पाण्येय ने कहा है कि इस ग्रंथ में सौतांत्रिक को बाह्यवस्तु की सत्ता को अनुमानगम्य मानने वाला कहा है।[1] इन मतावलम्बियों के अनुसार परमाणु निरवयव होते हैं। जिसके कारण उनमें परस्पर स्पर्श नहीं होता है। इनके मत से जगत की प्रत्येक वस्तु स्वभावत: अनित्य क्षणिक एवं विनाशशील है। ये रूप का अर्थ वर्ण को मानते हैं। इनमें इन्होंने आकार को निमज्जित नहीं किया है। इनके अनुसार समस्त पदार्थ दुखमय है। जगत् के सभी पदार्थ संस्कृत व असंस्कृत दो प्रकार के होते हैं। इनके अनुसार संस्कृत अथवा अंस्कृत पदार्थ सत् नहीं है। निर्माण के संदर्भ में आचार्य श्री लब्ध का विशिष्टमत है कि प्रतिसंख्या निरोध तथा अप्रतिसंख्या निरोध में किसी प्रकार का भेद नहीं है। प्रतिसंख्या निरोध से तात्पर्य प्रज्ञा के कारण भविष्य में उत्पन्न होने वाले समस्त क्लोषों के न होने से है तथा अप्रतिसंख्या का अर्थ क्लेषमूलक दुखानुत्पत्ति है। इनके अनुसार ज्ञान स्वसम्वेद्य है तथा चित्त विप्रयुक्त धर्म प्रज्ञप्ति मात्र है। ये आयु को द्रव्य नहीं मानते हैं। इनके अनुसार संस्कृत लक्षण प्रज्ञात होते हैं। अतीत अनागत, वस्तु सत्य नहीं है तथा अविज्ञप्ति का भी अस्तित्व नहीं है।[2] इस मत के अनुसार, वितर्क, विचार, समाधि एवं सम्प्रसाद तथा आध्यात्म परस्पर भिन्न हैं। इनके अनुसार न कोई दर्शक इन्द्रिय है न रूप द्रष्टव्य है एवं न कोई दर्शक क्रिया है न कोई कर्ता है। सब हेतु फल मात्र हैं। समाधि एकचित्त सन्तति है तथा चेतना मानस कर्म नहीं है। ये सभी धर्म को निरात्मक मानते हुए सभी धर्मों का वर्णन करते हैं।[3] अंगुत्तर निकाय[4] एवं धम्मपद[5] में इस दर्शन की भूमिका प्रस्तुत की गयी है। परन्तु इस वर्णन से जगत् की समस्त वस्तुओं का पूर्णत: अनित्यात्मक एवं क्षणिकात्मक प्रकृति का दर्शन नहीं होता है। सम्भवत: तथागत के इन्हीं वचनों के आधार पर क्षणिकवादी दर्शन का विकास हुआ। इनके अनुसार समस्त स्वलक्षण पदार्ख क्षणिक एवं परमाणु रूप है।

---

1 वही, पृ0 283

2 माध्यमिक कारिका वृत्ति, पृ0 444
तथा सौत्रान्तिमकतेअती तानागतं शून्यमन्यदशून्यन्

3 आलम्बन परीक्षा, पृ0 112-115

4 अंगुत्तर निकाय, 4/195

5 धम्मपद, 13/4, 20/5

उपर्युक्त विवरण से क्षणिकवाद (सर्वास्तिवाद) का संक्षिप्त परिचय उपलब्ध हो जाता है। इसके आधार पर जैनियों द्वारा इनके संदर्भ में दी गयी व्याख्या की (आलोचनात्मक) समालोचना की जा सकती है। इसलिए जैनियों का इनके संवंध में विचार प्रस्तुत करना आवश्यक प्रतीत होता है। वस्तुओं को क्षण-स्वभावी मानने पर जैनियों का कथन है कि वस्तुएँ स्वभावत: जिस क्षण में उत्पन्न होती हैं उसी क्षण में विनष्ट हो जाती हैं। इससे इन पर देशकाल की व्याप्ति का प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए।[1] जैनियों के अनुसार क्षणवाद स्वीकार करने पर स्मरण एवं निर्वाण संभव नहीं होगा, क्योंकि ज्ञान क्षण के समय वस्तुएँ नष्ट हो गयीं रहती हैं।[2] इसी प्रकार दूसरे क्षण में ज्ञान भी नष्ट हो जायेगा। ऐसी स्थिति में बुद्धि का पूर्वापर कोटिक के ज्ञान से विमुक्ति मानना व्यर्थ है।[3] क्षणिकता को जानने वाला कोई ज्ञापक नहीं रह सकेगा तथा संतान भी सर्वथा भिन्न रहने पर वासना का अभाव हो जायेगा।[4] अत: क्षणिकता के अतिरिक्त विविध चित्तों में कार्यकारण भाव असंभव हो जायेगा। क्योंकि जो चित्त क्षण-क्षण विनश्वर माने गये हैं उन्हें किसी के समान कहकर कार्यकारण भाव की कल्पना नहीं की जा सकती हैं तथा हेत्वापेक्षी स्वभाव के समान रुप मानने पर भी कार्यकारण भाव की पुष्टि नहीं की जा सकती है क्योंकि कार्यचित्त सत् या असत् किसी रुप में हेत्वापेक्ष नहीं हो सकता है।[5] इसमें सत् असत् रुप कोई हेतु नहीं होता है। तथा इसके उदय व नाश

---

[1] प्रमेय रत्नमाला में उद्दत 4.1
यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः।
न देशकाल योर्व्याप्तिर्भावानानिह विद्यते।।

[2] एकविंशति दवात्रिंशिका, 15/15
समोहात्स्मरणा तत्वकलाभावान्न कर्मणः।
क्षणिकत्वादि शुद्धेश्च निर्वाणंश्च प्रदीपवत्।।

[3] वही, 15/20
न पूर्वा नपरा कोटो विद्यते वाक् फकं मतेः।
पूर्वविप्रतिषेधस्तु हेतुप्रत्यय संभवात्।।

[4] युक्तानुशासन, कारिका, 11
हेतुर्न दृष्टोअत्र न चाअप्तदृष्टो, योअयं प्रवादः क्षणिकआत्मवाद।
न ध्वस्तमन्यत्र भावे द्वितीये, सन्तान भिन्ने नहि वासनाअस्ति।।

[5] युक्तानुशासन, 12
तथा न तत्कारण कार्य भावो, निस्वयाः केन समान रुपाः।

का कोई कारण नहीं होता है।[1] यदि पदार्थ को प्रलय स्वभाव का माना जाय तो एक तरफ किए गए कर्म का नाश तथा दूसरी तरफ बिना किया गया कर्म का फल भोगने का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। ऐसी स्थिति में कर्म पर विचार तथा उसके उपदेश द्वारा किसी मार्ग की व्याख्या नहीं की जा सकती है।[2] इसलिए बौद्धों द्वारा दिया गया सभी उद्देश्य अस्तित्वहीन हो जायेगा। जैनियों ने बौद्धों के इन विविध दृष्टियों को विभ्रान्त दृष्टि कहा है।[3] इनके अनुसार पदार्थों को क्षण-क्षण निरन्वय विनाशी मानने पर मातृघाती, स्वयति, स्वस्त्री, दिए हुए धन की वापसी, अधिगत की स्मृति, कत्वाप्रत्यय का अर्थ, कुल एवं जाति[4], शास्ता तथा शिष्य आदि की व्याख्या करना असंभव हो जायेगा।[5] यदि बौद्धों की तरफ से उक्त व्याख्या को विकल्प बुद्धि मान कहा जाय कि सारी विकल्पबुद्धि मिथ्या है तो इस स्थिति में उक्त सभी की व्यवस्था भी मिथ्या हो जायेगी। ऐसा मानने पर बौद्धों की तत्व-चितंन में रस निर्विकल्पबुद्धि की अवधारणा असंभव हो जायेगी। वे तत्व अतत्व के प्रति विकल्पबुद्धि का उपयोग करते हैं, इसलिए उनकी निर्विकल्पबुद्धि संदिग्ध प्रतीत होती है।

असत्यपुष्पं न हि हेत्वपेक्षं दृष्टं न सिद्धयत्युभयोरसिद्धम्।।

[1] वही, 13,
नैवाअस्ति हेतुः क्षणिकात्मवादे, न सत्तसन्वा विभवाद्दकस्मात्।
नाशेदयैकक्षणता च दुष्टा सन्तानभिन्न कक्षयोरभावात।।

[2] वही, 14
कृत प्रणाशाअकृतकर्मभोगौ स्यातामसन्चेतित कर्म च स्यात्।
आकस्मिकेअर्थे प्रलयस्वभावे मागों न युक्तो वधकश्च न स्यात्।।

[3] वही, 15
न बन्ध मोक्षौ क्षमिकैक संस्थौ न संवृत्ति साअपि मृषा स्वभावा।
मुख्याद्दते गौण विधिर्नदृष्टो विभ्रान्त-दृष्टस्तव दृष्टितोअन्या।।

[4] युक्तानुशासन, 15
प्रतिक्षणं भंगिषु तत्पृथक्त्वान्नमातृधाती स्वपतिः स्वजाया।
दत्तग्रहोनाअधिगत स्मृतिर्न न कत्वार्थ सत्यं न कुलं न जाति।।

[5] वही, 17
न शास्तृ शिष्यादि विधि व्यवस्था विकल्प बुद्धिर्वितथाअखिलाचंत्।
अतत्व तत्वादि विकल्प मोहे निमज्जतांवीत विकल्पथीः का

क्षणवादियों के अनुसार जगत् की सभी वस्तुएँ दोषयुक्त कर्मों से उत्पन्न हो क्षणभर रह कर नष्ट हो जाती है।[1] इनके विनाश अकारण ही होते हैं। यह अर्थक्रिया करने में समर्थ होते हुए रुप रुपान्तरण धारण करते हैं तथा उन्हें नष्ट होते देखा जा सकता है।[2] परन्तु जैनियों के अनुसार क्षणवादियों की उक्तवाद को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त क्षणवाद को स्वीकार करने पर स्मरण असंभव हो जायेगा तथा बाह्य पदार्थों की पुष्टि हो जायेगी। जबकि बौद्ध (विज्ञानवादी) बाह्य जगत् के अस्तित्व से इनकार करते हैं।[3] यदि जगत् की वस्तुओं को अनित्य माना जाय तो जैसा कि बौद्ध मानते हैं, पूर्वानुभूति वस्तुओं का स्मरण नहीं हो पायेगा।[4] क्योंकि एक क्षण में नष्ट वस्तु का स्मरण दूसरे क्षण में ही होगा तथा इससे बाद वाले क्षण में स्मरण का भी नाश हो जायेगा जिससे किसी वस्तु का ज्ञान असंभव हो जायेगा। इसके अलावा क्षणिकवाद का अवलम्बन करने पर यह वही शिष्य है, अथवा यह वही गुरू है नहीं माना जा सकता है। अत: क्षणिकवादियों के मत का आलम्बन करते हुए किसी वस्तु को देखकर उसे प्राप्त करने की कामना नहीं करनी चाहिए। क्योंकि जिस वस्तु का हमने एक क्षण में अनुभव किया वह दूसरे क्षण विनष्ट हो जाती है। इसलिए जैनियों के अनुसार बौद्धों को चाहिए कि वह अनुलब्ध वस्तु को पाने की इच्छा न करे। क्योंकि उनके सिद्धान्त को मानने पर किसी भी वस्तु की प्राप्ति करना असंभव है।[5] अत: वस्तु

---

[1] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 4/235
मन्यन्तेअन्ये जगत् सर्व क्लेशकर्म निबन्धनम्।
क्षणिक्षयि महा प्रज्ञा ज्ञान मात्रं तथा अपरे।।

[2] वही, 4/239
त आहुः क्षणिकं सर्व नाश हेतो रयोगत्।
अर्थक्रिया समर्थत्वात् परिमात् क्षेयक्ष्यात्।।

[3] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 241
अत्राप्यभिदधत्यन्ये स्मरणांदेर संभवात्।
बाह्यार्थ वेदनाच्चैव सर्वमेतदपाथकम्।।

[4] वही, 4/242
अनुभूतार्थ विषयं स्मरणं लौकिकं यतः।
कालान्तर तथाअक्षित्ये मुख्यमेतन्न युज्येते।।

[5] वही, 4/243
सोअन्तेवासी गुरुः सोअयं प्रत्यभिज्ञाअप्य संगता।

के पाने की इच्छाकर उसे न पाने पर कष्ट होना स्वाभाविक है। इसलिए कष्ट को जान कर उठाना उत्तम नहीं है। इतना ही नहीं क्षणवाद के अनुगमन से कृतकार्य का फल भी नहीं प्राप्त हो सकता है। अत: जैनियों का मत है कि इस स्थिति में बौद्धों को चाहिए कि वह शीलयुक्त आचरण न करें, क्योंकि कृतकार तत्क्षण नष्ट हो जायेगा। इस स्थिति में उनके अच्छे फल की आशा व्यर्थ है।[1]

उपर्युक्त आलोचना का प्रतिवाद करते हुए क्षणिकवादी यदि क्षण संतान की कल्पना से सभी व्यवहारों को सिद्ध करते हुए कहें कि संतान एक ही है इसलिए उक्त सभी व्यवहार संभव है।[2] बौद्धों के अनुसार कर्मवासना जिस क्षण संतान में जन्म पाती है उसी में वह आगे चलकर फल देती है। इसका उदाहरण प्रस्तुत करते हुए क्षणिकवादियों का कथन है कि यह क्रिया उसी प्रकार होती हैं, जिस प्रकार लाल रंग से रंगा कपास का बीज ही बपन करने पर लाल रंग की कपास प्रदान करता है।[3] जैनियों द्वारा बौद्धों के संदर्भ में वर्णित इस उदाहरण की पुष्टि होती है या नहीं यह प्रश्न संदिग्ध है। परन्तु जैनियों द्वारा प्रस्तुत उदाहरण के लिए यह संभव है कि किसी अज्ञात बौद्ध ग्रंथ से उद्धत किया है।

जैनाचार्य का कथन है कि बौद्धों (असत्कार्यवादियों) की कार्यकारण भव की कल्पना क्षणिकवाद के प्रतिपादन की एक उपाय मात्र है।[4] क्योंकि क्षणिकवादियों की

इष्टकौतुक मुदवेगः प्रवृत्तिः प्राप्तिरेव च।।

[1] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 4/244
स्वकृतस्योपभोगस्तु दूरोत्सारित एबहि।
शीलानुष्ठान हेतुर्यः स नश्यति तदैवयत।।

[2] वही, 4/245
संतानापेक्षयाअस्मकां व्यवाहारोअखिलोश्रतः।
स चैक एव तस्मिश्च सति कस्मान्त युज्यते।।

[3] वही, 4/246
यस्मिन्नेव तु संताने आहिता कर्मवासना।
फलं तत्रैव संघत्ते कापसे, रक्तता यथा।।

[4] वही, 4/247
एतदप्यक्तिमात्रं यन्नं हेतु फल भावतः।
संतार्नोअन्यस चायुक्त एवासत्कार्यवादितः।।

मान्यतानुसार एक उपादान कारण अपनें कार्य के जन्म के समय उपस्थित नहीं रहता है तथा कार्य अपने कारण के स्थिति काल में अनुपस्थित रहता है। इसलिए असत्कार्यवाद की पुष्टि क्षणिकवाद से हो जाती है।

निर्हेतुक विनाश:

प्रत्येक वस्तु क्षणिक है इसके नाश का कोई कारण संभव नहीं है।[1] बौद्धों की इस मान्यता के लिए कहा जा सकता है कि यदि वस्तु नश्वर रूप में अपने कारण से उत्पन्न हो तो उसके नाश का कोई कारण संभव नहीं है। जब नाश का कोई कारण संभव नहीं है तो वस्तु नष्ट नहीं होगी। इसलिए वस्तु को अनश्वर रूप में अपने कारण से उत्पन्न होना कहना अयुक्तपूर्ण है। क्योंकि कोई वस्तु जब नष्ट ही नहीं होगी तो उसको अपने कारण से नष्ट हुई कहना व्यर्थ है।[2] जैनियों के अनुसार वस्तु किसी कारण पर निर्भर करती हुई एक विशिष्ट कार्य को जन्म देती है। इसे आधार मानकर कहा जा सकता है कि वस्तु किसी कारण पर आधारित होकर विनष्ट हो जाती है।[3] इसे उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। यथा आदि वस्तु ब, अ के कारण स को जन्म देती है। इस स्थिति में ब एवं स एक समान नहीं होगें। इसलिए कहा जा सकता है कि अ के कारण ब का विनाश हो स का जन्म हुआ। परन्तु यदि वस्तु अपने कारण से ही उत्पन्न हो सहकारी कारण की उपस्थिति में विशिष्ट कार्य को जन्म देती है[4] तो इस स्थिति में कहा जा सकता है कि वस्तु अपने ही कारण ऐसा स्वभाव लेकर उत्पन्न है कि वह “अ”की

---

[1] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 6/414
यच्चोक्तं पूर्वमत्रैव क्षणिकत्व प्रसाधकम्।
नाशहेतोर योगादि तदिदानीं परीक्ष्यते।।

[2] वही, 6/425
हेतोः स्यान्नश्वरो भावोअनखरोवाविकल्पयम्।
नाशहेतोरयोगित्वमुच्यते तन्त्र युक्तिमतः।।

[3] वही, 6/416
हेतुं प्रतीत्य पदसौ तथा नश्वरइश्यते।
यथैक भवतो हेतुर्विशिष्ट युक्तसाधकः।।

[4] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 6/417
तथास्वभावएवासौ स्वहेतोरेव जायते।
सहकारिणमासाद्य यस्तथाविधकार्य कृर्त।।

उपस्थिति में "स" को जन्म दे सकें। परन्तु जैनाचार्य के अनुसार समकालिक होने के कारण सहकारी कारण वस्तुत में कुछ नवीनता नहीं ला सकता है।[1] अर्थात् "अ", "ब" के समकालीन होने के कारण उसमें नवीनता नहीं ला सकता है। जैनियों का मत है कि एक वस्तु अपने समकालीन किसी दूसरी वस्तु का उपकार, विरोध एवं किसी प्रकार की सहायता नहीं कर सकती है। अन्य वस्तु से प्रारंभ होने वाली क्षण परम्परा का ही कोई वस्तु उपकार कर सकती है। एक सहकारी कारण अपने से संबंधित कारण में कोई नवीनता नहीं ला सकता है। इस मत से सहमत होते हुए बौद्धों ने कहा है कि इस सामर्थ्य के लिए किसी सहकारी कारण की आवश्यकता अवश्य होती है जो मुख्य कारण द्वारा जनित कार्य में कुछ नवीनता लाती है।[2] अर्थात् यह कहा जा सकता है कि "अ" ने "ब" में कोई नवीनता नहीं उत्पन्न की, परन्तु "अ" की अनुपस्थिति में "स" का उत्पादन नहीं होता है।

उत्पन्न कारण को नवीन तब तक नहीं कहा जा सकता है जब तक उसे उत्पन्न करने वाले मुख्य कारण का ऐसा स्वभाव न हो। अर्थात् मुख्य कारण कार्य से विसदृश्य स्वभाव का होना चाहिए। यदि ऐसा न हो तो मुख्य कारण अपने सदृश्य ही कार्य वस्तु का जन्म देगी। तब कहा जायेगा कि इस मुख्य कारण के पूर्ववर्ती भूलक्षणों में अपने सदृश्य कार्य को जन्म दिया।[3] अत: ऐसा होने पर "अ" की उपस्थिति "ब" में कोई नवीनता नहीं ला सकती तो "ब" के बाद "स" का जन्म नहीं होता। इसलिए यदि वस्तु को अपना किसी प्रकार का उपकार न करने वाली दूसरी वस्तु पर निर्भर रहने के लिए बाध्य रहना पड़े तो प्रथम वस्तु का कारण दूसरी वस्तु को मानना व्यर्थ है।[4] यदि "अ"

---

[1] वही, 6/418
न पुनक्रियते किन्चिन्तेनास्य सहकारिणाम
समानकाल भावित्वात्तथा चोक्तामिदं तब।।

[2] वही, 6/419-20
उपकारी विरोध च सहकारी च यो मतः।
प्रबन्धापक्षया सर्वोनैक काले कथन्चन।।

[3] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 6/421
नचास्या स्वभावत्ये सफलस्यापि युज्जते।
सभागक्षण जन्माप्तेस्तथा विधितदन्यवत्।।

[4] वही, 6/422

की अनुपस्थिति में "ब" का नाश निश्चित था तो इस स्थिति में "ब" के नाश का कारण "अ" को मानना ठीक नहीं है। तथा यह कहना कि "ब" के कारण ने "ब" को ऐसे रुप में उत्पन्न किया कि वह "अ" की उपस्थिति में नष्ट हो। ऐसी दशा में "अ" की उपस्थिति का कोई औचित्य नहीं प्रतीत होता है। परन्तु जैनियों का यह वचन भी उनकी क्षणिकवाद के प्रति अज्ञानता ही प्रदर्शित करता है क्योंकि हमारे उक्त उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि उत्प्रेरक रूप एक वस्तु एक विशिष्ट वस्तु के जन्म में कारण बनी है, क्योंकि बिना उसके रसायनिक क्रिया अंसभव थी। एक वस्तु एक विशिष्ट वस्तु के जन्म का कारण बनती है।[1] क्षणिक वादियों के इस मान्यता की पुष्टि हो जाती है जिसका जैनियों ने ऊपर उदाहरण देकर खंडन किया है। इनके अनुसार एक नष्ट होने वाली वस्तु और उसका नाशक दूसरी वस्तु के एक दूसरे से भिन्न अथवा अभिन्न नहीं माना जा सकता है।[2] क्योंकि वस्तु व उसका नाशक अभिन्न मानने पर यह मानना पड़ेगा कि वस्तु अपने नाशक रूप में ही पैदा हुई और नाशक को पैदा होना कहना व्यर्थ है। यदि दोनों भिन्न हों तो एक काल की दो वस्तुएँ किसी का उपकार अपकार नहीं कर सकती हैं। अत: जैन शास्त्रकार कहते है कि यदि नाश का कोई कारण न माना जाय तो कोई हिंसक नहीं कहा जा सकता है। इस दशा में कोई कभी किसी के द्वारा मारा ही नहीं जा सकता है।[3] जैनियों के इस प्रश्न का उत्तर क्षणिकवादियों की तरफ से देते हुए कहा जा सकता है कि कोई व्यक्ति विशेष हिंसक इसलिए है कि वह एक विशिष्ट अर्थात् मारे गये प्राणी के सद्दश्य क्षण परम्परा को जन्म देता है। परन्तु इस पर तर्क किया जा सकता है

अस्थान पक्षपातश्च हेतोप्रुपकारिणी।
अपेक्षयां नियुडक्ते यत्कार्यमेतद वधो दितम्।।

[1] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 6/423
यस्मात्तस्याप्यदस्तुल्यं विशिष्ट फलसांधकम्।
भावहेतुं समाश्रित्य ननु न्यायान्निद शितेम।।

[2] वही, 6/424
एवंच व्यर्थमेवेह व्यतिरिक्तादि चिन्तनम्।
नाश्यमाश्रित्य नाशस्य क्रियते पद विचंक्षणौ।।

[3] वही, 6/425
किंच निर्हेतु के नाशे हिंसकत्वं न युज्यते।
व्यापाद्यते सदा सस्मानून कश्चित् के नचित् कवचित्।।

कि क्षणिक वाद का मत स्वीकार करने पर तो क्षण परम्परा की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती है।[1] क्योंकि क्षण परम्परा में पूर्व क्षण एवं उत्तर क्षण के जोडे का ज्ञान होना बाधक है। परन्तु यदि क्षण परम्परा को मान लिया जाय तो नाशक किसी प्राणी के नाश का कारण नहीं है। बल्कि प्राणी के स्थान पर एक नये प्राणी को जन्म देने वाला है, इससे हिंसक पर किए गए आरोप का निराकरण हो जाता है। इसलिए कहा जा सकता है कि क्षणिकवादी की क्षणपरम्परा (सन्तान) आकाश कुसुम की तरह एक काल्पनिक वस्तु है। इसलिए इस क्षण परम्परा की उत्पत्ति अथवा विनाश संभव नहीं है। एक क्षण परम्परा की उत्पत्ति दूसरे क्षण परम्परा का धर्म नहीं है, क्योंकि एक क्षण परम्परा धर्मों वाली नहीं हुआ करती है। ऐसी दशा में व्यक्ति विशेष को क्षण परम्परा का कारण बनाना अनुचित है। क्षणिकवादी के अनुसार वास्तविक वस्तु वही है जो क्षणिक हो लेकिन क्षण परम्परा कोई क्षणिक वस्तु नहीं है।[2]

बौद्धों के क्षणिक वाद को मानने पर मारे गये प्राणी से विसदृश क्षण को जन्म देने वाले व्यक्ति को हिंसक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर वह प्राणी स्वयं अपना हिसंक कहलायेगा, क्योंकि मारा गया प्राणी स्वंय भी उक्त विसदृश्य क्षण को हिंसक व्यक्ति के समान ही जन्म देने वाला हो जायेगा।[3] यदि माना जाय कि मनोदोषों से दूषित व्यक्ति यह प्रतिज्ञा करे कि “मैं इस प्राणि को मारूँगा तो ये ही उसे हिंसक बनाती है। परन्तु क्षणवादियों के सिद्धान्त से इस बात का ताल-मेल नहीं बनता है। एक मन में दोष उत्पन्न होना एक नये धर्म का उत्पत्ति कारक है। इस प्रकार का एक अदूषित मन में स्वत: अथवा किसी सहायक कारण की सहायता से नहीं हो सकता है।

---

[1] वही, 6/426
कारणत्वात् स सन्तान विशेषप्रभवस्य चेत्।
हिंसकस्तन्न सन्तान समुत्यत्तेरसंभवात्।।

[2] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 6/427
सांवृतत्वाद् व्यायोत्पादौ सन्तानस्य ख पुष्पवत्।
न स्तस्तंद धर्मत्वाच्च हेतुस्तप्रक्षवे कृतः।।

[3] वही, 6/428
विसभागक्षणस्याथ जनको हिंसकों न तत्।
स्वतोअपि तस्य तत्प्राप्तेर्जनकत्वा विशेषतः।।

अत: क्षणवादियों का यह सहकारी कारण मुख्य कारण रूप इस मन में कोई नवीनता नहीं ला सकता है।[1] इस पर यदि बौद्ध कहें कि सहकारी कारण की उपस्थिति में एक मन का ऐसा स्वभाव बन जाता है कि उसमें दोषों का जन्म हो सके। इस पर जैनियों ने कहा है कि यदि क्षणिकवादियों के इस तर्क का ही अनुगमन करते हुए कहा जाय कि नाश कारण की उपस्थिति में एक वस्तु का ऐसा स्वभाव बन जाता है कि किसी वस्तु का नाश हो सके। इस नाश का कारण यह नाश कारण है।[2]

जैनियों का कथन है कि प्रस्तुतवादी की तर्क पद्धति का अनुशरण करते हुए प्रश्न किया जाय कि एक उत्पन्न की जाती हुई वस्तु अस्तित्व अथवा नास्तित्व स्वभाव वाली है। इस पर क्षणिकवादी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि एक वस्तु की उत्पत्ति का तथाकथित कारण उस वस्तु के उत्पत्ति का कारण नहीं है।[3] इस लिए प्रस्तुत वादी इस निष्कर्ष पर पहुँच सकता है कि एक वस्तु के नाश का कारण (तथाकथित) नहीं है, हम जानते हैं कि एक अस्तित्वशील स्वभाववाली वस्तु को जन्म देना किसी कारण का काम नहीं है। ऐसे स्वभाव वाली वस्तु के जन्म में किसी कारण का कोई उपयोग नहीं होता है। इसी प्रकार एक नास्तित्वशील स्वभाव वाली वस्तु को जन्म देना भी इसी कारण का कार्य नहीं है। क्योंकि ऐसे स्वभाववाली वस्तु का जन्म संभव नहीं है। परन्तु यदि एक वस्तु को अस्तित्व व नाश्तित्व दोनों स्वभाव वाली कहा जाय तो अपने ही वचन का विरोध होता है। इसलिए वस्तु अस्तित्वशील अथवा नास्तित्व शील स्वभाववाली नहीं कही जा सकती है। अत: एक कार्य की उत्पत्ति तर्क की सहायता से

---

[1] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 6/429-30
हन्म्यैन मिति संक्लेशाद् हिंसकश्चेत् प्रकल्प्यते।
नैवं त्वन्नीतितो यस्मादयमेव न युज्येते।।
संक्लेशी यद् गुणोत्पादः स चात्किष्टान्त केवलात्।
न चान्यस चिवस्यापि तस्यानतिशयात् ततः।।

[2] वही, 6/431
तं प्राप्य तत्स्वभावत्वात् ततः सं इति चेन्ननु।
नाश हेतुमेवाप्यैवं नाशयक्षेअपि न क्षतिः।।

[3] वही, 6/432
अन्ये तु जन्यमाश्रितय सत्स्वभावाद्यपेक्षया।
एवमाहुर हेतुत्वं जनकस्यापि सर्वथा।।

असंभव सिद्ध की जा सकती है। यदि इसी कार्य के कारण का स्वभाव अपना नाश करना है तो उसका स्वभाव इस कार्य को जन्म देना नहीं हो सकता है। यदि कार्य के कारण का स्वभाव इस कार्य को जन्म देना है तो कारण का स्वभाव अपना नाश करना नहीं हो सकता है। अत: उपर्युक्त बातों को अलग-अलग अथवा संयुक्त रुप से कारण का प्रभाव नहीं माना जा सकता है।[1]

अत: क्षणिकवादी के कार्य उत्पत्ति के संभावना को दो तर्कों की सहायता से समझाया जा सकता है। प्रथम में चार विकल्पों "उत्पन्न होने वाले कार्य अस्तित्वशील है, नास्तित्वशील है, अस्तित्वशील व नास्तित्वशील है, या न अस्तित्वशील है न नास्तित्वशील है।" तथा दूसरा विकल्प "उत्पन्न होने वाले कार्य का कारण अपना नाश करना है, उक्त कार्य को जन्म देना है, नाश करना और जन्म देना दोनों है, अथवा न नाश करना न जन्म देना। अब उत्पन्न होने वाले कार्य के कारण पर विचार करके इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि जिस प्रकार कि तर्कों द्वारा वस्तुओं के नाश को निर्हेतुक सिद्ध किया जा सकता है, उसी प्रकार के तर्कों की सहायता से वस्तुओं की उत्पत्ति को निर्हेतुक सिद्ध किया जा सकता है। अत: निर्हेतुक उत्पत्ति कारणता से इन्कार करना प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के प्रमाण से विरुद्ध होगा, क्योंकि उत्पत्ति कारण का प्रमाण सिद्ध न होने से उसे व्यवहार का विषय नहीं बनाया जा सकता है। जिस वस्तु की सत्ता प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं है, उसके अस्तित्वशील रूप को ज्ञान व शब्द द्वारा नहीं कहा जा सकता।[2]

---

1 शास्त्रवार्ता समुच्चय, 6/4333-34
नसत्वभावजनकस्तदवैफल्य प्रसंगतः।
जन्मायोगादि दोषाच्च नेतरस्यापि पुज्यते।।
न योभयादि भावस्य विरोधासंभवादितः।
स्वनिवृत्तपादिभावादौ कार्याभावदितोअपरे।।

2 शास्त्रवार्ता समुच्चय, 6/435-36
न चाध्यक्ष विरुद्धत्वं जनकत्वस्य मानतः।
असिद्धेस्तत्र नीत्या तव्यवहार निषेधतः।।
सज्ज्ञानशब्द विषयस्तदवदशपि दृश्यताम्।।

अर्थ-क्रिया कारित्वः

क्षणिकवादी का कथन है कि एक क्षणिक वस्तु ही अर्थ क्रिया करने में समर्थ होती है। अर्थक्रिया समर्थ का अर्थ होता है "किसी काम आ सकने योग्य" लेकिन दार्शनिक अर्थ में इसका अर्थ "किसी कारण सामग्री का अंग बन सकने योग्य" यह स्पष्ट है कि कार्यकारण भाव की वास्तविकता में विश्वास, रखने वाला ही अर्थक्रिया सामर्थ्य को वस्तुत्व के रुप में प्रस्तुत करेगा। इसका समर्थन कार्यकारण भाव में विश्वास रखने वाले सभी दार्शनिकों ने किया। परन्तु जब बौद्धों ने एक क्षणिक वस्तु को ही अर्थक्रिया में समर्थ माना तभी अन्यों से इसका विरोध हुआ। इनके इस वाक्य को अयुक्तिसंगत समझा गया, क्योंकि इनके अनुसार एक क्षणिक वस्तु अपना उत्पत्ति के तत्काल बाद नष्ट हो जाती है।[1] इस कारण अर्थ क्रिया की सामर्थ नहीं रखेगी। एक क्षणिक वस्तु जिस अर्थ क्रिया को जन्म देने मे समर्थ है। उक्त उदाहरण की "ब" वस्तु ही है या अन्य कुछ वास्तव में यदि वह अर्थ क्रिया "ब" वस्तु समर्थ नहीं हो सकती, क्योंकि उसका जन्म किसी अन्य कारण से हुआ होगा अर्थात् "अ" प्रस्तुत वस्तु के कारण से वह उत्पन्न हुई होगी। इस दशा में यह नहीं कहा जा सकता है कि "ब" वस्तु "ब" उक्त रुप से अर्थक्रिया को सहायता देती है, क्योंकि क्षणिकवादी के अनुसार ही वह वस्तु उत्पन्न हो से नष्ट हो जायगी। इसके साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि "ब" वस्तु "ब" रुप में अर्थ क्रिया का नाश करती है, क्योंकि यह अर्थ क्रिया स्वयं नश्वर स्वभाव लिए ही उत्पन्न हुई थी। यह कहा जाय कि अर्थ क्रिया उपर्युक्त दोनों दशाओं से भिन्न है तो वह भी सम्भव नहीं, क्योंकि एक वस्तु तो स्वयं एक स्थान या काल में स्थित है। तथा जिस अर्थ क्रिया को जन्म देने में इस वस्तु की सामर्थ्य है, वह अन्य स्थान पर है। इसलिए वस्तु की सामर्थ्यता के लिए कहा जा सकता है कि एक वस्तु द्वारा एक अन्य वस्तु को उत्पन्न करना ही उसकी अर्थ-क्रिया का उत्पन्न करना है। परन्तु इस नई वस्तु का जन्म किसी रुपान्तरण शील कारण के बिना सम्भव नहीं हो सकता है।[2]

---

[1] वही, 6/437
अर्थक्रिया समर्थत्वं क्षणिके यच्च गीयते।
उत्पत्यनन्तरं नाशाद् विज्ञेयं तदयुक्तिम्।।

[2] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 6/438, 39, 40

उदाहरण स्वरूप क्षणिक वादी का कथन है कि वस्तु “अ” का वस्तु “ब” को जन्म देना ही “अ” का अर्थ क्रिया समर्थ होना है। परन्तु हरिभद्र का कथन है कि “अ”,”ब” को जन्म तभी दे सकता है जब “ब”, “अ” का एक रूपान्तरण हो लेकिन बौद्धों के मतानुसार “अ” तथा “ब” दोनो क्षणिक वस्तुयें हैं। अत: “ब” को “अ” का रूपान्तरण नहीं माना जा सकता है। यदि किसी अन्य वस्तु की उपस्थिति में कोई नास्तित्वशील वस्तु, अस्तित्वशील बन सकती है तो यह संभव नहीं है। इस पर बौद्ध कह सकते हैं कि यहाँ यह अन्य वस्तु ही एक नये रूप में अस्तित्वशील बनी है। इसलिए एक वस्तु को अपने रूप-रूपान्तरों के एक ही बनी रहने वाली मानना ठीक है इस पर जैनों ने उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि “ब” अपने जन्म के पूर्व सर्वथा नास्तिव शील है तो वह “अ” के उपस्थित रहने पर भी उत्पन्न नहीं होगा। यदि “अ” ही”ब” के रूप में अस्तित्वशील बना है तब तो वह क्षणिक न होकर स्थायी हो जायेगा।[1] एक वस्तु का उत्पन्न होना क्रिया पर निर्भर करता है। इसलिए चित्तक्षण को कर्त्ता भोक्ता दोनों मानना ठीक नहीं है। क्षणिक वादी एक वस्तु को एक ही स्वभाव वाली मानते हैं। अत: कर्ता एवं भोक्ता दोनों स्वभाव किसी एक वस्तु में नहीं रह सकता है, क्योंकि एक अर्थ क्रिया का भूतकालीन वस्तु अर्थक्रिया नहीं कर सकती है। अत: उपरोक्त वर्णित अर्थ ही होगा।[2] इसलिए क्षणिकवादी के मनतव्य को स्वीकार करने पर वस्तुओं के अर्थ क्रिया समथ्र्व

अर्थ क्रिया यतोअसौ वा तदन्या वाछयी गतिः।
तत्वे न तत्र सामर्थ्यमन्यतस्तत्समुदभवात्।।
मस्वसंधारणे न्यायात् जन्मानन्तरनाशत्।
न च नाशोअपि सदयुक्त्या तद्धेतोस्तत्समुदभवात।
अन्यत्वेअन्यस्य सामर्थ्यमन्यत्रेति न संगतम्।
ततोअन्यभाव एवैतन्नासौ न्याययो दलें बिना।।

[1] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 6/441
नासत् सत् जायते यस्मादन्य सत्वस्थितावपि।
वस्यैव त तथाभावे नन्वसिद्धोअन्वयः कथम्।।

[2] वही 6/442, 643
भूतिर्येषां क्रिया सोक्ता न चासौ पुज्यते कन्चित्।
कर्तृभोक्तृस्वभावत्य विरोधादिति चिन्त्यताम्।
न चातीतस्य सामर्थ्य तस्यामिति निदशिंतम्।
न चान्यो लौकिक कश्चिच्छब्दाथौअत्रेत्य युक्तिमत।।

गुण का अभाव हो जायेगा। इस कारण उनके द्वारा मान्य वस्तु के अर्थक्रिया समर्थत्व को नहीं माना जा सकता है।

रुप-रुपान्तरण

जगत् की वस्तुओं में दिखाई देने वाला रुप-रुपान्तर भी क्षणिकवाद के मत को मण्डन नहीं कर सकता है। जैनाचार्य के अनुसार वस्तुओं के नया रुप धारण करते समय उनका पुराना रुप ज्यों का त्यों बना रहता है। इसलिए प्रतिक्षण नया रुप धारण करने के कारण उसे क्षणिकता सम्पन्न न मान क्षणिकता संबधित नित्यता से सम्पन्न मानना उचित है। हम जानते हैं कि किसी वस्तु का न तो सर्वथा अस्तित्व समाप्त होता है न नये सिरे से ही अस्तित्व में आती है। परन्तु प्रमाण सिद्ध होने से वस्तुओं के रुप-रुपान्तरण को बुद्धमानों ने स्वीकार किया है।[1] क्षणिकवादियों का कथन है कि वस्तु का अपने पूर्व रुप में न रहना ही उनकी अनित्यता है। जैनाचार्य कहते हैं कि प्रस्तुतवादियों का यही कहना प्रतीत होता है कि वस्तु का अपने रुप में न रहने का अर्थ है उस वस्तु का सर्वथा अस्तित्व में न रहना। इसे माने तो निश्चय ही वस्तु अपने रुप-रुपान्तरण के समय एक ही बनी रहेगी। क्षणिकवादियों के अनुसार एक वस्तु अपने अस्तित्वक्षण के बाद अस्तित्व में नहीं रहती है। इस पर जैनियों का कथन है कि यह बात अन्तर्विरोध पूर्ण है, क्योंकि एक ओर तो बौद्ध इस वस्तु को "यह वस्तु कह रहे हैं तथा दूसरी ओर उसके अस्तित्व से इन्कार कर रहे हैं। रुप-रुपान्तरण को स्पष्ट करते हुए दूध का नाश यदि दही कहलाता है, जिसमें गोरसपना पाया जाता है तो तेल आदि जो गोरसपना विहीन है, को दूध के नाश से उद्धृत नहीं कहा जा सकता। इससे स्पष्ट होता है कि रुप-रुपान्तरण के बीच अर्थात् यदि "अ" नष्ट होकर वस्तु एक बनी रहती है, "ब" बन जाता है, तो भी "अ", "ब" के बीच कुछ न कुछ स्वरुप सादृश्य होनी ही चाहिए। उदाहरणार्थ दूध नष्ट होकर दही बनता है, लेकिन दूध तथा दही दोनों गोरस कहलाते हैं। चूँकि दूध व

---

[1] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 6/444-45
परिमामोंअपि नो हेतुः क्षणिकत्व प्रसाधने।
सर्वदैवान्यथात्वेअपि तथा भावोपलब्धितः।।
नार्थान्तरगमों सरुमात् सर्वथैव न चागमः।
परिणामः प्रमासिद्धः दवष्टश्च खक्तु पण्डितैः।।

तेल में किसी प्रकार का स्वरूप सादृश्य नहीं है इसलिए दूध नष्ट होकर तेल कभी नहीं बन सकता है।[1]

अत: सर्वदा कोई नास्तित्वशील वस्तु अस्तित्व वान वस्तु नहीं बन सकती है क्योंकि, नास्तित्व वान वस्तु में किसी प्रकार की कार्य जनशक्ति नहीं रहती है। यदि किसी प्रकार विशेष की कार्यजनशक्ति उसमें भी जा सकती है तो इस बात को मानने पर वस्तु अपना स्वभाव ही खो देगी। अत: क्षणिक वादियों का मत मानने पर वस्तु अपनी रुपान्तरण शीलता[2] के आधार पर नित्य तथा अनित्य दोनों स्वभाव वाली हो जायेगी। परन्तु यह असंभव है। अत: कहा जा सकता है कि रुप-रुपान्तरण के आधार पर ही क्षणिकवाद की सिद्धि नहीं हो सकती है।

अन्ततोगामी नाश:

जैनों का कथन है कि क्षणिक वादी एक वस्तु को अन्त में जाकर नष्ट होते देख कर अनुमान लगाया जा सकता है कि यह वस्तु अपने अस्तित्व के प्रथम क्षणों में ही नष्ट हो गई थी। इसको ठीक इस लिए नहीं माना जा सकता है, क्योंकि जो वस्तु अन्त में जाकर नष्ट होती है वह अपने अस्तित्व के प्रथम क्षण में नष्ट नहीं होती है। प्रत्येक वस्तु कभी न कभी अवश्य नष्ट होती है। लेकिन उसका नाश अकस्मात् नहीं है। इसलिए बौद्धों का यह मानना कि प्रत्येक वस्तु अपने जन्मकाल से ही प्रतिक्षण नष्ट होती रहती है। ठीक नहीं है। इस पर जैनाचार्य का कथन है कि एक तरफ क्षणिक वादियों का यह

---

[1] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 6/446, 47, 48
यच्चेदमुच्यते बूमोअतादवस्थ्यमनित्याम्।
एतत तदेव न भवत्यतोअन्यत्वे धुवोअन्वयः।।
तदेव न भवत्येतत तच्च नं भवतीतिच।
विरुदं हन्त किंचान्यदादिमत् तत् प्रसज्यते।।
क्षीरनाशश्च दध्येव यद् दृष्टिं गोरसान्वितम्।
न तु तैलादयतः सिद्ध परिणमोअन्यवावहः।।

[2] वही, 6/444-50
नासत् सज्जायते जातु सच्चासत सर्व थैवहि।
शक्त्यंभावादतिव्याप्तेः सत्स्वभावत्वहानितः।।
नित्येरदतो न्यायात् तत्तथा भावतो हितत्।
प्रतीतिसच्चिवात् सम्यक् परिणामेन गम्यते।।

कहना कभी न कभी वस्तु नष्ट होती है अर्थात् कुछ न कुछ समय अस्तित्व में बनी रहती है तथा दूसरी ओर उसको जन्म से ही प्रतिक्षण नष्ट मानना ठीक नहीं है।[1] यदि एक वस्तु का स्वरुप भाव अपने अस्तित्व के प्रथम क्षण में ही नष्ट होने का है तो इस वस्तु का नाश अन्त में जाकर क्यों दिखता है। इस पर क्षणिकवादी कहते हैं कि एक के बाद दूसरी सदृश परस्पर से उत्पन्न वस्तुएँ हमें धोखे में डाल देती हैं इसलिए एक वस्तु को अन्त में जाकर नष्ट होते देखकर हम अनुमान लगाते हैं कि यह वस्तु अपने अस्तित्व के प्रथम क्षण में ही नष्ट हो गई थी। यद्यपि इस वस्तु को उसके अस्तित्व के प्रथम क्षण में नष्ट होते हमने देखा नहीं। यहाँ होता यह है कि एक वस्तु के सदृश्य वस्तुएँ उत्पन्न होकर हमारे मार्ग में रुकावट खड़ा कर देती है, क्योंकि, इस सदृश वस्तुओं को देखने के कारण हम यह नहीं देख पाते हैं कि वह मूल वस्तु अपने अस्तित्व के प्रथम क्षण में ही नष्ट हो गई थी।[2] परन्तु क्षणिकवादियों का यह कहना ठीक नहीं है क्यों कि जो दो वस्तुएँ एक दूसरे के सदृश होती हैं वे एक दूसरे से भिन्न होती हैं ऐसी स्थिति में एक वस्तु को दूसरी से भिन्न रुप में देखे बिना हम उसे दूसरी वस्तु के सदृश रुप में नहीं देख सकते हैं। समुच्चय किसी नायिका के मुख को चन्द्रमा के सदृश कहने का अर्थ यह नहीं होता है कि नायिका के मुख और चन्द्रमा में कोई भिन्नता नहीं है। अर्थात् यदि भिन्नता न होती तो उसे किसी के सदृश कहना कोई अर्थ नहीं रखता। अन्य उदाहरण देते यदि यह कहा जाय कि कागज कागज के सदृश है तो यह निरर्थक होगा, परन्तु कपड़े को कागज के सदृश उसे कहने पर कपड़ा कागज नहीं होगा, बल्कि उसके समान चिकना होगा। अत: भिन्न रहने पर ही सदृश शब्द का उपयोग कोई अर्थ रखेगा अन्यथा व्यर्थ होगा।[3] यदि

---

[1] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 6/451
अन्ते क्षयेक्षणं चादयक्षणक्षय प्रसाधनम्।
तस्यैव त्तस्वभावत्वात् युज्यते न कदाचन।।

[2] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 4/453-54
अदौ क्षयस्वभावत्वे तत्रान्ते दर्शनं कथम्।
तुल्या परापरोत्पत्ति विप्रलाम्भाद यथोदितम।।
अन्ते क्षये क्षण दादौ क्षयोअदृष्टोअन मीयते।
सदृशोनावरूदत्वात् तद ग्रहाद हि तदग्रह।।

[3] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 6/454
एतदव्यसदेवेति सदृशो भिन्न एवं यत्।

बौद्ध ज्ञान के संदर्भ में ज्ञान का विषय एक ही वस्तु हो तो मानते है तो ऐसी दशा में एक ज्ञान एक वस्तु के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु से भेद को अपना विषय नहीं बना पाता, क्योंकि यह वस्तु अन्य वस्तु के ज्ञान का विषय नहीं होती, तब यह ज्ञान वही है जिसकी भूत वस्तु किसी अन्य वस्तु के सदृश नहीं जाना जा सकता है। जैसे जिस ज्ञान का विषय "अ" है, उसी ज्ञान का विषय "अ" का"ब" से सादृश्य स्थापना करता कैसे हो सकता है।[1] अत: जब एक वस्तु को किसी दूसरी वस्तु से भिन्न रुप देखना संभव नहीं है तब यह कहने का कोई अर्थ नहीं है कि ये दूसरी वस्तुएँ इस वस्तु के सदृश हैं तथा उत्पन्न होकर हमारे मार्ग में रूकावट डालती हैं। इस रूकावट के कारण दूसरी वस्तुओं के देखने के फलस्वरूप हम यह नहीं देख पाते हैं कि वह मूल वस्तु अपने अस्तित्व के प्रथम क्षण में ही नष्ट हो गयी थी। तथा दूसरी ओर एक वस्तु को ही किन्हीं दूसरी वस्तु से भिन्न देखना सम्भव माना जाय तो अनेक वस्तुओं को अपने ज्ञान का विषय बनाने वाले स्थायी ज्ञान का रहना आवश्यक हो जायेगा। ऐसी दशा में प्रत्येक वस्तु क्षणक नहीं हो सकती है। उदाहरण स्वरुप जिस ज्ञान का विषय "अ" का"ब" से भेद है उसे अनेक क्षण स्थायी ही होना चाहिए। तभी वह "अ" एवं "ब" की और फिर "अ" से "ब" के भेद की जानकारी रख सकेगी।[2]

इसलिए जैनों का कथन है कि क्षणिक वादी मान्यता के अनुसार कोई ज्ञान किसी वस्तु की अपना विषय कभी नहीं बना सकता, क्योंकि एक ज्ञान अस्तित्व में तब आता है जब उसके विषयभूत वस्तु का अस्तित्व समाप्त हो जाता है।[3] अत: यदि ज्ञान किसी तत्व को अपना विषय बना सकता है, क्योंकि वस्तु का ज्ञान उनके उत्पन्न होते

भेदाग्रहे कथं तस्य तत्स्वभावत्वतोग्रहः।।

[1] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 6/455-56
तदर्थनियतोअसौ यद् भेदमन्याग्रहाद हितत्।
न गृहवातीति चेत् तुल्य ओअपरेण कुतोगतिः।।
तथा गतेरभावे च वचस्तुच्छभिदं ननु।
सदृशोनावरुदत्वात् तदग्रहाद हि तद ग्रहः।।

[2] वही, 6/457
भावे चास्या बलादेकमनेक ग्रहणात्मकम्।
अन्वयि ज्ञानमेष्टव्यं सर्वतत् क्षणिकं कुतः।।

[3] वही

को नष्ट हो जाता है। इसलिए वह इस क्षणिक वस्तु को अपना विषय नहीं बना सकता है। अर्थात् एक ज्ञान पहले अपना विषय बनी वस्तु के स्वरूप की जानकारी प्राप्त करेगा। तत्पश्चात् उस वस्तु के क्षणिकता की। परन्तु वह ज्ञान क्षणिक है अत: उपरोक्त दोनों कार्यों को नहीं कर पायेगा। यदि बौद्धों द्वारा यह कहा जाय कि वह उक्त कार्य कर लेना, क्योंकि, एक ज्ञान की विषयभूत वस्तु ही क्षणिक स्वभाव वाली है तथा इस वस्तु से ही इस ज्ञान का जन्म हुआ है। इसलिए यह ज्ञान इस वस्तु की क्षणिकता को अपना विषय वैसे ही बना लेता है जैसे नीली वस्तु आदि के समान आकार वाला होने के कारण यह ज्ञान नीली वस्तु आदि को अपना विषय बना लेता है। लेकिन जैन इस पर आपत्ति प्रस्तुत करते रहते हैं कि ऐसा कहने पर क्षणिकता विषयक ज्ञान मिथ्या हो जायगा। अर्थात् एक ज्ञान जैसे अपना विषय बनी वस्तु के स्वरूप की जानकारी करता है वैसे ही वह उस वस्तु की क्षणिकता की भी जानकारी कर सकता है।[1]

अत: एक ज्ञान अपनी विषयभूत वस्तु की क्षणिकता को यह वस्तु मेरे समान क्षणिक होनी चाहिए अनुमान द्वारा जानता है। परन्तु इस ज्ञान का स्वरुप इस वस्तु के स्वरुप से भिन्न हो भाव-अभाव बन जाता है।

एक अभाव रुप वस्तु कभी भाव रुप नहीं बन सकती है। क्योंकि शशक श्रृंग जो अभाव रुप है कभी भाव रुप नहीं बनती।[2] इसी प्रकार एक भाव रुप वस्तु कभी अभाव रुप नहीं बनती क्योंकि ऐसी स्थिति में अभाव के उत्पत्ति को लेकर कठिनाई आती है। परन्तु यदि कहा जाय कि एक भाव रुप वस्तु ही अभाव रुप बन जाती है तो

---

[1] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 6/458, 59 और साठ
ज्ञानेन गृहयते चार्थो न चापि परदर्शने।
तदभावे तृतदभावात् कदाचिदपि तत्वतः।।
ग्रहणेअपि यदा ज्ञानमपैत्युत्पत्यन्तरम्।
तदा तत् तस्य जानाति क्षणिकत्वं कथं ननु।।
तदयैव तत्स्वभावात्वात् स्वात्मनैव तददुभवात्।
यथा नीलादि तादुप्यान्नैतन्मिथ्यात्वशंसयात्।।

[2] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 4/249
सतोअसत्वे तदुत्पादस्ततो नाशोअपि तस्य यत्।
तन्नष्टस्य पुनर्भावः सदानाशे न तत् स्थितिः।।

कहा जायगा कि अभाव की उत्पत्ति हुई। चूँकि जिसकी उत्पत्ति होती है उसका नाश होता है। अतः एक विनष्ट वस्तु पुनः अस्तित्व में आ जयेगी। यदि कहा जाय कि वस्तु का नाश स्थायी होता है तो मानना पड़ेगा कि यह वस्तु कभी अस्तित्व में आती ही नहीं है। अर्थात् एक वस्तु अपने स्थिति क्षण में सर्वथा सत्ताशील हुआ करती है तथा अपने स्थिति क्षण के अतिरिक्त क्षणों में सर्वथा असत्ताशील। इसी के विपरीत जैनाचार्यों का कथन है कि प्रत्येक वस्तु सदा किसी सीमा तक सत्ताशील हुआ करती है तथा किसी सीमा तक असत्ताशील अर्थात् प्रत्येक वस्तु क्षणभर टिकने वाली है। इसका अर्थ होगा कि प्रत्येक अपने स्थितिक्षण से अगले क्षण में अभाव रूप हो जाती है अथवा प्रत्येक वस्तु के स्थितिक्षण पर से अगले क्षण में इस वस्तु का अभाव उत्पन्न होता है।[1]

वास्तव में यदि वस्तु का नाश क्षण भर टिकने वाला है तो यह नाश अपनी स्थिति के क्षण में रहेगा। परन्तु वह अपनी नाश स्थिति के बाद नहीं टिका रहेगा। अतः प्रस्तावादी के अनुसार एक भाव रूप वस्तु अभाव रूप बन जाती है, जैनाचार्य तक देते हैं। एक वस्तु का अभाव अस्तित्व में नहीं आता तो वस्तु की सत्ता स्थायी होनी चाहिए। परन्तु बौद्धों के अनुसार ऐसा नहीं होता। इसका कारण यह है कि एक क्षणवाद वस्तु सत्ता में नहीं बनी रहती है। इस पर जैनों का कथन है कि इसी को उस वस्तु के अभाव का अस्तित्व माना जाता है। चूँकि एक वस्तु के अभाव का अस्तित्व में आना किसी समय विशेष पर ही हुआ करता है, इसीलिए इसकी कल्पना की जाती है। यदि बौद्ध कहें कि अभाव एक तुच्छ वस्तु है इसी कारण उसकी उत्पत्ति की कल्पना ठीक नहीं है तो जैनों का इस पर तर्क है कि इसी प्रकार अतुच्छ (भावरूप) वस्तु के लिए भी हो जाता है।[2]

---

[1] वही, 4/248
नाभावो भावतां याति शशश्रृगे थथाअगतेः।
भावो नागभावमेतीह तदुत्पत्यादि दोषतः।।
नासतो विद्यते भावो नाभावोविद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोंअतस्त्व नयोस्तत्वदर्शिभिः।।

[2] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 4/250, 51, 52
क्षणस्थितौ .... व्यवस्थितम्।।
नतदभवति .... सूरयो विदुः।।

एक अतुच्छ वस्तु एक समय विशेष पर अस्तित्व में पायी जाती है तो यहीं बात एक तुच्छ वस्तु पर भी लागू होगी। यदि बौद्ध कहें कि एक अतुच्छ वस्तु का नाश होता है देखा जाता है, इस पर जैनों का कथन है कि एक तुच्छ वस्तु भी उक्त नियम का पालन करती है। यदि कहा जाय कि एक तुच्छ वस्तु तुच्छता को प्राप्त होती है तो क्यों न उसे भावरूप मान लिया जाय। तो जब अभाव रूप वस्तु भाव रूप नहीं बन सकती तब एक भावरूप वस्तु भी अभावरूप भी नहीं बन सकती है। ऐसा इसलिए नहीं होता है, क्योंकि एक भावरूप वस्तु उक्त स्वभाव को साथ लिए हुए ही अपने कारण से जन्म पाती है। यही बात अभाव के लिए भी कही जा सकती है। क्योंकि हम अभाव को एक भावरूप वस्तु के अनन्तर उत्पन्न होते पाते हैं।[1] इस पर यदि बौद्ध कहे कि अभाव का जन्म संभव नहीं हो सकता है, क्योंकि अभाव का कोई कारण संभव नहीं है। और न एक तुच्छ वस्तु भावरूप हो सकती है। ऐसी दशा में अभाव को भावरूप नहीं माना जा सकता और यह भी नहीं कहा जा सकता है कि वे सभी बातें जो भावरूप वस्तुओं पर लागू होती है, अभाव रूप वस्तुओं पर भी लागू होंगी।[2] जैन आचार्य इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि एक अभाव जिस भावरूप वस्तु के नन्तर उत्पन्न होता है वही उसका कारण है, क्योंकि यह भावरूप वस्तु ही उस समय अनुपस्थित रहती है। ऐसी दशा में स्वयं नष्ट होना अभाव का स्वभाव, उसी प्रकार माना जा सकता है जिस प्रकार एक भावरूप वस्तु का होता है। अत: अभाव को भावरूप वस्तुओं की तरह अस्तित्वशील स्वभाव वाला मानना उसी प्रकार ठीक है जैसे एक भावरूप वस्तु को ज्ञेय-रूप मानना। वास्तव में यदि अभाव

कदाचित्मकदो ………………………….. कथं ननु।।

[1] वही, 4/253, 54, 55, 56
तदां ……………………………… कथम्।।
स्वहेतोरेव ……………………….. समम्।।
तदन्नतर ……………………….. समम्।।

[2] शास्त्रवार्ता समुच्चय 4/256
नाहेतोरस्य भवनं न तुच्छे तत्सवभावता।
ततः कथं नु तदभाव इति युक्त्या कथं समम्।।

ज्ञेय रुप नहीं होगा हमें उसका ज्ञान नहीं होगा ऐसी दशा में एक वस्तु के अभाव का ज्ञान हमें नहीं होगा।[1]

वस्तुएँ स्वयं नष्ट होने का स्वभाव रखती हैं। क्योंकि उनके स्वंय नष्ट होने का प्रत्यक्ष देते ही होता है, जैसा कि बौद्धों का मत हैं। जैसा यह कहा जाय कि यह वस्तु इस स्वभाव की है का प्रत्यक्ष होता है। इसीलिए हमें वस्तुओं के नाश का ज्ञान हो जाता है। इसके उत्तर में जैन आचार्य कहते हैं कि कभी-कभी एक वस्तु के नष्ट हो जाने पर भी यह निश्चय नहीं हो पाता कि वस्तु नष्ट हो गयी। इस पर क्षणिकवादी कहते हैं कि इस स्थल में वस्तु नाश विषयक निश्चय न होने से ही भ्रान्ति है। अन्यथा इस नाश का यथार्थ ग्रहण प्रत्यक्ष द्वारा हो गया होता, क्योंकि, वस्तु स्वरूप की जानकारी करना प्रत्यक्ष का स्वभाव है। इसको अनुचित मानने पर कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष का स्वरूप ऐसा है कि उसके द्वारा जगत की समस्त वस्तुओं का ज्ञान हमें हो जाता है। इनमें से इन्हीं वस्तुओं का ज्ञान हमें हो पाता है जिसके विषय में परिमित ज्ञान का समारोप हम कर बैठते हैं। जैन आचार्य उनके ऐसा कहने को अज्ञान का सूचक मानते हैं, क्योंकि एक अंशहीन अनुभव भी अनुभूत विषय के एक अंश के सम्बन्ध में तो निश्चय करा पाता है, लेकिन असमर्थ होने के कारण उसी विषय के एक दूसरे अंश की जानकारी नहीं नहीं करा पाता अर्थात् क्षणिक वादी इस संभावना को स्वीकार करते हैं कि कोई प्रत्यक्ष ज्ञान अपना विषय बनी हुई वस्तु के स्वरूप के विषय में निश्चित जानकारी तो कराता है, लेकिन उसके हो रहे नाश के बारे में जानकारी नहीं करा पाता। इस पर जैन आचार्य का कथन है कि जब उक्त वस्तु का स्वरुप तथा उसका हो रहा नाश दोनों ही एक ही प्रत्यक्षज्ञान के विषय हैं, तब यह संभव नहीं है कि इनमें से एक के सम्बन्ध में निश्चित जानकारी ज्ञाता को हो परन्तु दूसरे की जानकारी उसे न हो।[2] एक वस्तु, जिसका विषय

---

[1] वही 4/257, 258
स एव भावस्तदेतुत्तसूयैव तथाअस्थितेः
स्वनिवृत्तिः स्वभावोअस्य भावस्येव ततो न किम्।
क्षेयत्ववत् स्वभावोअपि न चायुक्तोअस्य त दिवध।।
तदभावे न तज्जानं तन्निवृतेर्गतिः कथम्।।

[2] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 4/859, 60, 61, 62
तत् तदिवधस्वभावं यत् प्रत्यक्षेण तथैव हि।

क्षणमात्र है के स्थिति क्षण से अगले क्षणों में होने वाले उस वस्तु के विनाश का यथावत् स्वरुप निर्धारण प्रत्यक्षात्मक ज्ञान नहीं करा सकता है। अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान वस्तु के वर्तमान स्वरुप का होता है, उसके आने वाले स्वरुप का ज्ञान नहीं होता। अत: एक वस्तु के अभाव को जब तक यथार्थ ज्ञान का विषय नहीं बना लिया जाय तब तक यह नहीं कहा जा सकता है कि यह वस्तु इस अभाव वाली है। वास्तव में प्रत्यक्ष के द्वारा भूत तथा भविष्यत् का लीन वस्तुओं का ज्ञान नहीं हो सकता है। इसलिए एक वस्तु का आगामी विनाश उसी प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं बन सकता है। जिसका विषय इस वस्तु का वर्तमान स्थित क्षण है। इसका अर्थ है कि प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय एक वर्तमान वस्तु होती है, उसका विषय भविष्य में पैदा होने वाली वस्तु नहीं होती है। इस पर क्षणिकवादी कहते हैं कि कालान्तर में अभाव का प्रत्यक्ष होता है। उन्होंने उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा कि घ़ड़े के अभाव का प्रत्यक्ष उसके टूटने पर बचे टुकड़े के भाव से ही होता है। इसी से पता चलता है कि घड़ों का अभाव हो गया। इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्यों द्वारा कहा जा सकता है कि घ़ड़ें के टुकड़ों का ज्ञान घड़े के अभाव का कारण नहीं बनता है, क्योंकि घ़ड़े के टुकड़ों एवं घड़ों के अभाव के बीच किसी प्रकार का व्याप्ति सम्बन्ध नहीं है। इस पर यदि बौद्धों द्वारा कहा जाय कि घड़े के टुकड़ों का होना ही घड़े का न होना है, ऐसी स्थिति में जैनों का कथन है कि प्रस्तुत स्थल में भावरुप परम्परा का विच्छेद नहीं हुआ अर्थात् यहाँ एक भूतपूर्व भावरुप वस्तु ने ही एक नया वर्तमान धारण कर लिया। अत: यह मानना चाहिए कि एक भाव रुप वस्तु के स्थितिक्षण के अनन्तर एवं अभाव रुप वस्तु का जन्म होता है, क्योंकि यह अभाव रुप वस्तु अज्ञेय रुप है।

गृहयते तदगतिस्सेन नैतत् स्वचित्त निश्चयात।।
समारोपादसौ नेति गृहीतं तत्वतस्तुतत्।
यथाभाव ग्रहात् तस्याति प्रसंगाद दोअप्यसत्।
गृहीतं सर्वमेतेन तत्वतोअनिश्चयः पुनः।
मितग्रह समारोपादिति तत्वव्यवस्थिते।।
एकत्र निश्चयोअन्यत्र निरंशानुभवादपि।
न तथा पाटवा भावादित्य पूर्वमिदं तमः।।

इसीलिए यह कहना कि वह भाव रुप वस्तु व अनावस्य वस्तु एक दूसरे के ज्ञान का विषय बनती हैं, उचित ही है।[1]

जैनाचार्यों ने कहा है कि यद्दिप उक्त भाव रुप तथा अभाव रुप दोनों प्रकार की वस्तुओं की उत्पत्ति होती है, लेकिन इतने से वे सर्वथा एक सी नहीं बन जाती, क्योंकि इनमें एक भावरुप है, दूसरी अभाव रुप अर्थात् दोनों विरोधी गुण वाली वस्तु एक साथ एक जैसी नहीं दिखाई देगी। इसलिए एक भावरुप वस्तु के नाश के समय नष्ट हुई वस्तु के स्थान पर कोई नयी वस्तु अस्तित्व में नहीं आती है। अपितु होता यह है कि वही भाव रुप वस्तु अस्तित्व में बनी रहती है। इस विवेचाउपरांत यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि उक्त प्रकार के विकल्प में प्रथम वस्त दूसरी वस्तु से भिन्न है कि अभिन्न, परन्तु यह प्रश्न भावरुप वस्तुओं के सम्बन्ध में ही उठता है। क्योंकि इसका प्रतिपादन उसी के सम्बन्ध में संभव है। अत: जब यह कहा जाता है कि अमुक वस्तु का अभाव अस्तित्व में आया तब उसका अर्थ होता है कि अमुक भावरुप वस्तु अस्तित्व में नहीं रहीं।[2]

जैनाचार्यों की इस व्याख्या से ऐसा प्रतीत होता है कि इन्होंने अभाव की भी सत्ता स्वीकार करके बौद्ध क्षणवाद का खंडन किया। इनकी अभाव की सत्तावशेषिकों से समान है। संभवत: इसका अनुकरण इन्हीं से किया है। परन्त बौद्धों के क्षणवाद में वस्तु के क्षण-क्षण परिवर्तनशील की बता कही गई है। इसमें कहीं भी वस्तुओं के अभाव की बात नहीं कही गई है बल्कि क्षण क्षण परिवर्तनशील वस्तु में एक निरंतरता बनी रहती है, जिसको क्षण संतान कहते हैं। इससे स्पष्ट होता है जैनों भाव के अभाव न

---

[1] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 4/263, 64, 65, 66 और 67
स्वभाव .... विभाव्यते।।
तस्यां च .... सदभिरिष्यते।।
अन्तेअपि दर्शनं .... प्रतीतितः।।
न तदगतेर्गतिस्तस्य .... भावाविच्छैततोअन्वयः।।
तस्मादवश्य .... युक्तिमत्।।

[2] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 4/269, 70
ऐतेनैतत् प्रतिक्षिप्तं यदुक्तं न्यायमानिना।
न तत्र किंचिद भवति न भवत्येव केवलम्।
भावे हषेः विकल्पः स्याद विधेर्वस्त्वनुरोधतः।
नभावो भवतित्युक्तम भावो भवतीत्यपि।।

होने की बात पर बौद्धों ने क्षणवाद का खंडन किया है। अंशों में ठीक तथा कुछ अंशों में उचित नहीं हैं।

अभाव-भाव बनवाता है:

एक अभाव रूप वस्तु से एक भाव रूप की उत्पत्ति संभव नहीं है। क्योंकि अभाव रूप वस्तु में भाव रूप वस्तु को उत्पन्न करने की क्षमता मानने पर वह अपने अभावात्मक गुण से रहित हो जायेगी। यदि बौद्ध कहें कि अभाव रूप वस्तु भाव रूप वस्तु को जन्म देने में असमर्थ है, तब भाव रूप वस्तु का अस्तित्व असंभव हो जायेगा। इस पर बौद्ध कह सकते हैं कि अस्तित्व न रही वस्तु अस्तित्व में आया करती है। इस प्रकार वस्तुओं के अंदर एक विशिष्ट क्षमता देखी जाती है, अर्थात् अभाव रूप वस्तु भाव रूप वस्तु का जन्म देने की क्षमतावाली मानी जा सकती है। इसलिए अभाव रूप वस्तु द्वारा भावरूप वस्तु का नियमत: अस्तित्व में लाया जाना संभव है।[1] उदाहरण के लिए घड़ा अपने नाश के पूर्व भाव रूप में रहता है, परन्तु नाश के बाद ठिकड़े के रूप का हो जाता है। अर्थात् घड़े का अभाव रूप ठिकड़े का भाव रूप बन जाता है। जैनियों की यह उक्ति संभवत: वैसेसिकों से ली गयी प्रतीती होती है।

उदाहरणार्थ घड़ा अपने नाश के पूर्व टिकड़े के रूप में रहता है। जैनाचार्य का कथन है कि जो वस्तु अस्तित्व में सर्वथा शून्य है, उसके संबंध में यह कल्पना करना उचित नहीं प्रतीत होता है कि कोई कारण विशेम एक विशिष्ट क्षमता वाला है।[2] अर्थात् यह कि कोई कारण विशेण उस वस्तु को जन्म देने वाला है नहीं माना जा सकता है। क्योंकि वस्तु अपने जन्म के पूर्व सर्वथा अस्तित्वसूून्य है। इसका उत्तर यदि क्षणिकवादी यह दें कि वस्तु के अपने जन्म के पूर्व सर्वथा अस्तित्वहीन होने के कारण को ही उसके

---

[1] शास्त्रवार्ता समुच्च, 4/276-77
असत् सत्वयोगे तु तत्थाशक्ति योगतः।
नासत्वं तदभावे तु न तत्सत्वं तदन्यवत।।
असदुत्पदयते यस्य कारणम्।
विशिष्टशक्ति मत् तच्य ततस्तत्सत्व संस्थितिमू।।

[2] वही, 4/278
अत्यन्तासति सर्वास्मिन् कारणस्य न युक्तिः।
विशिष्ट शक्तिमत्वं हि कल्प्यमानं विराजते।।

अस्तित्व में लाने वाला माना जाता है। इसका खंडन करते हुए जैनाचार्य कहते हैं कि जो वस्तु सर्वथा अस्तित्वशून्य है सके संबंध में यह कहना उचित नहीं है कि की दूसरी वस्तु उसे अस्तित्व में लाती है। इस पर बौद्ध कह सकते हैं कि वस्तु-स्थितिवश एक वस्तु दूसरी वस्तु को लाने वाली कही जाती है। क्योंकि यह दूसरी वस्तु प्रथम वस्तु के ठीक बाद उत्पन्न होती है, तथा अन्य कोई वस्तु उसके अनंतर उत्पन्न नहीं होती। ऐसी दशा में नाम संबंधी चर्चा से हमें कोई मतलब नहीं है अर्थात् हमें इस चर्चा से कोई प्रयोजन नहीं है कि उक्त वस्तु को "उक्त दूसरी वस्तु को अस्तित्व में लाने वाली" यह नाम दिया जाय कि या न दिया।[1] इस पर जैनियों का कथन है कि यदि नाम की बात छोड़ दी जाय तो भी वस्तुस्थितिवश भी कोई वस्तु एक विशिष्ट अवधि वाली हुए बिना किसी दूसरी वस्तु को अस्तित्व में लाने वाली नहीं कही जा सकती है। इस पर यदि बौद्ध कहें कि कोई वस्तु एक विशिष्ट अवधिवाली हुए बिना भी एक दूसरी वस्तु को अस्तित्व में ला सकती है। परन्तु जैनियों का मत है कि बौद्धों की इस वात को मानने पर सभी वस्तुएँ दूसरी वस्तुओं को अस्तित्व में लाने वाली हो जायेंगी। ऐसी दशा में एक कारण भूत वस्तु किसी की उपस्थिति में इसका कार्य की कार्यभूत वस्तु जन्म नहीं होना चाहिए। अर्थात् उस स्थित में अन्य वस्तुओं का जन्म हुआ नहीं माना जा सकता है। प्रस्तुतवादी की मान्यतानुसार एक कारण अपने कार्य के जन्म के समय वर्तमान नहीं रहता। इसे हम अनुमान से जान सकते हैं अर्थात् यह कारण इस कार्य को उत्पन्न करने वाला नहीं है, क्योंकि यह कारण इस कार्य के जन्म के समय वैसे ही वर्तमान नहीं रहता है, जिस प्रकार कोई अन्य कारण। जैनियों के इस बात का तर्क पर बुद्ध कह सकते हैं कि एक कारण अपने कार्य के ठीक पहले तो उपस्थित रहता है लेकिन इसी आधार पर जैनियों ने कहा कि कार्य की उत्पत्ति के लिए कारण की कोई आवश्यकता नहीं है। दूसरे एक

---

[1] शास्त्रवार्ता समुच्च, 4/279-80
तत्सत्वसाधकं तन्नतदेव हि तदा नयत्।
अत एवेदमिच्छन्तु न वै तस्येत्ययोगतः।।
वस्तुस्थित्या तथा नातदयत् तदन्तरभावि तत्
नान्यत् ततश्च नाम्नेह न तथाअस्ति प्रयोजनम्।।

कारण का नाश तथा इस कारण से कार्य की उत्पत्ति को समकालीन मानना ठीक नहीं है।[1]

जैनाचार्य ने बौद्धों से प्रश्न करते हुए कहा है कि कारण का नाश कारण से तथा कार्य की उत्पत्ति कार्य से भिन्न है अथवा अभिन्न है, यदि बौद्ध इन्हें परस्पर भिन्न मानते है, तब इस नाश को कारण का नाश नहीं कहा जायगा तथा इस उत्पत्ति को कार्य की उत्पत्ति नहीं कही जायेगी। यदि बौद्ध इन्हें परस्पर अभिन्न मानते हैं तब इसका अर्थ कारण तथा कार्य को समकालीन मानना हुआ। जैनी इसका खंडन करते हुए कहते हैं कि जब दो वस्तुएँ परस्पर समकालीन है तो उनके बीच कार्यकारण भाव मानना अयुक्ति संगत है, क्योंकि ऐसी दो वस्तुएँ कार्यकारण भाव की नियामकभत विशेषताओं से शून्य होती है। इस पर उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा जा सकता है कि एक वस्तु की उपस्थिती में दूसरी वस्तु का उपस्थित होना तथा एक की अनुपस्थिति में दूसरी का उपस्थित होना संभव नहीं है।[2] इस पर यदि बौद्ध यह कहें कि कारण तथा नाश के बीच तथा कार्य और उत्पत्ति के बीच रहने वाला धर्म-धार्मिक भाव का काल्पनिक है, परन्तु इस पर जैनी तर्क देते हुए कहते हैं कि धर्म-धार्मिक भाव को काल्पनिक मानने का अर्थ होगा – कार्यकारण भाव के अस्तित्व को न मानना, क्योंकि क्षणिकवादी के अनुसार एक कारण की कारणता ही इस बात में हैं कि उसका नाश होने पर कार्य उत्पन्न हो।

---

[1] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 4/281 से 284 तक
नाम्रा बिनाअपि तत्वेन विशिष्टावधिना बिना।
चिन्त्यतां यदि सन्नायाद वस्तु स्थित्याअपि तत्तथा।।
साधकत्वे तु सर्वस्य ततो भावः प्रसज्येते।
कारणाश्रयणेअच्येवं न तत्सत्वं तदन्यवत्।।
किंचतत् कारणं कार्यभूतिकाले न विद्यते।
ततो न जनकं तस्य तदाअसत्वात् परं यथा।।
अन्नतरं च तदभावस्तत्वादेव निरर्थकः।
समं च हेतु फलयोर्नाशोत्पादावसंगतौ।।

[2] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 4/285-86
स्तस्सौ भिनाव भिन्नौ वा ताभ्यां भेदे तयोः कुतः।
नाशेत्पादावभेदे तु तपोवै तुल्यकालता।।
न हेतु पल भावश्च तस्यां सत्यां हि युज्येते।
तन्निबन्धनभावस्य दयोरपि वियोगतः।।

परन्तु जब बौद्धों का तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा जा सकता है कि हम धर्मों को नहीं अपितु धार्मिक भाव को काल्पनिक मानते हैं। जबकि पूर्व क्षण में रहने वाला अंश हीन धर्मी ही कारण कहलाता है तथा उत्तर क्षण में रहने वाला धर्मी अंतहीन धर्मी कार्य कहलाता है। इसका उत्तर देते जैन आचार्य कहते हैं कि पूर्वक्षणकालीन धर्मी का रूपान्तरण हुए बिन उत्तर क्षणकालीन धर्मी अस्तित्व में नहीं आयेगा। यदि मान लिया जाय कि पूर्वक्षण कालीन धर्मी के रूपान्तरण के फलस्वरूप उत्तर क्षणकालीन धर्मी अस्तित्व में आता है। तब यह कहना उचित नहीं है कि कार्योत्पत्ति के समय सर्वथा अस्तित्वशील वस्तु अस्तित्व में आया करती है।[1] जैनियों का कथन है कि बौद्धों के अनुसार कार्य का जन्म कारण पर निर्भर होता है। एक तो यह मिथ्या है तथा दूसरे अवांछनीय निष्कषों को उपस्थित करता है। इस स्थिति में एक कारण विशेष को अपने कार्य विशेष के कारण के अतिरिक्त अपने उत्तर क्षणवर्ती समूचे विश्व का कारण होना चाहिए। जैनियों का कथन है कि जो रूपान्तरण शील वस्तुओं के अस्तित्व को सर्वथा अस्वीकार करता है, उसके मतानुसार एक कार्य का अपने कारण के अनंतर उत्पन्न होना असंभव है। इसका अर्थ स्पष्ट है कि बौद्धों के अनुसार कोई कार्य उत्पन्न ही नहीं होता। इस पर यदि बौद्ध कहें कि अपने कारण के अनन्तर उत्पन्न होना जब कार्य का स्वभाव है तो इस प्रकार की कल्पना को जैन अनुचित मानते हैं। उनका कथन है कि स कल्पना का जन्म युक्ति शून्यता रूपी दुष्ट राहु ग्रह के समय में हुआ प्रतीत होता है।

यदि एक वस्तु को एक दूसरी वस्तु का कार्य केवल इस आधार पर कहा जाय कि यह व्यक्ति इस दूसरी वस्तु के अनंतर उत्पन्न हुई है तब तो उत्तरक्षणकालीन समूचे विश्व को पूर्वक्षणकालीन समूचे विश्व का कार्य कहा जायेगा, क्योंकि यह भी एक वस्तु

---

[1] वही, 4/287, 88, 89
कल्पितश्चेदयं धर्मधर्मि भावो हि भावतः।
न हेतुफलभावः स्यात् सर्वथा तदभावतः।।
न धर्मीकल्पितों धर्म धर्मिभावस्तु कल्पितः।
पूर्वो हेतु निर्रशः स उत्तरः फल समुच्चते।।
पूर्वस्यैव तथा भावाभावे हन्तोत्तरं कुतः।
तस्यैव तु तथाभावेअसतः सत्वमदोन सत्।।

के अनंतर एक दूसरी वस्तु के उत्पन्न होने का ही स्थल है। अत: बौद्धों की यह मान्यता प्रमाणित नहीं है कि कारण तथा कार्य के बीच एक देशता रूप संबंध होता है।[1]

जैनियों ने कहा है कि बौद्धों के मतानुसार कार्य कारण का रूपान्तरण नहीं होता है। इसलिए उसे मानना ही पड़ेगा कि उत्तर क्षणकालीन विश्व की सभी वस्तुओं का पूर्वक्षण कालीन विश्व के सभी वस्तुओं के साथ एक सा सम्बन्ध है। ऐसी दशा में उनके लिए ऐसे किसी नियम का निर्धारण करना संभव न होगा जिसकी सहायता से जाना जा सके कि किस वस्तु विशेष का कारण कौन सी वस्तु विशेष है, क्योंकि यह भी देखा जाता है कि एक कार्य परंपरा का घटक भूत कोई कार्य अपने नियति कारण के अतिरिक्त कारण से भी उत्पन्न होता है। यदि बौद्ध कहें कि इस स्थिति में भी कार्य अपने नियत कारण से ही उत्पन्न होता है, भले ही उसका कारण दूर स्थान पर वर्तमान हो। उदाहरण स्वरूप अग्नि से उत्पन्न हुआ धुम्र जो अग्नि के पास रहता है वह भले ही अग्नि से उत्पन्न दिखाई दे परन्तु उसका अग्नि दूरवर्ती भाग धूम से ही उत्पन्न हुआ दिखता है। जो सचमुच ही अग्नि से उत्पन्न हुआ होता है। ऐसी दशा में एक कार्य विशेष का जन्म एक नियत कारण विशेष से ही होता जाना जा सकता है।[2]

जैनाचार्य का कथन है कि इस प्रकार बौद्धों के मत जिसमें एक असत्ताशील वस्तु को एक भावरूप वस्तु का कारण नहीं होती और न यह भावरूप वस्तु इस अभाव

---

[1] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 4/290-94
तं प्रीतत्य तदुत्पाद इति तुच्छमिदं वचः।
अति प्रसंगतश्चैव तथा चाह महामतिः।।
सर्वथैव तथा भाविवस्तु भावाहते न यत्।
कारणानन्तरं कार्य द्राग नभस्तस्ततो न तत्।।
तस्यैव तत्स्वभावत्वकल्पनासम्पदप्यलम्।
न युक्ता युक्ति वैकल्पराहुणा जन्मपीडनात्।
तदानन्तर भावित्वमात्रतस्तदव्यवस्थितेः।
विश्वस्य विश्वकार्यत्वं स्यात् तदभावाविशेषतः।
अभिन्नदेशतादीनाम सिद्धत्वादनं न्वयाते।
सवेषाम विशिष्टत्वान्न तन्नियम हेतुता।।

[2] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 4/295
योअच्येकस्यान्यतो भावः सन्ताने दृश्यतेअन्यदा।
ततएव विदेशस्थात् सोअपि यत् तन्न बाधकम्।।

रूप वस्तु का रूपान्तरण होती का खंडन हो जाता है। एक वस्तु के अनंतर जो एक दूसरी वस्तु नियमत अस्तित्व में आती है, उस दूसरी वस्तु का अस्तित्व उस प्रथम वस्तु का कार्य कहलाता है।[1] इस दूसरी वस्तु का यह अस्तित्व में आना ही इस दूसरी वस्तु की उत्पत्ति कहलाती है। यह उत्पत्ति इस वस्तु के ही स्वरूप वाली है।[2] इस वस्तु की उत्पत्ति को एक असत्ताशील वस्तु की उत्पत्ति भी कहा जा सकता है। क्योंकि यह वस्तु पहले अस्तित्व में न थी। प्रस्तुत स्थल में एक असत्ताशील वस्तु ही एक भावरूप वस्तु बन गयी है। इस मान्यता के आधारभूत वस्तु स्थिति यह है कि भाव रुप कार्य अपने भाव रुप कारण से ही उत्पन्न होता है।[3] अत:जब तक कार्य को कारण का रूपान्तरण न माना जायेगा तब तक यह मान्यता माननी पड़ेगी कि एक असत्ताशील वस्तु एक भावरूप वस्तु का कारण बन गयी। तथा वह भावरूप वस्तु असत्ताशील वस्तु का रूपान्तर है।[4] इसलिए बौद्ध मत के इन विचारों का खंडन हो जाता है।

यदि एक वस्तु के अनन्तर एक दूसरी वस्तु अस्तित्व में आये लेकिन यह दूसरी वस्तु इस प्रथम वस्तु का रुपान्तरण न हो तो वह उसका कार्य नहीं हो सकती।[5] क्योंकि उस दशा में या तो यह मानना पड़ेगा कि यह दूसरी वस्तु अप्रत्यासित है, अथवा एक

---

[1] वही 4/296
एतेनैतत् प्रतिक्षिप्तं युदक्तं सूक्ष्म बुद्धिना।
नातो भावकर्तृक्वं तदवस्थान्तरं न सः।।

[2] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 4/297
वस्तुनोअनन्तरं सत्ता कस्यचिद् या नियोगतः
सा तत्फलं मता सैव भावोत्पत्तिस्तदात्मिका।।

[3] वही, 4/298
असदुत्पत्तिरप्यस्य प्रागसत्वात् प्रकीर्तिता।
नासतः सत्व योगेन कारणात् कार्यभावतः।।

[4] वही, 4/299
प्रतिक्षिप्तं च तद हेतोः प्राप्नोति फलतां बिना।
असतो भाव कर्तृत्वं तदवस्थान्तरं च सः।।

[5] वही, 4/300
वस्तुनोअनन्तरं सत्ता तत्तथानां बिना भवेत्।
नभः पातादसत्सत्वयोगाद् वेति न तत्फलम्।।

असत्ताशील वस्तु ने भाव रूप प्राप्त किया है।[1] ऐसी दशा में एक भावरूप वस्तु की उत्पत्ति तथा एक असत्ताशील वस्तु की उत्पत्ति इस अर्थ में नहीं कहलायेगी कि यह भावरूप वस्तु पहले अस्तित्व में न थी। अपितु इस अर्थ में कहलायेगी कि एक असत्ताशील वस्तु ने भाव रूप प्राप्त कर लिया। जो उचित नहीं है। इसलिए एक अभावरूप वस्तु एक भावरूप वस्तु नहीं बन सकती है।[2]

क्षणिकवाद में सामग्री कारणवाद की अनुपत्ति

जैनाचार्य का कथन है कि क्षणिकवादी की मान्यतानुसार रूप के प्रत्येक्षात्मक ज्ञान की उत्पादक कारण सामग्री निम्न चार भागों में बाँटी जा सकती है। यथा रूप (आलम्बन प्रत्यय), नेत्र इन्द्रिय। अधिपति प्रत्यय।, प्रकाश आदि।।सहकारी प्रत्यय।, तथा ज्ञाता की तत्कालीन मन: स्थिति। समानान्तर प्रत्यय। इन्हीं के अनुसार पूर्वक्षण कालीन रूप, नेत्र तथा प्रकाश उत्तरक्षणकालीन ज्ञान के साथ-साथ रूप, नेत्र तथा प्रकाश के भी कारण बनते हैं। बौद्धों की इस मान्यता का जैनाचार्यों ने खंडन करते हुए कहा है कि जब रूप, नेत्र प्रकाश तथा मन:स्थिति परस्पर भिन्न स्वभाव वाली है, तब वे एक ही काम को जन्म नहीं दे सकतीं हैं। इसके अतिरिक्त जब रूप, नेत्र तथा प्रकाश ज्ञान के कारण हैं तब वे रूप, नेत्र तथा प्रकाश के भी कारण नहीं हो सकते हैं। अत: प्रस्तुत वादी की यह कल्पना की अपने कारण विशेष से उत्पन्न रूपादिकारण सामग्री बुद्धि आदि कार्य को जन्म नहीं दे सकती।[3] क्योंकि यदि कारण सामग्री का अंगीभूतरूप आदि प्रत्येक वस्तु बुद्धि रूप कार्य को जन्म देने में समर्थ है तब यह मानना उचित होगा

---

[1] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 4/301
असदुत्पत्तिरप्येव नास्त्यैव प्राग सत्वत्।
किं त्वसत् सद भवत्येवमिति सम्यग विचार्यताम्।।

[2] वही, 4/302
एतच्च नोक्तवदं युक्त्या सर्वथा पुज्यते यतः।
नाभावो भावतां याति व्यवस्थित मिदं ततः।।

[3] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 4/303
याअपिरुपादिसामग्री विशिष्टप्रत्ययोदभवा।
जनकत्वेन बुद्धयादेः कल्प्यते साअच्यनर्थिका।।

कि रूप आदि वस्तुएँ किसी अन्य कार्यों की भी जन्म दे सकतीं हैं।[1] ऐसी दशा में यह विचारणीय है कि उन्हीं रूप, प्रकाश आदि वस्तुओं से रूप, प्रकाश आदि एकाधिक कार्य का जन्म नहीं होगा।[2] अर्थात् एक ओर रूप प्रकाश का तथा दूसरी ओर बुद्धि का जन्म नहीं होगा। साथ ही यह भी उचित नहीं है कि अनेक वस्तुएँ एक ही कार्य को जन्म देने में समर्थ्य हो, क्योंकि इन अनेक वस्तुओं में अनेकता है। जबकि इस अनेकता का प्रस्तुत कार्यगत एकता के साथ विरोध है।[3]

अत: कारण सामग्री की अंगीभूत सभी वस्तुओं पर आश्रित रहते हुए अस्तित्व में आने वाला कार्य एक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि एक वस्तु वह होती है, जिसमें एक ही स्वभाव रहे। परन्तु अनेक वस्तुओं से उत्पन्न वस्तु में एक स्वभाव नहीं रह सकता है।[4] वास्तव में कारण सामग्री की अंगीभूत वस्तुएँ अनेक इसलिए हैं कि उनके स्वभाव आपस में एक नहीं है। ऐसी दशा में इन्हीं वस्तुओं की सामर्थ्य के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली वस्तु एक रूप नहीं हो सकती है।[5] अर्थात् जो कार्य एक वस्तु के सामर्थ्य के फलस्वरूप उत्पन्न होता है, वह किसी दूसरी वस्तु से उत्पन्न नहीं हो सकता है, क्योंकि उस दशा में दोनों वस्तुएँ एक हो जायेगी। यदि ये वस्तुएँ परस्पर एक नहीं रहेंगी तो यह

---

[1] वही, 4/304
सर्वेषां बुद्धिजनने यदि सामर्थ्यमिष्यते।
रेपादीनां ततः कार्यभेदस्तेभ्यों न युज्यते।।

[2] वही, 4/305
रुपालोकादिकं कार्यमनेकं चोपजायते।
तेभ्यस्तावदभ्य एवेति तदेतच्चिन्त्यतां कथम्।।

[3] वही, 4/306
प्रभूतानां चं नैकत्र साध्वी सामर्थ्य कल्पना।
तेषां प्रभूत भावेन तदेकत्व विरोधतः।

[4] वही, 4/307
तानशेषान् प्रतीत्येदव भवेदेकं कथं भवेत्।
एकस्वभावमंकं यत् तन्तु नानेक भावतः।।

[5] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 4/308
यतो भिन्न स्वभावत्वे सति तेषामनेकता।
तावर्ते सामर्थ्यजत्वे च कुतस्तसैयक रुपता।।

कार्य भी दो हो जायेगा।[1] वस्तुतः कोई कार्य किसी एक वस्तु के सामर्थ्य के कारण उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि यह इस कार्य का स्वभाव है कि वह अपनी कारण सामग्री की अंगीभूत सभी वस्तुओं की सामर्थ्य के फल स्वरूप उत्पन्न हो। इस पर जैन आचार्य का कथन है कि ये सभी वस्तुएँ किसी कार्य विशेष को जन्म दे सकती हैं, यह तभी उचित है जब उनमें से प्रत्येक वस्तु उक्त कार्य को जन्म देने में सामर्थ्य हो। क्योंकि सबकी सामर्थ्य प्रत्येक की सामर्थ्य पर ही आधारित है।[2] उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि एक कार्य का जनक अनके कारण सामग्री नहीं हो सकता है। अथवा यह कि एक कार्य की कारण सामग्री का एक ही घटक इस कार्य का वास्तविक कारण होता है जब कि अन्य घटक उपयोग हीन होते हैं।[3]

यदि रूप आदि को बुद्ध के अतिरिक्त किन्हीं अन्य वस्तुओं (रूपादिको) उत्पन्न करने की भी सामर्थ्यवादी मानने पर एक तो यह, दूसरी सामर्थ्य पहली से भिन्न है, तथा अनेक सामर्थ्यों का एक ही वस्तु में रहना संभव नहीं है। दूसरे विभिन्न कार्यों का जन्म विभिन्न कारण सामग्रियों से होता है, यह भी सिद्ध नहीं हो सकता है। यदि मान लिया जाय कि एक ही कारण सामग्री से अनेक कारणों का जन्म होता है तो यह विचार भी उचित नहीं है कि एक ही कारण सामग्री उपादान कारण आदि रूपों से अनेक प्रकार की भूमिका प्रस्तुत करे।[4]

---

1 वही, 4/309
यज्जायते प्रतीत्यैक सामर्थ्य नाभ्यतो हितत्।
तयोरभिन्नतापत्ते भेदे भेदस्तयोरपि।।

2 वही, 4/310
न प्रतीत्यैक सामर्थ्य जायते तत्र किंचन।
सर्वसामर्थ्य भूतिस्वभावतत्वात् तस्य चेन्न तत्।।

3 वही, 4/311
प्रत्येकं तस्य तदभावे युक्ता हयुक्तस्वभावता।
न हि तत्सर्वसामर्थ्य तत्प्रत्येकत्व वर्जितम्।।

4 शास्त्रवार्ता समुच्चय, 4/312-15
अथान्यत्रपि सामर्थ्य रुपादीनां प्रकल्प्यते।
न तदेव तदिव्येवं नाना चैकत्र तत् कुतः।
सामग्री भेदतो यश्च कार्यभेदः प्रगीयते।

अब प्रश्न उठता है कि रुप, रुप का उदादान कारण है जिस स्वभाव से है क्या वह ज्ञान का निमित्त कारण भी उसी स्वभाव से है। या किसी अन्य स्वभाव से है।[1] यदि बौद्ध कहें कि उसी स्वभाव से है तब तो इस रुप का कार्यभूत ज्ञान वैसे ही ज्ञान रुप नहीं होगा, जैसे कि किस रुप का कार्य भूत रुप ज्ञान रुप नहीं है। ऐसी स्थिति में रुप दो स्वभावों वाला हो जायेगा। यदि कहा जाय कि क्षणस्थायी रुप बुद्धि को जन्म इसलिए देता है कि वह रुप उन वस्तुओं से भिन्न स्वभाववाला है, जो बुद्धि से भिन्न वस्तुओं को जन्म देता है, तब वही प्रश्न उठता है कि जब यह नया रुप भी बुद्धि से भिन्न वस्तु ही है तब वही क्षणस्थायी रुप, रुप को कैसे जन्म दे पाता है। वास्तव में क्षणिकवादी भावनात्मक वस्तुओं का वर्णन करते हैं, यथा घोड़े को अघोड़े से भिन्न कहना इसी प्रकार बुद्धि जनक को अबुद्धि जनक से भिन्न कहा जा सकता है। जैनाचार्य "अबुद्धि जनक से भिन्न" का अर्थ बुद्धि जनक से भिन्न समझ कर प्रश्न उठाते हैं कि रुप यदि (बुद्धि जनक होने से भिन्न) रुप जनक भी है और वही रुप आदि अबुद्धियात्मक है तो रुप अबुद्धि जनक से भिन्न नहीं होगा।[2] इसका उत्तर जैन-बौद्धों की दृष्टि से देते हैं कि रुप उन-उन वस्तुओं से भिन्न स्वभाव वाला है, इसलिए उसे व्यवहार वश रुप, बुद्धि आदि कार्यों को जन्म देने वाला कहा जाता है। वास्तव में तत्वत: यह एक रुप अर्थात् एवं स्वभाव वाला ही होता है। इस पर जैनियों की तरफ से प्रश्न किया जा सकता है कि जो वस्तु गंध से भिन्न वस्तुओं को जन्म देती है, वह गंध को भी जन्म देने वाली नहीं हो सकती है क्योंकि यह रुप उन वस्तुओं से भिन्न स्वभाववाला है। यदि बौद्ध इसका उत्तर देते हुए कहें कि ऐसा न होने का कारण यह वस्तु स्थिति है कि। वह रुप उन वस्तुओं से

नानाकार्यसमुत्पादादेकस्याः सोअपि बाध्यते।।
उपादानादिभावेन न चैक स्यातु संगता।
युक्त्या बिचार्यमाणेह तदनेकत्व कल्पना।।

[1] वही, 4/316
रुपं येन स्वभावेन रुपोपादानकारणम्। निमित्तकारणं ज्ञाने तत तेनान्येनवाभ्।।

[2] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 4/317-18
यदि तनैव विज्ञानं बोधरुपम युज्येते।
अथापेन बलाद् रुपं दिवस्वभावं प्रसज्यते।।
अबुद्धिजनक व्यावृत्या चेद बुद्धि प्रसाधकः।
रुपक्षणों हयबुद्धित्वात् कथं रुपस्य साधकः।।

भिन्न प्रभाव वाला नहीं है, जो गंध से भिन्न वस्तओं को जन्म देता है। लेकिन जैनियों ने बौद्धों के इस उत्तर का अर्थ करते कहा है कि वह रुप उन वस्तुओं से भिन्न स्वभाववाला है जो बुद्धि, रुप आदि से भिन्न वस्तुओं को जन्म देती है। अर्थात् क्षणिकवादी का कहना है कि रुप अरुप जनक से भिन्न तथा अबुद्धि जनक से भिन्न कहलाने के बाद भी वस्तुत: एक ही स्वभाववाला है। इस पर जैनियों की आपत्ति है कि यदि रुप को एक नाम विशेष दिया जाने का कोई वास्तविक आधार नहीं है, तो उसे अगंध जनक से भिन्न नाम अथवा अन्य कोई नाम दिया जा सकता है। यदि इसको एक नाम विशेष दिया जाने का कोई आधार हो तब नाम भेद, स्वभाव भेद का सूचक होना चाहिए। इस स्थिति में उस रुप को उन-उन वस्तओं से भिन्न स्वभाव वाला कहना भी बौद्धों को यह कहने के लिए बाद्ध करेगा कि वह रुप अनेक स्वभावों वाला है। जबकि यह उनके स्वभावों वाला है जबकि यह उनके मत के विरुद्ध है। यदि नेत्र आदि विभिन्न वस्तुओं का स्वभाव विभिन्न कार्यों को जन्म देना हो तो इन नेत्रादि से उत्पन्न ज्ञान को भी विभिन्न स्वभाव वाला होना चाहिए। इस पर यदि बौद्ध कहें कि विभिन्न कार्यों को जन्म देना नेत्रादि का स्वभाव नहीं है। इसलिए इन नेत्रादि से उत्पन्न बुद्धि आदि कार्यों में भी परस्पर भेद नहीं होना चाहिए। अत: इस प्रकार एक कार्यकारण को किसी वस्तु का समुदाय मानने पर भी कार्यकारण भाव की पुष्टि नहीं होती है। इसलिए जैनियों के अनुसार इस संबंध में क्षणिकवादियों की बात निर्मूल ही साबित होती है।[1]

[1] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 4/319 से 23 तक
सहि व्यावृत्ति भेदेन रुपादि जनको ननु।
उच्यते व्यवहारर्थमेक रुपोअपितत्वतः।।
अगन्धजनन व्यावृत्याअयं कस्मान्न गन्धकृत्।।
उच्यते तदभावाच्चेद भावोअन्यस्याः पूज्यते।।
एवं व्यावृत्ति भेदेअपि तस्याः नेक स्वभावता।
बलादापदयते सा चायुक्ताअभ्युपगमक्षतेः।।
विभिन्न कार्य जननस्वभावाश्चक्षुरादयः।
यदि ज्ञानेअपि भेदः स्यात् न चेद भेदो न युज्यते।।
सामग्रयपेक्षयाअप्येषं सर्वथा नोपपदयते।
यदं हेतु हेतुमद भावस्तदेषाअप्युक्ति मात्रकम्।।

क्षणिकवाद में वास्य-वासक भाव की अनुपत्तिः

जैनियों के अनुसार क्षणिकवादियों की मान्यताएँ स्वीकार करने पर वस्तुओं के बीच कार्यकारण संभव नहीं होता है। चाहे वह एक वस्तु का एक वस्तु के साथ अथवा अनेक वस्तुओं का एक वस्तु के साथ हो। अत: प्रस्तुतवादी की मान्यतानुसार एक कारण तथा उसका कार्य एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होता है। जैनियों का मत है कि इस स्थिति में इन्हें यह भी मानना चाहिए कि एक कर्म का संचय करने वाला मन उस कर्म के फल भोगने वाले मन से सर्वथा भिन्न है। अत: यदि कार्यकारणवाद को मान लिया जाय तो भी इसकी इस मान्यता पर दृढ़ रहना कि "जगत् की सभी वस्तुएँ एक दूसरे से सर्वथा पृथक है" पर विचार करने पर एक प्राणी को अपने किए कर्म का भोगने वाला नहीं माना जा सकता है। इस पर यदि बौद्ध यह कहें कि वास्य वासक भाव के कारण वह अपने किए काम का फल भोग सकता है। स पर जैनियों का कथन है कि बौद्धों के इस बात को मान लेने पर वास्य-वासक भाव भी असम्भव हो जाता है, क्योंकि इस संबंध में कोई भी विषय न होने के कारण वाश्य वाशक भाव भी संभव नहीं हो सकता है।[1]

जैनाचार्य प्रश्न करते हुए कहते हैं कि यदि वासना वाशक मन से भिन्न है तब तो वासक मन वासना से शून्य हो जायेगा। ऐसी दशा में वह किसी अन्य मन को वासित नहीं कर पायेगा। यदि उसे अभिन्न मानते हैं तो वासना का वास्य में प्रवेश असंभव हो जायेगा। यदि वासक मन के स्वरुप का वास्यमन में प्रवेश संभव मान लिया जाय तो इस मत की सिद्धि होगी की क्रमश: उत्पन्न अनेक वस्तुओं में समान भाव से रहने वाला द्रव्य नामक कोई तत्व अवश्य रहता है। इस पर यदि बौद्ध कहें कि वास्य मन में किसी प्रकार का प्रवेश कराये बिना भी वासक मन उसे वासित करता है। तो यह न्याय संगत

---

[1] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 4/324-25
नानात्वाबांधानाच्चेह कुतः स्वकृत वेदनम्।
सत्यप्यस्मिन् मिथोअत्यन्तं तदभेदादिति चिन्त्यताम्।।
वास्य-वासक भावाच्चेन्नैतत् तेस्याप्यसंभवात्।
असंभवः कथें न्वस्य विकल्पानुपपत्तित।।

नहीं है। इस स्थिति में वास्य वासक भाव कार्य कारण भाव से तत्वतः भिन्न नहीं है। इसलिए बौद्धों का यह मत नहीं माना जा सकता है।[1]

क्षणिकवाद में कार्यकारणवाद की अनुपत्तिः

कार्य को जन्म देना कारण का स्वभाव है। तथा कारण द्वारा जनित होना कार्य का स्वभाव है। इस प्रकार कार्य तथा कारण का अपना स्वभाव निश्चित है। इसलिए बौद्धों के अनुसार कार्यकारण भाव का सिद्धान्त उचित है। इसको अयुक्ति संगत मानते हुए जैनियों का कथन है कि दो वस्तुओं को एक ही ज्ञान का विषय माने बिना उनके बीच कार्य कारण भाव की कल्पना करना उचित नहीं है।[2] यदि क्षणिकवादी के अनुसार दो वस्तुएँ एक ही ज्ञान का विषय नहीं होती है अर्थात् क्षणिकवादियों के तर्क के अनुसार जिस प्रकार दो ज्ञान एक ही वस्तु को अपना विषय नहीं बना सकते है, उसी प्रकार एक ज्ञान दो वस्तुओं को अपना विषय नहीं बना सकता।[3] इस पर यदि बौद्ध कहें कि जब ऐसी स्थिति हो कि आगे पीछे आने वाली दो वस्तुओं के बीच कार्यकारणभाव वर्तमान हो, तब एक ही ज्ञान को इन्हें इस रूप में ग्रहण करना चाहिए।[4] परन्तु इस पर

---

[1] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 4/326-329
वासकाद् वासना भिन्नाअभिन्ना वाभवेद यदि।
भिन्ना स्वयं तथा शून्यो नैवान्यं वासपत्येसौ।।
अथाभिन्ना न संक्रान्तिस्तस्या वासक रुपवत्।
वास्ये सत्यां च सं सिद्धि द्रंव्यांशस्य प्रजायते।।
असत्यामणि संक्रान्तौ वासयत्येव चेदसौ।
अतिप्रसंगः स्यादेवं स च न्याय बहिष्कृतः।
वास्य-वासक भावश्च न हेतु फलभावतः।
तत्वतोअन्य इति न्यायात् स चायुक्तोनिदर्शितः।।

[2] वही, 4/330
तत् तज्जनस्वभावं जन्यभावं तथाअपरम्।
अतः स्वभाव नियमान्नायुक्तः स कदाचन।।

[3] वही, 4/331
उभयोर्ग्रहणा भावे न तथाभाव कल्पनम्।
तयोर्न्यांच्यं न चैकेन दवयोर्ग्रहणमस्ति वः।।

[4] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 4/332
एकमर्थ विजानाति न विज्ञानदवयं यथा।
विजानाति न विज्ञानमेकमर्थदवयं तथा।।

जैनियों का कथन है कि यह एक ज्ञान द्वारा दो वस्तुओं को ग्रहण किया जाना नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ ज्ञान का विषय उक्त दो वस्तुओं में से एक ही है, जब कि दूसरी वस्तु के साथ इस वस्तु का संबंध इस वस्तु का विशेष मात्र है। लेकिन इस पर बौद्धों की तरफ से उत्तर दिया जा सकता है कि उक्त दो वस्तुओं में से पहली को दूसरी के कारण रूप में जानना, दूसरी को भी जानना है तथा दूसरी को पहली के कार्य रूप में जानना, पहली को भी जानना है। जैनाचार्यों का कथन है कि इस रूप से इन वस्तुओं को जानना, एक एक ज्ञान। अलग-अलग ज्ञान। के लिए कभी भी संभव नहीं है। ऐसी दशा में यह नहीं कहा जा सकता है कि उक्त वस्तु स्थिति मानने में प्रस्तुत वादी के सामने कोई कठिनाई उपस्थित होती है।[1] अर्थात् उक्त वस्तु स्थिति क्षणिकवादी को मानना चाहिए।

यदि किसी भी वस्तु का एक दूसरी वस्तु से संबंधित रूप से ग्रहण, इस दूसरी वस्तु के बिना संभव हो, तब श्रम तथा अग्नि के बीच हेतु साध्य, संबंध हो, तब धूम्र तथा अग्नि के बीच हेतु साध्य, संबंध।अविनाभाव संबंध। को ग्रहण किए बिना भी, केवल धूम के ज्ञान से अग्नि का अनुमानात्मक ज्ञान हो जाना चाहिए। इस पर बौद्ध द्वारा कहा जा सकता है[2] कि जहाँ धूम के ज्ञान के बाद भी अग्नि का ज्ञान नहीं होता, वहाँ इस धूमज्ञान के समानान्तर (मन: स्थिति) कारण भूत ज्ञान का अभाव होता है। लेकिन जैनों का कथन है कि बौद्धों का यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि एक से समानान्तर (मन: स्थिति) कारण भूत वाले दो धूम ज्ञानों के सम्बन्ध में भी यह संभावना हो सकती है कि उनमें से एक के बाद अग्नि का अनुमात्मक ज्ञान ही तथा दूसरे के बाद न हों। अत: जब क्षणिकवादी कहते है[3] कि जिस धूम ज्ञान से अग्नि का अनुमान नहीं हो पात है उसका

---

[1] वही, 4/333
वस्तु स्थित्या तयोस्तत्वे एकेनापि तथाग्रहात्।
नो बाधकं न चैकेन दयोग्रहणमस्त्यदः।।

[2] वही, 4/334
तथा ग्रहस्तयोनेंतरेतर ग्रहणात्मकः
कदाचिपि युक्तो मदतः कथम बाधकम्।।

[3] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 4/335
तयसमतर वैकल्यं तमेत्युनुपपत्तिकम्।

समानान्तर कारण त्रुटि पूर्ण है। तब उसका यही मतलब है कि इस स्थल में ज्ञाता की मन:स्थिति ठीक नहीं है – अर्थात् यह कि वहाँ ज्ञान के अब तक के उपार्जित ज्ञान भंडार में धूम तथा अग्नि के बीच अविनाभाव। हेतु-साधन संबन्ध का ज्ञान नहीं था। जैन आचार्यों ने इसे इस प्रकार समझा कि जो ज्ञाता धूम ज्ञान से अग्नि का अनुमात्क ज्ञान कर पाता है उसकी तत्कालिक मन:स्थिति एक रूप वाली होती है तथा जो ज्ञाता धूम ज्ञान से अग्नि का अनुमानात्मक ज्ञान नहीं का पाता है उसकी मन:स्थिति दूसरे रुपवाली है। अर्थात् यदि पहले ज्ञाता कि तत्कालिक मन:स्थिति "अ" का ज्ञान स्वरुप वाली है तो दूसरे की "ब" का ज्ञान रुपवाली है। क्षणिकवादियों के इसी आशय को अन्य प्रकार से जैनों ने समझने का प्रयत्न किया है जबकि इस सम्बन्ध में क्षणिकवादी के सभी संभव आशय जैन आचार्य की दृष्टि से आपत्ति जनक बने रहते हैं परन्तु उपर वर्णित दो धूम ज्ञानों के समानान्तर कारण वस्तुत: एक से नहीं होते हैं, क्योंकि इनमें से केवल एक समानन्तर कारण का ही कोई दूरस्थ कारण, एक ऐसे प्रकार का ज्ञान है, जिसका विषय धूम का कारण है। अर्थात् इनमें से केवल एक समानन्तर कारण के ही ज्ञान का दूसरा कारण अग्नि ज्ञान है। परन्तु जिस धूम ज्ञान के समान्तर कारण का कोई दूरस्थ कारण केवल अग्नि का ज्ञान होता है धूम सहित अग्नि का ज्ञान नहीं होता है। इस पर जैनों ने कहा है कि बौद्धों ने उस पर भी प्रस्तुतवादी का उक्त वर्णन ठीक जान पड़ता है, लेकिन इससे धूम ज्ञान से अग्नि का अनुमानात्मक ज्ञान संभव नहीं होता है।[1] क्योंकि उस नये स्थल में एक अग्निज्ञान एक धूम ज्ञान का समानान्तर कारण उसी प्रकार नहीं है, जैसे कि उसे अग्नि तथा धूम के बीच अविनाभाव संबन्ध-ग्रहण के समय होना चाहिए।[2] यही कारण है कि इस प्रकार अग्नि ज्ञान वाला

तुल्योरपितदभावे हन्तः क्कचिद दर्शनात्।।

[1] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 4/337-338
नतयोस्तुल्यतैकस्य यस्मात् कारणकारणम्।
ओघात् तद्धेतु विषयं न त्वेषमितरस्य च।।
यः केवला नलग्राहिज्ञान कारण कारणः।
सोअप्येवं न च तद्धेतोस्तज्ज्ञानादपित तदगतिः।।

[2] वही, 4/339
तज्ज्ञानं यन्न वै धूमज्ञानस्य समनन्तरः।
तथाअभूदिव्यतो नेह तज्ज्ञानादपि तदगतिः।।

व्यक्ति धूम ज्ञान से अग्नि का अनुमानात्मक ज्ञान नहीं कर पाता। परन्तु इस नये स्थल में एक अग्नि ज्ञान, एक धूम ज्ञान का समानान्तर कारण उसी प्रकार से नहीं हुआ, जैसे उसे होना चाहिए। यदि इसका अर्थ यह है कि इस नये स्थल में एक अग्नि ज्ञान ही एक धूम ज्ञान के रूप में नहीं बदलता है तब बौद्धों को मानना चाहिए कि जहाँ कोई व्यक्ति धूम ज्ञान से अग्नि का अनुमानात्मक ज्ञान करता है, वहाँ किसी का ज्ञान अग्नि तथा धूम दोनों का ग्रहण करने वाला होता है।[1] अन्यथा यदि यह माना जाय कि अग्नि तथा धूम के बीच अविनाभाव संबंध ग्रहण करते समय एक अग्नि ज्ञान ही धूम ज्ञान का रूप धारण करता है तो कहना होगा कि अग्नि तथा धूम के बीच अविनाभाव सम्बन्ध ग्रहण करते समय धूम ज्ञान अग्नि ज्ञान की अनुपस्थिति में उत्पन्न हो रहा है, लेकिन अग्नि ज्ञान के न रहने पर धूम का ज्ञान तो उस व्यक्ति को भी हो सकता है, जो अग्नि तथा धूम के बीच हेतु साध्य के संबंध को नहीं जानता है। एक वस्तु एक ही दूसरी वस्तु की अपेक्षा निकटतम भूत में अस्तित्व में आई या सूदूर भूत में इन दोनों ही दशाओं में यह वस्तु स्थिति है कि यह दूसरी वस्तु इस पहली वस्तु की अनुपस्थिति में अस्तित्व में आई। परन्तु जब धूम से अग्नि का अनुमानात्मक ज्ञान वह व्यक्ति कर सकता है, जिसने एक धूम ज्ञान के ठीक पहले अग्नि ज्ञान प्राप्त किया है। लेकिन वह व्यक्ति ऐसा नहीं कर पायेगा जिसने धूम ज्ञान के बहुत पहले अग्नि ज्ञान प्राप्त किया है। अत: इससे अग्नि ज्ञान से उत्पन्न होने वाले धूम ज्ञान के निश्चयात्मक ज्ञान का जन्म देता है।[2] अर्थात् क्षणिकवादी के मतानुसार अग्नि तथा धूम के बीच अविनाभाव सम्बन्ध ग्रहण का कारण एक धूमज्ञान है और इस धूम ज्ञान का कारण एक अग्निज्ञान है। परन्तु जैन ऐसा मानते हैं कि उक्त अविनाभाव सम्बन्ध ग्रहण का कारण भूत, धूम ज्ञान अग्नि ज्ञान का रुपान्तरण है। स्पष्टत:

---

[1] वही, 4/340
तथेति हन्त। कोन्वर्थः तत्तथा भावेतो यदि।
इतरत्रैकमेवेत्थं ज्ञानं तदग्राहि भाव्यताम्।।

[2] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 4/340-342
तदभावेअन्यथा भावस्तस्य सोअस्यापि विद्यते।
अनन्तरचिरातीतं तत् पुनर्वस्तुतः समम्।
अग्निज्ञान जमेतेन धमज्ञानं स्वभावतः।
तथा विकल्पकृन्नान्यदिति प्रत्युक्त मिष्यताम्।।

कार्यकारण सम्बन्ध के सामान्य स्वरूप को लेकर ही क्षणिकवादी एवं जैन आचार्य में मतभेद है।

अत: जब तक यह स्वीकार न किया जाय कि दो वस्तुओं को अपना विषय बनाना एक ही ज्ञान के लिए संभव है तब तक इन वस्तुओं के बीच कार्य ग्रहण कारण सम्बन्ध मानना उचित नहीं है, क्योंकि उस दशा में हमें इस आशय का कि इनमें से एक वस्तु दूसरी वस्तु का कारण है, अनुभव नहीं हो सकेगा, क्योंकि दो वस्तुओं को एक साथ जाने बिना यह जानना संभव नहीं है कि उनमें से एक दूसरी का कारण है। ऐसा न होने पर बौद्ध वस्तुओं के बीच कार्यकारण भाव को प्रत्यक्ष तथा अनुमान के आधार पर स्थापित नहीं कर सकता है, क्योंकि उसके अनुसार एक वस्तु का जन्म दूसरी वस्तु से हो रहा है। यह निश्चित नहीं होता है। इस को यो समझा जा सकता है कि जब "अ" की अनुपस्थिति में "ब" का प्रत्यक्ष होता है तथा "अ" की अनुपस्थिति में "ब" नहीं दिखाई पड़ता है। तब हम कह सकते है कि "अ", "ब" का कारण है। इस पर जैनों का कहना है कि जब तक क्षणिकवादी यह मत जिसमें कि एक ही ज्ञान दो वस्तुओं को अपना विषय बनाता है, नहीं मानते है तब तक वह यह बात कि "अ", "ब" का कारण है नहीं कह सकते है। जैन कहते हैं कि जब बौद्ध की मान्यता है कि एक ज्ञान एक ही वस्तु को ग्रहण कर सकता है तब यह किसी वस्तु के विषय में नहीं कहा जा सकता है कि कौन पहले आई और कौन बाद में आई। तथा किसी वस्तु के सम्बन्ध में यह भी नहीं कह सकते हैं कि इसका जन्म इस वस्तु से हुआ अथवा उस वस्तु से हुआ। यहाँ अतींद्रय प्रत्यक्ष का कोई प्रश्न नहीं है। अत: इन कारणों से यह मानना भी उचित नहीं है कि वस्तुओं के बीच कार्यकारण संबंध प्रत्यक्ष से विलक्षण स्वभाव वाले विकल्पात्मक ज्ञान का विषय बनता है ,क्योंकि बौद्ध विकल्प की उत्पत्ति प्रत्यक्ष से उत्पन्न संस्कारों से मानते हैं। तथा इन्हीं के अनुसार जगत् की वस्तुओं की सर्वथा क्षणिक हैं। अत: जैनों के अनुसार इस संभावना को स्वीकार किए बिना कोई ज्ञान अपने रुप रुपान्तरों के बीच एक ही बना रहता है। इसलिए वस्तुओं के बीच कार्यकारण भाव निश्चय नहीं किया जा सकता।[1]

---

[1] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 4/343-347

परन्तु बौद्धों का मत है कि अग्नि आदि का ज्ञान ही धूम ज्ञान नहीं बनता, क्योंकि इनमें रुप भेद पाया जाता है। ऐसी दशा में यह नहीं कहा जा सकता है कि अपने रुप रुपान्तरों के बीच कोई ज्ञान एक ही बना रहता है। इस पर जैनों का कथन है कि एक रुप को त्याग कर दूसरे रुप की धारण करना ही, एक ज्ञान का अपने रुप रुपान्तरों के बीच बने रहना है। इस प्रकार एक बना रहने वाला ज्ञान ही संभव बनाता है कि, अमुक ज्ञान धारा बहुत लम्बे समय तक चलता है, क्योंकि इस प्रकार के ज्ञान का एक बने रहना, एक स्वानुभव सिद्ध बात है। अत: बौद्धों की यह कल्पना करना भी युक्त संगत नहीं है कि ज्ञान का एक बने रहना एक भ्रान्ति है, क्योंकि जब सभी को भ्रान्ति कहा जा सकता है। अत: लम्बे समय तक एक ही ज्ञान धारा को प्रवाहित करने के परिणाम स्वरुप ही हम निश्यच करते हैं कि, जगत् की वस्तुएँ नश्वर स्वभाव वाली है। ऐसी दशा में इस ज्ञान धारा विषयक स्वानुभाव, भ्रान्ति है तो इनका उक्त निश्चय भी अयुक्ति संगत हो जायगा। अत: बौद्धों को भी किन्हीं विकल्पनात्मक ज्ञानों के सम्बन्ध में यह मानना पड़ेगा कि वे सर्वथा अभ्रान्त हैं और जब कुछ विकल्पात्मक ज्ञान अभ्रान्त सिद्ध हो जायेंगे तब पूर्वोल युक्ति से यह सम्भावना सिद्ध हो जायगी कि एक ही ज्ञान रुप रुपांतरण करता है। इसे न मानने पर एक तो ज्ञान की उत्पत्ति उपादन कारण के बिना संभव न होगी, दूसरे कुछ अवांछनीय निष्कर्षों को मानना पड़ेगा। बौद्धों के अनुसार भी एक विकल्प ज्ञान के सम्बन्ध में यह संभव है कि वह एक वस्तु को ग्रहण करने वाला होते हुए भी, किसी दूसरी वस्तु को ग्रहण करा बैठे। इस प्रकार का ज्ञान, उन वस्तुओं के स्वरुप का निश्चय, असंदिग्ध भाव से कराने वाला नहीं होगा।[1] तब जब यह निश्चय हो

अतः कथंचिदेकेन तयोर ग्रहणे सति। तथाअप्रतीतितो न्यायूयंन तथा भावकल्पनम्।
प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां हन्तैवं साध्यते कथम्। कार्य कारणता तस्यात्तदभावादेरनिश्चयास्।।
न पूर्वमुत्तरं चेह तदन्याग्रहणाद ध्रुवम्। गृहयतेअत इदं नातो न त्वंतीन्द्रिय दर्शनम्।।
विकल्पोंअपि तथा न्यायाद पुजय्ते न हयनीद्दशः। तत्संसकारप्रसूतत्वातक्षणित्वाच्चसर्वथा।
नेल्पं बोधन्वयाभावे घटते तदविनिश्चयः। मध्यस्थयमवलभ्य्यैततचिन्त्यतांस्वयंमेवतु।।

[1] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 4/348 से 354 तक
अग्न्यादिज्ञानमवेह न धूमज्ञानतां यतः। ब्रजत्याकार भेदेनकुतो बोधन्वयस्ततः
तदाकारपरित्यागात तस्याकारन्तरस्थिति बोधन्वयः प्रदीधर्यकाध्वसाय प्रवर्तकः।
स्वसवेद नसिद्धत्वात् न च भ्रान्तोअयनित्यपि। कल्पनायुज्यते युक्त्या सर्वभ्रान्तिप्रसंगतः
प्रदीर्घाध्यवसायेन न श्वरादि विनिश्चयः। अस्य च भ्रान्ततायां यततत्तद्येति न युक्तिमत्।

गया कि एक वस्तु का स्वभाव एक दूसरी वस्तु बन जाती है, क्योंकि कारण भूत वस्तु का स्वभाव इसका कारण भूत वस्तु से भिन्न नहीं है। अत: एक कार्यभूत वस्तु का जन्म इस कार्यभूत वस्तु से भिन्न नहीं है। इसी प्रकार जब एक वस्तु का स्वभाव दूसरी वस्तु से जन्म पाना है तब भी उक्त बात ही होती है। अर्थात् दूसरी वस्तु पहली बन जायगी। क्योंकि उक्त पहली वस्तु का स्वभाव ही है वह जन्म पाये। तब उसका जन्म इसे वस्तु के रुप, स्वभाव तथा इस दूसरी वस्तु जिससे इसका जन्म है पर निर्भर करता है। इस प्रकार शब्दों के अर्थों पर विचार करने से ही यह मत स्थित हो जाता है कि रुप रुपान्तर धारण करते हुए एक बने रहना वस्तुओं का स्वभाव है, इस पर अन्य प्रकार सोचना तर्क सम्मत नहीं है।[1]

वास्तव में एक कार्य विशेष को जन्म देने की क्षमता से रहित वस्तु तो जैसी इस कार्य को, वैसी ही अन्य कार्य को, जन्म नहीं देती। अर्थात् यह वस्तु जैसे अन्य किसी कार्य को जन्म नहीं देती वैसे ही प्रस्तुत कार्य विशेष को भी जन्म नहीं दे सकती है। इसी प्रकार क्षणिकवादी मतों में कारण कार्य को जन्म देते समय किसी प्रकार का व्यापार नहीं करता और नहीं अपने जन्म के पूर्व सर्वथा असत्ताशील होने के कारण कार्य कारण पर निर्भर रहता है। इसलिए बौद्धों की वस्तु विशेषों के बीच कार्य कारण भाव की कल्पना उनके अज्ञान का द्योतक है, क्योंकि उनकी मान्यतानुसार किन्हीं भी दो वस्तुओं के बीच कार्यकारण भाव की कल्पना की जानी संभव होती है। अत: जैनों के अनुसार एक कारण एक कार्य विशेष की जन्म देने की क्षमता वाला है इसका अर्थ है कि यह कार्य इस कारण में अपने जन्म से पूर्व किसी न किसी तरह विद्ययमान है। इसी प्रकार उनकी मान्यतानुसार एक कारण एक कार्य विशेष को जन्म देता है का अर्थ है कि यह कारण इस कार्य को जन्म देने के बाद भी इस कार्य में विद्यमान है। चूँकि

तस्यादश्चयवशमेष्टव्यं विकल्पस्यापि कस्यचित्। येन-केन प्रकारेण सर्वथाअभ्रान्तरुपता।
सत्यामस्यां स्थितोअस्माकमुक्तवन्नयाययोगतः। बोधान्वयोअदलोत्पत्यभावाच्चातिप्रसंगतः
अन्यादृशयदर्थम्यः स्वयंमन्यादृशोप्ययम्। यतश्चेष्टस्ततोनास्मात् तत्रसंदिग्धनिश्चय।।

[1] वही, 4/357
तत्तज्जनन भावत्ते घवे तदभाव संगतिः। तस्यैव भावो नाम्यो यज्जन्याच्चजननं तथा।
एवंतज्जन्य भावत्वेअप्येषा भाव्याविचक्षणै। तदेव हितयोभावः स चेतरसमाश्रयः।।
इत्येवमन्वयापत्तिः शब्दार्थादेव जायते। अन्यथाकल्पनं चास्यसर्वथान्यायबाधितम्।।

क्षणिक वादी न कारण में कार्य का अस्तित्व मानता है, न कार्य में कारण का इसलिए जनक जन्म। कारण, कार्य। आदि शब्दों के अर्थ ही क्षणिक वाद का खंडन करने में समर्थ है, ऐसा जैन आचार्य का मत है।[1]

बुद्ध वचनों की सहायता से क्षणिकवाद का खंडनः

जैन भगवान बुद्ध के वचनों को पूर्ववत के रूप में प्रयुक्त करते हुए कहते हैं कि भगवान बुद्ध ने कहा है, हे भिक्षुओं ! अवसे पहले 91 वे कल्प में मेरे एक शस्त्र से एक पुरुष मारा गया था। उस कार्य का यह फल है कि मेरा पैर कांटे से विधा है। इस कथन में मैं "मेरे द्वारा" आदि शब्दों से वक्ता का अपना सूचन होता है तथा उसी के संबंध में बध क्रिया का उल्लेख एक आप्त व्यक्ति द्वारा हुआ है। ऐसी दशा में प्रस्तुत वादी का क्षणिकवाद के पक्ष में आशक्ति व्यर्थ है। यदि उक्त स्थल में भगवान बुद्ध ने क्षण ससंतान (क्षण परंपरा) को दृष्टि में रख कर बात की है तो जब क्षणसंतान कार्य कारण भाव के अलावा कोई वस्तु नहीं है तो ऐसी दशा में बौद्धों को "मेरा" मैं शब्द का प्रयोग ठीक नहीं है। अर्थात् जैनों का कथन है कि क्षणिकवादी के अनुसार अमुक दो वस्तुओं में एक ही क्षण परंपरा की घटक होना चाहिए है अर्थात् इन दो वस्तुओं के बीच कार्य कारण भाव है यह उनका अर्थ न होना चाहिए कि ये दोनों वस्तुएं (शब्द) एक ही व्यक्ति के लिए है। इस पर जैनी यह प्रश्न प्रस्तुत करते हैं कि तब उक्त दो शब्दों से एक व्यक्ति का बोध नहीं हो सकता है, इसके उत्तर में यदि बौद्ध कहें कि उक्त स्थल में "मैं" शब्द से भगवान का तात्पर्य "मेरी हेतुशक्ति" से है। इस पर जैनों का कथन है कि ऐसा कहना प्रमाण से सिद्ध नहीं है, क्योंकि प्रस्तुत वादी के अपने ही मतानुसार वक्ता का आशय एक अज्ञेय अतीन्द्रिय वस्तु हुआ करता है। परन्तु क्षणिकवादी का कहना है कि प्रस्तुत वाक्य से भगवान बुद्ध का आशय क्रमशः इस वाक्य का वक्ता तथा इस वाक्य में वर्णित बध क्रिया का कर्ता एक ही कार्य कारण परम्परा के होते हुए भी एक वर्तमान घटक तथा

[1] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 4/358-359
तडुपशक्ति शून्यं तत् कार्यकार्यान्तरं यथा।
व्यापारोअपि न तस्यापि नापेक्षअसत्वतः कंचित्।
तथाअपि तु तयोरेव तत्स्वभावत्वकल्पनम्।
अन्यत्रापि समानत्वात् केवलं ध्यान्ध्यसूचकम्।।

एक भूतपूर्व घटक है। इस पर जैनों का आशय यह है कि एक व्यक्ति के मन का आशय जानना दूसरे व्यक्ति के लिए संभव नहीं है।[1] इसलिए क्षणिकवादी का उक्त कथन अर्थहीन ही है।

परन्तु यदि बौद्ध कहे कि इस सम्बन्ध में बुद्ध का उपदेश ही प्रमाण है तो इस पर जैन कहते हैं कि प्रमाण रुप से प्रस्तुत किए गये बुद्ध के उस उपदेश का कुछ और ही अर्थ होना चाहिए। इस उपदेश का अर्थ क्षणिकवादी द्वारा प्रस्तुत किया गया नहीं होना चाहिए। यदि पूछा जाय कि हमारे उत्तर के पक्ष में प्रमाण क्या है तो हम अपने उक्त कथन को देंगे।[2]

फिर कहीं अन्यत्र बुद्ध ने कहा है कि यह पृथ्वी एक एक कल्प तक स्थिर रहने वाली है तथा यह भी एक शास्त्र वाक्य है पाँच वाह्य भौतिक पदार्थों को दो इंद्रियों द्वारा जाने जा सकते हैं। जैनों का कथन है कि इन शास्त्र वचनों से जगत् की वस्तुएं क्षणिक नहीं मानी जा सकती है। वास्तव में ये बाह्य पदार्थ क्षणिक होगें तो दो इन्द्रियों द्वारा जाने जा सकने योग्य नहीं होगें, क्योंकि दो विभिन्न इन्द्रियों द्वारा दो विभिन्न समयों पर जाना जाने वाला पदार्थ ही "दो इन्द्रियों द्वारा जा ना जा सकने योग्य" कहलाता है। यदि बौद्ध कहें कि पदार्थ दो इन्द्रियों द्वारा एक ही समय में ग्रहण किया जायगा, तो इनमें से एक इन्द्रिय द्वारा जनित ज्ञान अप्रमाण होना चाहिए, क्योंकि यह ज्ञान एक ज्ञात वस्तु के विषय बना रहा होगा। ऐसी दशा में बुद्ध का वचन कि "कुछ पदार्थ दो इन्द्रियों द्वारा

---

[1] शास्त्रवार्ता समुचच्य, 4/360-363
इत एक नवते कल्पे शक्त्या में पुरुषो हतः
तेन कर्मविपाकेन पादे विदोअस्मि भिक्षवः
मे गयेत्यात्म निर्देशस्तदगतोक्ता बध क्रिया।
स्वयमाप्सेन यत् तद् वः काअयं क्षणिकताअअग्रहः।
सन्तानपेक्षपैतच्चेदुक्तं भगवता ननु।
स हेतु फल भावो यत् तन्मे इति न संगतम्।।

[2] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 4/364:365
ममेति हेतुशक्तया चेत तस्यार्थेअपं विवक्षितः
नात्र प्रमाणप्रत्यक्षा तद विवक्षा यतो मता।
तददेशना प्रमाणं चेत न साअन्यार्था भविष्यति।
तत्रापि किं प्रमाणं चेदिदं पूर्वोक्तमाषकम्।।

जाने जा सकने योग्य हैं मिथ्या होगा। यदि इसके उत्तर में क्षणिकवादी कहें कि "एक इंद्रिय द्वारा जाने गये रुप आदि के ठीक बाद जो रुप आदि उक्त रुप आदि से उत्पन्न होते हैं वे मनोज्ञान का विषय हुआ करते हैं। ऐसी दशा में पाँच वाह्य पदार्थों को दो इन्द्रियों द्वारा जाने जा सकने योग्य कहने में कोई असंगति नहीं है।" लेकिन जैन आचार्य इसे ठीक नहीं मानते हैं क्योंकि अब भी यह सिद्ध नहीं हुआ कि कोई एक ही पदार्थ दो इन्द्रियों द्वारा जाना जा सकता है वह इसलिए कि उक्त स्थल में भी दो ज्ञानों ने दो अलग-अलग पदार्थों को विषय बनाया है। जैनों ने कहा है कि इस स्थिति में बौद्ध यह भी नहीं कह सकते हैं कि उसके मत का आधार यह वस्तु स्थिति है कि दो पदार्थ एक ही सामान्य ज्ञान आश्रम होते हैं, क्योंकि तब तो वह यह मानने लगेंगे कि सामान्य ज्ञान एक वास्तविक पदार्थ हैं। यदि सामान्य ज्ञान को एक वास्तविक पदार्थ मान लिया जाय, तो यह बात सच है कि प्रस्तुत बौद्ध सामान्य ज्ञान को इन्द्रिय विशेषों द्वारा (मन द्वारा) जाने जा सकने योग्य नहीं मानते हैं। अतः यह सिद्ध हो जायेगा कि यदि जगत् के सभी पदार्थ क्षणिक हैं तो इनमें से कोई भी पदार्थ वस्तुतः, दो इन्द्रियों द्वारा जाना जा सकने वाला नहीं कहा जा सकता।[1] अतः भगवान् बुद्ध के बचनों से भी यह सिद्ध होता है कि वस्तु को क्षणिक नहीं माना जा सकता है।

---

[1] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 4/336 से 373
तथाअन्यदपि यत् कल्पस्थायिनि पृथिवीकंचित्।
उक्त भगवता विधूनामान्त्रय स्वयमेव तु।
पंच वाहयदिविज्ञेया इत्यन्यदपि चार्षकम्।
प्रमाणमवगन्तव्यं प्रक्रान्तार्थ प्रसाधकम्।
क्षणिकत्वे यतोअमीषां न दिवविज्ञेयता भवेत।
भिन्नकालग्रहे हयाभ्यां तच्छब्दार्थोपपत्तितः।
इक कालग्रहे तुस्यात् तस्यैकस्या प्रमाणता।
गृहीत ग्रहणादेवं मिथ्या तथा गतं वचः।
इन्द्रिपेण परिच्छिन्ने रुपादौ तदन्नतरम्।
चन्द्रपादि ततस्मत्र मनोज्ञानं प्रवर्त्तते।।
स्वचन विरोधोअस्ति दिवविज्ञेयत्व भावतः
पंचानामपि चेन्नन्यायादेत दप्य समज्जतम्।
नैकोअपि यद दिवविज्ञेय एकैकेनैव वेदनात् सामान्यापेक्षयैतचत्चेन्न तत्सत्तव
प्रसंगतः। सत्वेअपि नेन्द्रियज्ञानं दवन्त तदगोचरं मतम्।

उपसंहार:

उपर्युक्त विवेचनों को देखते हुए कहा जा सकता है कि जैनाचार्यों ने क्षणवाद का जो खंडन प्रस्तुत किया है, उनमें से अनेक बातें उचित नहीं हैं। इन्होंने बौद्धों के क्षणिक वाद के खंडन में संतानवाद की उपेक्षा की है। इससे जैनाचार्यों द्वारा क्षणिकवाद पर किए गये अनेक आरोप निराधार हो जाते हैं। इन्होंने कहा है कि क्षणवादी मान्यता को मानने पर स्मरण शक्ति का नाश किए गये कर्मों का नाश तथा न किए गये कर्मों का फल भोगना पड़ेगा। वस्तुओं के क्षण-क्षण निरन्वय विनाशी होने के कारण अनेकानुक व्यावहारिक व्यवस्थायें असंभव हो जायगी। यथा स्वपति, मातृघाती, स्वस्त्री, दिए गये धन की वापसी, स्मृति, कुलजाति, गुरु-शिष्य आदि की व्याख्या असंभव हो जायेगी। इसके अतिरिक्त जैनाचार्य कहते हैं कि यदि क्षणवादी व्यवहार को विकल्प बुद्धि मानें तो चिन्तन में रत उनकी निर्विकल्पबुद्धि की धारणा भी असंभव हो जायगी। क्षणवाद की मान्यता स्वीकार करने पर उनके द्वारा प्रस्तुत पदार्थों के गुण असंभव हो जायेंगे। इस स्थिति में उनका निर्हेतुक विनाश, अर्थ क्रियाकारित्व, रुप-रुपान्तरण, अन्तर्तागामी, नाश, भाव का अभाव बनना अभाव का भाव बनना सामग्री करणवाद, वास्यवासक भाव, कार्य कारण भाव अप्रमाणित हो जायगा। इसके पश्चात् जैनाचार्य ने स्वयं बुद्ध के बचनों को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि यदि बुद्ध के बचनों को देखा जाय तो भी क्षणिक वाद की पुष्टि नहीं होती है। इस कथन में जैन आचार्य ने जातक कथाओं को ही माध्यम बनाकर क्षणवाद का खंडन किया है। परन्तु जैनाचार्य द्वारा प्रस्तुत क्षणवाद का खंडन उचित नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि इनके द्वारा किए गये खडन का समर्थ क्षण संतान को देखते हुए नहीं किया जा सकता है। संतानवाद को स्वीकार करने पर जैनों द्वारा प्रस्तुत सभी खंडनों का स्वत: निराकरण हो जाता है। अत: ऐसा प्रतीत होता है कि जैन आचार्यों ने अपनी संकुचित विचारधारा को माध्यम बनाकर क्षणवाद का खंडन किया है। इन्होंने बौद्धों के क्षणसंतान की विचार धारा की उपेक्षा की है। इसलिए एक स्थान पर क्षण परम्परा का खंडन करते हुए कहा है कि क्षणिकवस्तु को ही बौद्ध वास्तविक मानते हैं। अत: क्षण परम्परा कोई क्षणिक वस्तु न होने के कारण वास्तविक नहीं मानी

दिवविज्ञेयत्वमित्येवं क्षणभेदेन तत्वत:।।

जा सकती है।[1] क्षण परम्परा के लिए किया गया जैनियों का यह तर्क हास्यप्रद प्रतीत होता है।

वास्तव में बौद्धों की क्षण संतान की विचारधार को एक सुविकसित परंपरा कहा जा सकता है। बौद्धों ने वस्तुओं को क्षणिक मानने की परंपरा को अतिविकसित किया। जिसके परिणाम स्वरुप संतान की विचारधारा प्रस्तुत कर अन्य भारतीय दर्शनों से पृथक कर दिया। जिसमें वस्तुओं के सभी धर्मों एवं भावों को अनित्य बताया गया है।[2] तथा इनकी तुलना जल के बुलबुलों एवं मृगमरिचिका से की गयी है।[3] संभवत: इन्हीं बुद्ध बचनों का विकास करते हुए वैभाषिक सभी संस्कृत पदार्थों को क्षणिक मानते हैं।[4] परन्तु सौत्रांत्रिक इस पर पूर्ण रुपेण आधारित हो अपने दर्शन को प्रस्तुत करते हैं। इसीलिए बहुपदार्थवादी बौद्ध दर्शन कालान्तर में क्षणभंगवादी बन गया।

क्षणिकवादी वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए उन्हें निरंतर परिवर्तनशील मानते हैं। इसी परिवर्तन की निरंतरता को क्षणसंतान कहते हैं। पदार्थों की इस निरंतरता का अर्थ परिवर्तन से हैं। चूँकि परिवर्तन निरंतर हो रहा है इसलिए उसमें एक संतता है। इसकी उपमा बौद्धों ने दीपक की लव, सरिता के जल प्रवाह, से दिया है। ये वस्तुओं की इसी निरंतरता को संतान भी कहते हैं। इस सिद्धान्त पर विचार करने से जैनियों द्वारा प्रस्तुत आक्षेप निराधार प्रतीत होता है। उदाहरण स्वरूप वस्तुओं के अर्थक्रियाकारित्व की इस सिद्धान्त से ही पुष्टि संभव है। जिसको जैनियों ने असंभव बताया है। वस्तुत: किसी कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति को ही उस वस्तु को सत्ता का लक्षण माना जाता है। इस आधार पर सिद्ध किया जा सकता है कि सत्ता क्षणिक है।

---

[1] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 6/427

[2] अंगुत्तर निकाय, 4.195
सब्बे धम्मा अनिच्या सब्बे भावा अनिच्या
दुक्खा विपरिणाम धम्मा।।

[3] धम्मपद, 13.4
यथा बुब्बलकं पस्ये यथा पस्से मरीचिकं।
एवं लोकमेवक्खन्तंमच्चु राजा न पस्सति।।

[4] अभिधर्म कोश, 4.4
संस्कृतं क्षणिकं यतः।

इसकी उपमा अलात् चक्र से दी जा सकती है। जब हम एक अलात् को चारों ओर घुमाते हैं तो उसमें एक निरंतरता उत्पन्न होकर एक चक्र का निर्माण करती है। इसी को क्षण संतान कहते हैं। इसके अतिरिक्त सरिता के जल को, यह वही जल है जिसमें हम प्रथम क्षण में डुबकी लगाये नहीं कहा जा सकता है, परन्तु उसे, उससे भिन्न भी नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार बढ़े हुए नख व केश की भी उपमा दी जा सकती है। अत: वस्तुओं में क्षण-क्षण परिवर्तन देखते हुए यही प्रतीत होता है कि जगत् की समस्त वस्तुएँ निरंतर परिवर्तनशील हैं। इस परिवर्तन की निरंतरता से वस्तुओं में एक संस्कार उत्पन्न हो जाता है। जिससे स्मरण शक्ति बनी रहती है। अत: बौद्धों के इस सिद्धान्त पर जैनियों द्वारा किए आक्षेपों का निराकरण हो जाता है। अत: स्पष्ट रुप से कहा जा सकता है कि जैनाचार्यों ने वस्तुओं की क्षणिकता का अर्थ उनके क्षणभर में विनाश हो जाने से किया है जब कि बौद्ध इसका अर्थ उसकी निरंतर परिवर्तनशीलता से करते हैं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि जैनियों द्वारा बौद्धों के इस सिद्धान्त पर किया गया आरोप उनके सिद्धान्त के एक अंश का ही स्पर्श करता है।

पंचम अध्याय

जैन साहित्य में प्रतिबिम्बित बौद्ध विज्ञानवाद

जगत् की समस्त वस्तुओं को स्वचित्त में देखने को ही विज्ञान कहते हैं।[1] इसीलिए इस मत के समर्थकों को विज्ञानवादी तथा उनके सिद्धान्त को विज्ञानवाद कहते हैं। विज्ञान 8 प्रकार का होता है। यथा- चक्षु विज्ञान, श्रोत विज्ञान, प्राण विज्ञान, जिह्वा विज्ञान, काय विज्ञान, मनोविज्ञान, क्रिष्टमनोविज्ञान, आलय विज्ञान।[2] इनके अनुसार आलय विज्ञान ही सब विज्ञानों का आश्रय है। इसी से सभी विज्ञान जल तरंगों की भाँति उद्भूत एवं नष्ट होते रहते हैं। यही दर्पण में प्रतिबिम्ब के सदृश दृष्टिगत होता है।[3] इन वादियों ने विज्ञानों से उदभूत जगत् के अवास्तविक ज्ञान की वास्तविकता को जानने के लिए ध्यान को माध्यम बनाया।[4] इसीलिए इन्हें योगाचार्यवादी भी कहा गया है। ये आलय विज्ञान को समझने के लिए योग का आचरण करते हैं तथा बाह्य जगत् की वास्तविकता जानने के लिए योग का अभ्यास करते हैं।[5] यहाँ योग का अर्थ जगत् एवं चित्त में एकात्म स्थापित करना है।[6] इसी को आर्य ज्ञान तथा गतगर्भ, आलाय विज्ञान आदि नामों से संबोधित किया जाता है।[7] इनके अनुसार प्रत्यक्षानुमानादि से प्राप्त इन्द्रिय ज्ञान मिथ्या है। इन्द्रियातीत ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। इसी को विज्ञान

---

[1] लंकावतार, 10/255, पृ0 124:
लक्ष्य लक्षण निर्मुक्त यदा पश्यति संस्कृतम्,
विधूतं हि भवेतेन स्वचित्त पश्योतजगत्।।

[2] वही, अध्याय 6, पृ0 90 से 97 तक

[3] वही, 2/115, पृ0 22
उदधेर्यथा तरंगा हिदर्पणे सुविने यंथा।
दृश्यंन्तिः युगपल्काले तथा चित्त स्वगोचरे।।

[4] वही, 2/174, 176
ध्यानानि चाप्रमाणानि आरुपश्च समाधयः।
संज्ञानिरोधो निखिलश्चित्तमात्रे न विद्यते।।
ध्याता ध्यानं च ध्येयं च प्रहाणं सत्य दर्शनम्।
कल्पनामात्रमेवदं योः बुध्यति समुच्यते।।

[5] सर्वदर्शन संग्रह, अध्याय 2, पंक्ति 175-178 तक

[6] लंकावतार, 3/55, पृ0 68
आर्याणां दर्शनं शुद्धं विमोक्षत्रयसंभम्।
उत्पाद भेग निर्मुक्तं निराभास प्रचारिणाम्।।

[7] वही, 6/1, पृ0 91
गर्भस्तथागतानां हि विज्ञानैः सप्तमिर्युतः।
प्रवर्ततेअदवयो ग्राहात्परिज्ञानन्निवर्तते।।

कहते हैं। इससे अन्यथा प्रतीत जगत् की समस्त वस्तुएँ मिथ्या है।[1] अत: चित्त के इतर विश्व के समस्त संस्कृत-असंस्कृत धर्म विकल्पवत्[2] तथा माया प्रसूत हैं।[3] अत: सम्यक ज्ञान, परिनित्पन्न लक्षण है।[4] इन्हीं मूल विचारधारओं का विकास करते हुए विज्ञानवादी आचार्य असंग, वसुबंधु, दिग्नाग, धर्मपाल तथा धर्मकीर्ति ने अपने विचार प्रस्तुत किए। इनकी संक्षिप्त रुप-रेखा प्रस्तुत करना आवश्यक प्रतीत होता है। क्योंकि बिना इसको प्रस्तुत किए जैनियों द्वारा इस पर किए गए आक्षेपों की समीक्षा संभव नहीं है।

असंग विज्ञानवादियों को दो प्रकार की सत्ता स्वीकार कराते हैं। यथा परमार्थिक सत्ता एवं व्यवहारिक सत्ता। व्यवहारिक सत्ता दो प्रकार की होती है। एक भ्रान्त से परिकल्पित तथा दूसरी प्रत्यय से उत्पन्न परतंत्र। रज्जु को सर्व समझना भ्रान्ति से परिकल्पित सत्ता है तथा रज्जु को रज्जू समझना परतंत्र सत्ता है। परिकल्पित सत्ता भ्रान्तिमान होती है जबकि परतंत्र सत्ता व्यवहारमात्र होती है। परिकल्पित सत्ता एवं परतंत्र सत्ता से मुक्त परमार्थिक सत्ता को परिनिष्पन्न सत्ता कहते हैं। इसे तथता भी कहा जाता है। पदार्थों के अस्तित्व को निरुपित करते हुए कहा गया है कि जो परिकल्पित स्वभाव से अविद्यमानता है, वही परिनिष्पन्न स्वभाव से परम् विद्यमानता है तथा जो परिकल्पति स्वभाव से सदा अनुपलब्ध है, वही परिनिष्पन्न स्वभाव से परम उपलब्ध है।[5]

---

[1] वही, 3/24, पृ0 62
प्रज्ञप्ति सत्यतो हयात्मा द्रव्यसन्नंहि विद्यते।
स्कंधानां स्कंधता तदवत्प्रज्ञप्त्या न तु द्रव्यतः।।

[2] वही, 10/19, पृ0 108
संस्कृत्मसंस्कृत नास्ति अन्यत्र ही विकल्पनात्।
बाला गृहणन्ति धिडयूटा बन्ध्या स्वप्ने यथा सुतम्।।

[3] वही, 2/2, पृ0 10
मायोपंमाः सर्वधर्माः चित्त विज्ञान वर्जिताः।
सदसन्नोपलब्धास्ते प्रभ्या कृपया चते।।

[4] वही, 6/6, पृ0 93
नामनिमित्त संकल्पाः स्वभावदवयलक्षणम्
सभ्यग्ज्ञानं तथात्वं च परिनिष्पन्न लक्षणम्।।

[5] महायान सूत्रा लंकार, 9, पृ0 48
याअविदयमानता सैव परमाविद्यमानता।
सर्वथानुपलभ्भश्च उपलभभपरोमतः।।

वस्तु के अभूत परिकल्प तथा प्रत्ययजन्य स्वभाव को माया के समान कहा गया है।[1] जगत की वस्तुओं एवं उसके ग्राहक मन में द्वैत की भ्रान्ति माया निर्मित वस्तुओं के समान प्रतिभाषित होती है। इस द्वैत कल्पना का अभाव भी परिनिष्पन्न है। तथा इसकी उपलबधि अभूत परिकल्प की साम्वृतिक सत्यता है।[2] संवृत्ति से उत्पन्न वस्तुओं को साम्वृतिक कहते हैं। सत्य वस्तु पर आवरण डालने वाली अविद्या को सम्वृत्ति कहते हैं।[3] अविद्यमान वस्तु के स्वरुप का किसी अन्य वस्तु पर आरोपण ही अविद्या कहलाता है। इसी को सम्वति कहते हैं यथा रस्सी को सर्प समझना इसी श्रेणी के अंतरगत मृगतृष्णा का जल एवं जादूगर का दूसरों को व्यामोहित करना भी आता है।[4] इसलिए जगत् की आध्यात्मिक वस्तुएँ माया के समान तथा बाह्यवस्तुएं स्वप्न में दृष्ट वस्तुओं के समान हैं। जो दर्पण में प्रतिबिम्बित बिम्ब के समान दृष्टि गत होती हैं। मन एवं मन से उत्पन्न वस्तुएँ मृग मरीचिका के समान भ्रान्तिकारक है। इसीलिए धर्मोपदेश प्रतिध्वनि रुप तथा समाधि जन्य धर्म जल में प्रतिबिम्बित चन्द्र बिम्ब के समान है।[5] अत: विज्ञानवादी चित्त को ही ग्राह्य-ग्राहक एवं संस्कृता-संस्कृत के द्वैत रुप में प्रतिभाषित मानते हैं। चित्त के इस प्रतिभाषन को ही विद्प्ति मात्रता कहा जाता है।[6] नाम एवं अर्थ की अन्योन्यापेक्ष प्रतीति को परिकल्पित लक्षण माना गया है।

---

[1] वही, 11, पृ0 58
यथामाया तथा भूत परिकल्पोनिरुच्यते।
यथामायाकृतं तदवत दवय भ्रान्तिर्निरुच्यते।।
यथातस्मिन्न तदभाव परमार्थस्तथेस्यते।

[2] वही, पृ0 59
तस्यादंस्तित्वनिस्तित्वं मायादिषु विधीयते।

[3] बोधिचर्यावतार, पंजिका, पृ0 352

[4] चित्त विशुद्ध प्रकरण, 51

[5] महायान सूत्रालंकार, पृ0 59

[6] वही, पृ0 63
चित्त द्य प्रभास रागादयाभास निष्यते तदवत्
श्रद्धाभासं न तदन्यो धर्मः क्लिष्टाकुशलोअस्ति।।
चित्तमात्रेव दवय प्रतिभासमिष्यते ग्राहय प्रतिभासं ग्राहक प्रतिभासं च।
यथा क्षय प्रतिभासादन्यो न दवयलक्षणः।
इतिचिन्त्तं चिन्ताभासं चिन्ताकारं प्रवततंते।

इसलिए शब्दानुबुद्धि से उत्पन्न समस्त अनुभव कल्पना प्रसूत है। अभूत परिकल्पति ग्राह्य-ग्राहक लक्षण को प्रत्ययजन्य मानना युक्ति संगत है। पंचइन्द्रिय विज्ञान, मन-मनोविज्ञान से उत्पन्न पदार्थ ज्ञान को ही प्रत्यय ज्ञान कहते हैं। इसी को वस्तु की परमसत्ता कहते हैं। यह भी परिकल्पित होती है। इन सबसे परे पदार्थों की परिनिष्पन्न सत्ता ही स्वीकार की जा सकती है। यह सत्ता निर्विकल्प होती है। इसी को तथता, नि:स्वभावता आदि नामों से उद्धृत किया जाता है।[1] यथा सर्वबुद्धिमयं जगत यह ज्ञान योगी प्रत्यक्ष से जाना जाता है।[2] वसुबन्ध ने कहा है कि विज्ञान वादियों के अनुसार यह प्रत्यक्ष जगत असत्य है। इसकी सत्यता तिमिर रोगी के केश, चन्द्र दर्शन के समान है।[3] अर्थात् दृश्य जगत् का अस्तित्व वास्तविक नहीं है। इस पर आपत्ति प्रस्तुत की जा सकती है कि इस स्थिति में देशकाल, नियम, संतान का अनियम, व्यवहार सामर्थ्य तथा कृत्या-कृत्य का फल असंभव हो जायगा।[4] इस आपत्ति देश काल के नियम को स्वप्नवत् संतान के अनियम को प्रेतवत कहते हैं।[5] इन्होंने व्यवहार सामर्थ्य को स्वप्न घात वत तथा किव्याकृत को नरकथालादि के समानान्तर माना गया है।[6] ये देश काल के नियम को स्वप्न के समान मानते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार स्वप्न में देश काल की अनुपस्थिति में भी उसकी प्रतीति होती है उसी प्रकार वास्तविकता के

तत्रचिन्तभववस्तु प्रच्चित्राभास प्रवर्तते।।

[1] महायान सूत्रालंकार, पृ0 50-51

[2] तत्वार्थ वार्त्तिक, 1.12, न्यायबिन्दु 1.9, भत्तार्थ भावानाप्रकषेपर्यन्तजं योगिज्ञान

[3] विज्ञप्तिमात्रंता विंशतिका0 1,
विज्ञप्तिमात्र में वैत दसदर्थाबभासनात्।
यथातैमिरिकस्यासत्केशचन्द्रादि दर्शनम्।।

[4] विज्ञप्ति मात्रता विंशतिका, 2

[5] वही, 2,
अनर्थायदि विज्ञप्तिर्नियमों देशकालावव:
संतानस्यानियमश्चयुक्ताकृत्यक्रिया न च।।
देशदिनियम सिद्धः स्वप्नवत् प्रेतवतपुनः।
संताना नियमः सर्वैं पूयनदयादि दर्शने।।

[6] विज्ञप्ति मात्रता विंशतिका, 3,
देशदि नियमः सिद्धः स्वप्नवत् प्रेतवतपुनः।
संतानानियमः सर्वे पूय न दयादि दर्शने।।

अभाव में दृश्य जगत में देश काल की व्यवस्था संभव होती है। संतान के अनियम की प्रेत से तुलना की जा सकती है। प्रेतों पर नरक की कलुषता का प्रभाव नहीं पड़ता है। इसी भाँति बाह्यार्थ का प्रभाव व्यक्ति निरपेक्षता (संतान के अनियम) पर नहीं पड़ता है। व्यवहार सामर्थ्य को स्वप्नघात[1] के समान सिद्ध किया जा सकता है क्योंकि स्वप्न में वास्तविक प्रसंग (स्त्री) की अनुपस्थिति में ही स्खलन हो जाता है। इसी की स्पन्घात कहते हैं। विज्ञानवादी कृत्याकृत्य की परकपालादि के सदृष्य मानते हुए कहते हैं कि नरक से सुख-दुख का अनुभव नरकपाल को नहीं होता है। नरकवासियों को नरक की कलुषता का अनुभव होता है, इसी भाँति सामान्य जन जगत का अनुभव करते हैं विज्ञाजन को दृश्यजगत को अनुभव नहीं होता है।[2]

इस बात से ऐसा प्रतीत होता है कि विज्ञानवादी नरक पालादि की नरक में उत्पन्न प्राणी नहीं मानते हैं। यदि इस पर शंका करते हुए की कहे कि स्वर्ग के समान नरक में नरक पाल पक्षी आदि की उत्पत्ति मानी जा सकती है, यथा गरूड़ आदि। यहाँ यह ध्यातव्य है कि गरूड़ को यदि यह कहा जाय कि स्वर्ग में उत्पन्न स्वर्ग का पक्षी माना जाता है। इसलिए इसका समाधान करते हुए विज्ञान वादियों का कथन है कि स्वर्ग के समान नरक में पक्षियों में प्रेतों का जन्म नहीं होता है, क्योंकि वे वहां के दुख का अनुभव नहीं करते हैं।[3] वास्तव में यदि नरक पाल नरक में उत्पन्न होते, तो वे भी नरकीय प्राणीयों के समान नारकीय वेदना से त्रस्त रहते और अन्य नरकीय प्राणीयों के साथ निकलने का प्रयास करते। परन्तु ऐसा नहीं होता है। इस पर कोई कह सकता है कि कर्मवासना आदि को कल्पना जन्म मानने पर उसका उपदेश व्यर्थ है। इस पर यदि कर्म से नरक में भौतिक परिणाम सुनिश्चित मान लिया जाय तो चित्त का परिणाम भी वहाँ

---

[1] वही,
स्वजोपघातवत् कृत्यक्रिया नरकवत।
सर्वनरकपालादि दर्शने तैश्च वाथनेनं।।

[2] वही, 5

[3] विज्ञप्ति मात्रता विंशतिका, का0 5
तिरश्चां संम्भवः स्वर्गेयथा न सरकेतथा।
न प्रेतानां यतस्तज्जंदुखं नानुभवंन्निते।

मानना पड़ेगा तथा कर्म की वासना तथा उसके परिणाम में भेद नहीं माना जा सकता है।[1]

विज्ञानवादी कहते हैं कि तथागत के रुपादि आयतनों का उपदेश आभिप्रायिक।[2] इन्होंने द्विविध आयतनों के रुप में विज्ञान का ही समर्थन किया है।[3] बुद्ध ने अपने शिष्यों को पुद्गल नैरात्म्य में प्रवेश कराके धर्मनैरात्म्य के कल्पित विचारों का उपदेश दिया।[4] बुद्ध का पुद्गल नैरात्म्य धर्मनैरात्म्य का उपदेश कल्पित है। ऐसा आभास होता है कि बुद्ध ने शिष्य भेद के आधार पर उपदेश दिया था। इस द्विविध उपदेश को ही द्विविध आयतनों के रुप में वर्णित किया गया है। इन्होंने आत्मनिष्ट जनता को पुद्गल नैरात्म्य के रुप में विविध आयतनों का उपदेश दिया। तथा इस उपदेश के आत्मसात कर चुकने वाले शिष्यों को धर्म नैरात्म्य का उपदेश दिया। इसमें बुद्ध ने आयतनों के कल्पित स्वभाव के निषेध का उपदेश दिया था। इससे इन्हें आयतनों के सर्वदा अभाव का उपदेश देने वाला नहीं कहा जा सकता है। संभवत: बुद्ध ने वाह्य पदार्थों की सत्ता को शव्द जन्म भ्रान्तिमान कर द्वादश्र आयतनों को सत्य मानने का उपदेश दिया था। इनके अनुसार इन्द्रियाँ आन्तिरक आयतन हैं तथा उनका विषय वाह्य आयतन है। इन्हीं दोनों आयतनों पर विज्ञान का प्रवाह आधारित है। इसलिए आयतनों के उपदेश से पुद्गल नैरात्म्य का बोध हो जाता है। जिसके फलस्वरुप स्थूल एवं स्थिर जगत रुप रस आदि की सूक्ष्म धारा में विलीन हो जाता है। इसी प्रवृत्ति का विकसित रुप धर्म नैरात्म्य है। इसे विज्ञप्तिमात्रता के द्वारा समझा जाता है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि धर्मनैरात्म्य धर्मों का अभाव न होकर, उनके ग्राह्य ग्राह्यकादि परिकल्पित स्वभाव केअभाव को कहा गया है। इन विवेचनों से स्पष्ट हो जाता है कि विज्ञानवादी बुद्ध बचन

---

[1] वही, 6.7
यदि तत्कर्मभिस्तत्र भूतानां सम्भवस्तथा।
इष्यते परिणामश्चं किं विज्ञानस्य नेष्यते।।

[2] वही, 8
रुपायातनास्तित्वं तदिवनेयजनंप्रति। अभिप्राविक्शादुक्तमूपपादुकसत्ववत्।

[3] वही, 9
यतः स्ववीजाद विज्ञप्तिर्यदामासा प्रवर्तते। दिवंविधायतन त्वेनतेतम्यामुनिब्रवीत।।

[4] न्यायबिन्दु, 1/9

को भी प्रमाण मान अपने सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं। विज्ञानवादियों ने योगी प्रत्यक्ष को ही सत्य मानने के कारण उनके द्वारा व्यक्त शब्दों को प्रमाण मान लिया है।

विज्ञान वादियों ने बुद्ध के बचन रुपी आगम प्रमाम के अतिरिक्त विशुद्ध तर्क के द्वारा बाह्य पदार्थों के अभाव को प्रमाणित करने के लिए परमाणुवाद का खंडन प्रस्तुत किया। इनको अनुसार विषय का ज्ञान परमाणुओं के रुप में एक अनेक अथवा संहत नहीं माना जा सकता है, क्योंकि परमाणु की सत्ता को सिद्ध नहीं किया जा सकता है।[1] परमाणुओं के अस्तित्व हीनता के सम्बन्ध में कहा गया है कि यदि एक परमाणु का अपने छः परमाणुओं से संयोग होना संभव है तो परमाणुओं के 6 अंश मानने होगें। परन्तु अविभाज्य गुण युक्त होने के कारम ऐसा नहीं माना जा सकता है। परमाणु को 6 विविध अंशों में अन्य परमाणुओं से संयुक्त मानने पर इनको समान प्रदेश में मानना पड़ेगा। परन्तु इन्हें ऐसा मानने पर उनके संयोग से उत्पन्न पदार्थ भी परमाणुमात्र ही रह जायेंगे। अथवा परमाणु के आकार के रहेंगे। परमाणु को देशगत विस्तारवाला मानने पर उसे विभाजित किया जा सकता है। परन्तु परमाणु के सम्बन्ध में यह संभव नहीं है। परमाणु को देशगल विस्तार वाला न माना जाय तो वह छाया एवं अवरोध उत्पन्न नहीं कर सकेगा, क्योंकि पाश्र्वभेद होने पर ही उनकी छाया संम्भव है। इनमें अवरोध उनके अंशतः स्पर्श से ही हो सकता है। निरवयव परमाणुओं में सम्पर्क नहीं होगा, क्योंकि ऐसा होने पर एक परमाणु दूसरे से मिल कर एक हो जायेगा। तथा यदि छाया व अवरोध को स्थूल पदार्थों का गुण माना जाय तो निश्चित रुप से उन्हें परमाणुओं से अलग मानना होगा।[2]

---

[1] विज्ञप्तिमात्रता, विंशतिका, का0 11
नतदेक न चानेकं विषयः परमाणुशः।
न च ते संहता यस्मात्परमाणुर्नसिद्धयति।।

[2] वही, का, 12-14
षटकैन युगपदयोगाता परमाणोः घडंशता।
षण्णां समान देशत्वान पिण्डः स्यादयुमात्रकः
परमाणोरसंयोगेन तुत्सघातेअस्तिकस्य सः
न चानवयवत्वेन सत्तसंयोगो न सिद्धयति।
दिग्भागभेदो चस्यास्ति तस्यैकत्वं न पुज्यते।

इस स्थिति में परमाणु की कल्पना व्यर्थ हो जायेगी। इस व्याख्या से स्पष्ट होता है कि विज्ञानवादी बाह्य पदार्थों को परमाणु निर्मित मान उनकी अप्रमाणितकता सिद्ध कर दी है। परन्तु इनके खण्डन से विज्ञान के आधार रुप आयतन आदि का खंडन नहीं होता है, क्योंकि परमाणु के बिना भी रुपादि के लक्षण विद्यमान रहते हैं। उदाहरण स्वरुप रूप, रस आदि बाह्य आयतनों की कल्पना परमाणु के बिना भी की जा सकता है। इस शंका का समाधान करते कहा जा सकता है कि परमाणु एवं द्रव्य के एक होने पर क्रमिक गति, युगपद उपलब्दि एवं अनुपलब्धि, विच्छिन्न पदार्थों के अनेक स्थिति तथा स्थूल के दृश्य होने पर शूक्ष्म का भी दर्शन संभव हो जायेगा।[1] अर्थात् इन अनेक असंगतियों के उपस्थित होने की संभावना व्यक्त करते हुए कहा जा सकता है कि बिना परमाणु के रुपादि बाह्यादि आयतनों को भी संभव नहीं माना जा सकता है। इसलिए परमाणु खंडन के साथ अन्य बाह्य आयतनों का भी खंडन हो जाता है।[2] यदि बाह्य पदार्थों की सत्ता को प्रत्यक्ष गम मान कर कहा जाय कि उसकी सत्ता का प्रतिरोध करना व्यर्थ है। तो उसका उत्तर स्वप्न के माध्यम से देते हुए कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष के आधार पर बाह्य जगत की सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती है। क्योंकि स्वप्न के प्रादुर्भाव में हमें बहुत सी वस्तुएँ प्रत्य़क्ष दिखाई देती हैं परन्तु वह सत्य नहीं होती है।[3]

विज्ञानवादियों ने कहा है कि उक्त विवेचन पर कोई कह सकता है कि प्रत्यक्ष पर दिए तर्क को स्वीकार करने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि जाग्रत जगत् स्वप्न जगत के समान है तो स्वप्न के मिथ्यत्व की प्रसिद्धि के सदृश्य जाग्रत जगत है मिथ्यत्व की प्रसिद्धि क्यों नहीं हैं। इसका उत्तर यह कह कर दिया जा सकता है कि जिस प्रकार

छायावृत्ति कथं वान्यो न पिण्डश्चेन्नतस्यते।।

[1] विज्ञप्ति मात्रता विंशतिका का0 15
एकत्वे चं श्रमेणे तिर्युगपन्न ग्रहाग्रहौ।
विच्छिन्नत्रानेक वृत्तिश्च सूक्ष्मानीक्षा च नो भवेत।।

[2] तुलनीय शारीरिक भाष्य ब्रहमसूत्र 2.2.12

[3] विज्ञप्ति मात्रता विंशतिकाः का0 16-17
प्रत्याक्षबुद्धि स्वप्नादौ यथा स च यदातदा।
न सोअर्थो दृश्यते तस्य प्रत्यक्षत्वं कथं मतम्

स्वप्न जगत् के मिथ्यत्व का ज्ञान स्वप्न से जागने से ही होता है, उसी प्रकार वासनादि निद्रा से प्रबुद्ध होने पर ही जाग्रत जगत् के मिथ्यत्व का ज्ञान हो सकता है।[1]

वाह्य पदार्थों के अभाव में अपने चित्त् संतान को ही अर्थाकार विज्ञान का जन्म देने वाला मानने पर धर्मोपदेशादि व्यर्थ हो जायेगा। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि बाह्यार्थ की अनुपस्थिति में कौन किसको उपदेश देगा। यह निर्णय करना अंसभव है। इसका उत्तर देते हुए कहा जा सकता है कि विज्ञानवाद, "एक चित्त्वाद" नहीं है बल्कि एक चित्त पर दूसरे चित्त का प्रभाव पड़ता है।[2] इस संबंध में उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा जा सकता है कि प्रेतादि से आविष्ट व्यक्ति पर प्रेत के चित्त का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। इतना ही नहीं ऋषि के श्राप से दंडकारण्य के उजड़ने की सर्वविदित बात भी उक्त तथ्य की पुष्टि करती है।[3] इससे स्पष्ट हो जाता है कि विज्ञानवादी स्वचित्त के समान परचित्त को भी ग्राह्य ग्राहक भाव से दूषित मानते हैं। इनके अनुसार विज्ञप्ति मात्रता का स्वरुप मन के अभ्यान्तर ज्ञान से प्रकाशित नहीं होता है। वह तर्क का विषय नहीं है, वह निर्विकल्प एवं केवल बुद्ध गोचर है।[4]

---

[1] विज्ञप्ति मात्रता विंशतिकाः का0 17
उक्तं यथा तदाभासाविज्ञप्तिः स्मरणततः।
स्वप्ने दृग्विषयाभावं नाप्रबुद्धोअवगच्छति।।

[2] वही, का0 18
अन्योन्याधिपतित्वेन विज्ञप्ति नियमोमिथः
भिद्धेनोहतं चिन्तं स्वप्ने तेनासमं फलम्।।

[3] वही, का0 19-20
मरणं परविज्ञप्ति विशेषादविक्रया यथा।
स्मृति लोपादिकान्येषां पिशाचादिमनोवशात्।
कर्थवा दण्डकारण्य शून्यत्वमृषिकोपतः।
मनोदण्डो महावदयः कथं वाते न सिद्धयति।।

[4] विज्ञप्ति मात्रता विंशतिका, 20-21
परचिन्त विदां ज्ञानमयथार्थ कथं यथा।
स्वचितन्तज्ञानमज्ञानाद यथा बुद्धस्य गोचरः
विज्ञप्तिमात्रतासिद्ध स्वशक्तिसदृशी मया।
कृतेयं सर्वथा सादु न चिन्त्या बुद्ध गोचरः।।

वशुबन्धु के विज्ञान के प्रभेदों एवं उसके आधार पर जगत एवं मोक्ष का विवरण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि त्रिविध परिणामी विज्ञान ही सत्य है। आत्मा एवं संस्कारादि धर्म उसी द्वारा संवित हैं।[1] आलय विज्ञान मन तथा 6 प्रकार के विषय विज्ञान को ही विज्ञान के त्रिविध परिणाम के रुप में व्यक्त किया जाता है। आलय विज्ञान सब विज्ञानों का बीज, आश्रय एवं बीपाकात्म है।[2] इसका "आलम्बन", "उपाधि" एवं स्थान है। यह विज्ञप्ति के सद्दश असम्बिदित है। इसमें स्पर्श, मन:स्कार, वेदना, संज्ञा एवं चेतना संयुक्त रहती है। इसमें उपेक्षारुप वेदना आपेक्षित है। आलय विज्ञान अनिवृत तथा अव्याकृत है। इसकी प्रवृत्ति नदी के प्रवाह के समान होती है। अरहत्व में इसका ज्ञान होता है।[3]

कर्मों के वासना के पल को विषाक कहते हैं।[4] इसीलिए यही व्यक्ति को निश्चित योनि में जन्म एवं उसके पूर्व किए कर्म के फल को प्राप्त कराता है। इस कर्म विषाक को परिणाम विशेष कहा जाता है।[5] मन को मनात्मक विज्ञान कहा गया है। विज्ञान को आश्रय बनाकर इसकी प्रवृत्ति होती है। यह सदैव आत्म द्दष्टि, आत्ममोह, आत्ममान तथा आत्म स्नेह नामक धारनिवृत्त किन्तु अव्याकृति क्लेषों से युक्त रहता है। जिस धातु में मन की उत्पत्ति होती है, वह स्पर्शादि वेत्तों से युक्त होता है। अहंत्व, निरोध,

---

[1] वही, का0- 1 त्रिंशिका, का0 1
आत्मधर्मोप्रचारो हिविविधों यः प्रवर्तते।
विज्ञान परिणामे सौ परिणामः सच त्रिघा।।

[2] स्थिरमति, पृ0 18-19
सर्वधातु गतियोनिजातिषु कुशलां कुशलमगं त्वाद विपाकः।।

[3] विज्ञप्ति मात्रता त्रिंशिका, का0 2-5
विनाको मननाख्यश्च विज्ञप्ति विषयस्य च।
तत्रालयाख्यं विज्ञानं विपाकः सर्व बीजकम्।.
असंविदितकोपादि स्थान विज्ञप्तिकं।
सदातत स्पर्शमनस्कार वित संज्ञाचेत नावितम्।। तथा इसके आगे देखें।।

[4] स्थिरमति (टीकाकार) पृ0 18
तत्र कुशलाकुशलम कर्म वासनापरिपाक
वशाद यथाक्षेपं फलानिनिर्वृत्तिविंपाकः।।

[5] वही, पृ0 19

समापत्ति तथा लोकोत्तर मार्ग में मन का अभाव होता है।[1] यही विज्ञान का द्वितीय परिणाम कहा जाता है।

वास्तव में आलय विज्ञान को अन्य विज्ञानों का बीज कहने का अर्थ विज्ञान गत सामर्थ्य होता है। जो परिपाक् दशा में फल उत्पन्न करता है। आलय विज्ञान का आलम्बन अविदित है। इनको विज्ञानवादियों ने उपादि तथा स्थान रुप द्विविध बताया है। यहाँ उपाधि का अर्थ उस उपादान कारण से है जिससे मिथ्या ज्ञान की उत्पत्ति होती है। यथा धूम व अग्नि के अन्योन्यासित ज्ञान में उपादान कारण लकड़ी की आर्द्रता होती है, क्योंकि बिना आर्द्रता के यह नहीं कहा जा सकता कि जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है। अत: जहाँ आर्द्रता को ही उपाधि कही जाती है। स्थान का अर्थ लोक जहाँ उक्त क्रिया सम्पन्न हो। इसी को स्पष्ट करते स्थिरमति ने कहा है कि उपादान में बीज तथा इन्द्रिय युक्त देह संग्रहीत हैं। अर्थात् व्यक्ति के जन्म में आलय विज्ञान शरीर का तथा वह किस लोक में जन्म लेगी इसका निश्चय करता है। विज्ञान के तृतीय परिणाम का विवेचन करते कहा गया है कि ये कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत है। यही सर्वत्रग विनियत, कुशल एवं क्लेश, उपक्लेश एवं अनियत आदि जैन धर्म की अनेक कोटियों से सम्प्रयुक्त रहते हैं। आलाय विज्ञान से आलंबन प्रत्यय के अनुसार इनकी अलग-अलग उत्पत्ति जलतरंगों की भाँति होती है। आसंज्ञिक, दो समापत्तियाँ तथा मिठ्ठा मुर्छा के अतिरिक्त मनोविज्ञान की ही सर्वज्ञ उत्पत्ति होती है।[2]

---

[1] त्रिंशिका कारिका, 5-8
तदालम्बंमनोनाम विज्ञानं मनात्मकम्।
क्लेशंश्चतुर्भिः सहितं निवृताव्याकृतैः सदा।
आत्मदृष्टयात्ममोहात्ममानात्म स्नेह संज्ञितै।।
यत्रजस्तेन्मयैखयैः स्पर्शोदयैश्चाहंतो न तत्।
दिवतीयपरिणाममोअयं तृतीयः षड्विधत्यया।।

[2] त्रिशिंका कारिका, 8-9
द्वितीयपरिणाममोक्षयं तृतीय षडविधत्व या।
विषयतयोपलब्धिः सा कुशला कुशला हवाया।
सर्वयगैर्विनियतैः कुशलैश्चत सरै सौ।
सम्प्रयुक्ता तथा क्लेशैस्यकलैशेस्त्रिवेदना।।

इन्हीं त्रिधातु विज्ञान परिणाम को सत्य कहा जाता है। इनसे उत्पन्न विकल्पित जगत को असत कहा है।[1] आलय विज्ञान को सर्वधर्मों का बीज मानते हुए कहा जा सकता है कि एक जन्म में पूर्व विपाक के नष्ट होने पर कर्मवासना तथा ग्राह्य-ग्रहक वासना के साथ दूसरे विपाक की सृष्टि होती है। इस प्रकार जन्म जन्मान्तर तक आलय विज्ञान का अविच्छिन्न प्रवाह चलता रहता है।[2]

विज्ञानवादियों ने सभी विकल्पों को मिथ्या मानते हुए इनके स्वभाव को परिकल्पित कहा है। हेतु प्रत्यय से उत्पन्न होने के कारण परतन्त्र सत्ता वाला कहा जाता है। परतन्त्र सत्ता में परिकल्पित स्वभाव का अभाव ही परिनिष्पन्नता है। अत: विज्ञान परिणाम ही वह विकल्प है जो कार्यकारण नियम होने से परतन्त्र लक्षण कहा जाता है। इसलिए इसमें प्रतिभास मान विविध जगत् भ्रान्ति मात्र एवं परिकल्पित होता है। परतंत्र में परिकल्पित की अवास्तविकता ही परिनिष्पन्न है जो परतंत्र से न अन्य है न अनन्य। अत: कहा जा सकता है कि परतंत्र के अभाव में परिनिष्पन्न की उपलब्धि नहीं हो सकती है।[3]

कल्पितादि तीनों स्वभावों की त्रिविध नि:स्वभावता होती है। इसकी तथागत ने सर्वधर्म शून्यता कहा है। अत: कहा जा सकता है कि परिकल्पित स्वभाव में

---

[1] वही, कारिका 15-16
पंचाना मूल विज्ञाने यथा प्रत्ययमुदभव।
विज्ञानां सन वातरंगाणा यथा जले।
मनोविज्ञान संभूतिः सर्वददासंन्निकावृत्ते
समापत्तिदवयान्मिदान्मूर्छनादप्य चित्तकात्।।

[2] वही, 17
विज्ञान परिणमोअयं विकल्पो यद विकल्प्यते।
तेन तन्नात्ति तेनेदं सर्व विज्ञाप्तिमात्रता।।

[3] त्रिशिंका कारिका, 20-22
येन येन विकल्पेन पदपद वस्तु विकल्प्यते।
परिकल्पित एवासौ स्वभावो न सविधते।
पर तन्त्र स्वभावस्तु विकल्पः प्रत्ययोदभवः।।
निष्पन्नस्तस्य पूर्वेण सदा रहिततातु या।।
अतएव स नैवान्यो नानन्यः परतन्त्रतः।
अनित्यादिवत वाच्योनादृष्टेस्मिन् स दृश्यते।।

कालक्षण विद्यमान रहता है। इसलिए रुप, वेदना आदि धर्मों की सत्ता नहीं मानी जा सकती है। परतंत्र लक्षण में उत्पत्ति निस्वभावना तथा परिनिष्पन्न लक्षण में परमार्थनि:स्वभावता विद्यमान रहती है।[1] परिनिष्पन्न को "तथता" कहा जाता है। क्योंकि उनका अन्यभावाव नहीं होता है। इसे ही विज्ञप्ति मात्रता कहा जाता है।[2]

विज्ञानवादियों का कथन है कि जब तक विज्ञान ग्राह्य ग्राहक वासना से लिप्त रहता है तब तक उसकी मुक्ति नहीं होती है। इनका मत है कि केवल विज्ञप्ति मात्र के चिन्तन से उसकी उपलब्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि ग्राह्य त्याग के साथ ग्राह्कत्याग भी आवश्यक है। विषय विषयि भाव के नष्ट होने से लोकोत्तरज्ञान उद्भूत होता है, जो चित्त को विज्ञाप्तिमात्रता में स्थिर करता है।[3] इसी को विद्ववविधय दोष के नष्ट का कारण आश्रय की परावृत्ति, कुशल शाश्वत एवं अचिन्त्य अनास्त्रव कहा जाता है। इसी लोकोत्तर ज्ञान को सुखात्म विमुक्तिकाय तथा महामुनि का धर्मकाय कहा गया है।[4]

---

[1] वही, कारिका 23-24
त्रिविधस्य स्वभावस्य त्रिविधां निःस्वभावताम्।
सन्श्याय सर्वधर्माणां देशिताः निःस्वभावता।।
प्रथमो लक्षणेनैव निः स्वभावोअपरः पुनः।
न स्वयं भाव एतस्येत्यपरा निः स्वभावता।।

[2] त्रिशिंका कारिका, 23-24
त्रिविधधस्य स्वभावस्य त्रिविधां निःस्वभावताम्।
सन्याय सर्वधर्माणां देशिताः निः स्वभावता।।
प्रथमो लक्षणेनैव निः स्वभावोअपरः पुनः।।
न स्वयं भाव एतस्प्रत्यपरा निः स्वभावता।।

[3] वही, कारिका 25
धर्माणां परमार्थश्च स यतस्तथतापि सः।
सर्वकालं तथांभावात सैद विज्ञाप्ति मात्रता।।

[4] वही, कारिका, 26-28
यावदविज्ञप्तिमात्रत्वे विज्ञानं नावतिष्ठति।
ग्राहदवयस्यानशयस्तावन्न विनिवर्तते।।
विज्ञाप्ति मात्र मे वेदमित्यदि त्दयपलभ्भतः।।
स्थापन्नग्रतः क्रिचित् तन्मात्रे नावसिष्ठते।।
यदालम्बनं विज्ञानं नैवोयलभते तदा।
स्थित विज्ञानमात्रत्वे ग्राहयाभावे तदग्राहात्।।

इससे स्पष्ट होता है कि विज्ञान को मानव ज्ञेय के दो रुपों में प्रस्तुत किया गया है। इसमें ज्ञान को दर्शन भाग तथा ज्ञेय को निमित्त भाग के रुप में जाना जाता था जो क्रमश: विज्ञान के आन्तरिक एवं वाह्य तत्व के रुप में व्यवहृत किए जाते हैं। दिंगनाग ने इन्हीं द्विविध विज्ञान परिणामों को विकसित कर ज्ञाता, ज्ञान, एवं ज्ञेय के त्रिविध रुप का प्रतिपादन किया। इनके अनुसार ज्ञाता अथवा ग्राहक ही दर्शन भाग हैं, ज्ञेय अथवा ग्राह्य निमित्त भाग तथा ज्ञान अथवा उपलब्धि ही संवित्तिभाग अथवा स्वाभाविक भाग है। इसी को क्रमश: प्रमाण, प्रमेय एवं प्रमाणफल कहा जा सकता है। इसमें निमित्त भाग विज्ञान का आलम्बन है, दर्शन भाग आकार अथवा विज्ञप्ति है, संवित्तिभाग इन दोनो का आश्रय तथा विज्ञान का स्वभाव है। संवित्ति को संवेदन, स्वसंवित्ति या स्वंसवेदन भी कहा जा सकता है . इन्होंने कहा है कि ज्ञान एवं स्वयं प्रकाशित होते हुए अन्य विषयों का भी प्रकाशन करता है। इसके अनुसार एक अभिन्न विज्ञान में ही त्रिविध भेद प्रतिभासित होते हैं।[1]

इस त्रिविध भाग का विकास कर विज्ञानवादियों ने विज्ञान के इस त्रिविध भाग को विकसित कर एक स्वसंवित्तिसंवित्ति रुप चतुभाग भाग की कल्पना की है। इन्होंने उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि नीलात्मक, आलंबन निमित्त् है, नीलाकार उपलब्धि, दर्शन है, मैं नील की उपलब्धि कर रहा हूँ। यह ज्ञान स्वसंवित्ति है, तथा स्वसंवित्तिका ज्ञान स्वसंवित्ति संवित्ति है।[2]

धर्मकीर्ति ने वाह्य वस्तुओं की प्रतीति को ठीक हेतु तथा विचार सह न होने के कारण उनकी सत्ता अस्वीकार कर दी। इन्होंने इस पर तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा है की यदि विषय ज्ञान के अतिरिक्त है, तो ज्ञान व विषय का सम्बन्ध असंभव हो जायगा। विषय को ज्ञान का हेतु तथा आलम्बन मानना भी युक्ति संगत नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि विषय को ज्ञान का हेतु माना जाय तो वह उससे पूर्वर्ती हो जायगी। ऐसी स्थिति में विषय ज्ञान का आलम्बन भी नहीं हो पायेंगी। यदि कहा जाय कि विषय की ज्ञान के प्रति हेतुता इसी में है कि वह ज्ञान में अपना आकार अर्पित करती है। इस दशा में शंका

---

[1] पाण्डेय गोविन्द चन्द्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ0 449

[2] वही पृ0 449

उत्पन्न होती है कि विषय गत आकार विषय से निकल कर किस प्रकार ज्ञानगत हो जायगा। यदि कहा जाय कि विषय के आकार के सदृश ज्ञान में आकार उत्पन्न हो जाता है तो ऐसी दशा में विज्ञान के अन्तर्गत् आकार की तथा ज्ञान के बहिर्गत् आकार की तुलना संभव नहीं होगी, क्योंकि पहला सदा विदित है एवं सदा अविदित है। ज्ञान और उसके विषय का सम्बन्ध सहोपलम्भ नियम पर अवलम्बित है अर्थात् दोनों साथ-साथ उपलब्ध होते हैं, इसलिए दोनों को अभिन्न मानना चाहिए। यदि ज्ञानाकार विषयाकार के समान हो, तो विषयाकार नित्य- अज्ञात होने से अनावश्यक है।[1]

अत: कहा जा सकता है कि ज्ञान मात्र ही सत्य है, उसी में ज्ञाता व ज्ञेय का भेद संन्निहित है। इनमें भेद एक स्थान पर दिखने वाले दो चन्द्रमा के सदृश हैं। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि ज्ञेय और ज्ञान को अनन्य मानें तो एक ओर ज्ञेय लोप के कारण यधार्थ तथा अयथार्थ ज्ञान का भेद भी लुप्त हो जायगा, दूसरी ओर जगत् नहीं है, तो सब ज्ञान ज्ञेय के स्थान समान ही सत्य अथवा मिथ्या माने जायेंगे। यदि यह कहा जाय कि ज्ञेय रुप से प्रकाश मान वस्तु ज्ञान ही है, तो इस वस्तु के प्रसिद्धि कैसे होगी ? क्या ज्ञान किसी दूसरे ज्ञान का विषय होकर प्रकाश में आता है, यदि ऐसा है तो इसे मानने पर अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायगा। विज्ञानवादी इन शंकाओं का उत्तर देते हुए कहा जा सकता है कि व्यवहारिक दृष्टि से प्रमाणिकता का अर्थ अविसंवादकता है, यथार्थता नहीं।[2] वाह्य विषयों के अभाव में भी व्यावहार सामर्थ्य की दृष्टि से ज्ञान में भेद देखा जा सकता है। अथवा कहा जा सकता है कि परमार्थिक बुद्धिज्ञान के लिए विज्ञप्ति मात्रता सत्य होते हुए भी प्रमाण प्रमेय की व्यवस्था द्वैत ग्रस्त व्यवहार के अधीन है।[3] इसमें ज्ञान को स्वप्रकाश मानना अनिवार्य है, नहीं तो हर प्रकार के अनावस्था दोष उत्पन्न हो जायेगा। धर्मकीर्ति ने अपने दार्शनिक सिद्धान्त में असत की उत्पत्ति एवं सत के निरन्वय

---

[1] त्रिशिंका कारिका, 451
सभ्यज्ञान पूर्विका सर्वपुरुषार्थ सिद्धिरति।
तदुव्युत्पादयते दिविधसम्यज्ञानम्।।

[2] प्रमाण वार्तिक, 2/1
भीण्येव च लिंगनि

[3] न्यायबिन्दु, 1/1, 12,13
अनुपलब्धिः स्वभावकार्ये चेति

विनाश को माना गया है।[1] इन्होंने इन्द्रिय विज्ञान और अन्य के निरोध को मरण माना है।[2] इनके अनुसार वृक्षों में विज्ञान आदि का सद्भाव नहीं है इसलिए इसमें जीने का विकल्प नहीं रहता है।[3] ये सुखादि को अचेतन मानते हैं[4] परन्तु आत्मा को नहीं मानते हैं।[5] कर्म को अन्य बौद्ध दर्शनों की भाँति अनित्य मानते हैं। परमाणुओं को मूर्त मानते हैं, घट को अनित्य तथा अमूर्त माना है।[6] इनके अनुसार सभी वर्तमान पदार्थ अनित्य हैं।[7] इन्होने साध्यसाधन को अभिन्न मान उनका तादात्म्य सम्बन्ध माना है।[8] इससे प्रतीत होता है कि विज्ञानवादी वाह्य सत्ता का अभाव नहीं मानते थे।

विज्ञानवादीप्रमाणः

विज्ञानवादी जगत की समस्त वस्तुओं को चित्त में देखते हैं।[9] ये "दर्शन ज्ञान" को चित्त प्रवाह के रुप में स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार ज्ञान जड़ पदार्थों का विज्ञान धारा आलय विज्ञान एवं प्रवृत्ति ज्ञान के क्रम से प्रतिभास कराती है।[10] इन्होंने प्रत्यक्ष अनुमान से प्राप्त इन्द्रिय ज्ञान को मिथ्या कहा है। ये इन्द्रियातीत ज्ञान को सत्ता मानते

---

1 वही, पृ0 69
परस्य चासत उत्पाद उत्पत्ति मत्वम।
सतश्च निरन्वयो विनाशो नित्यत्वं सिद्धम्।।

2 वही, पृ0 68
विज्ञानेन्द्रियग्रुनिरोध लक्षणस्य मरणस्या ने नाभ्युदगमात्।।

3 न्यायबिन्दु, पृ0 68 पद, 19
तस्य च विज्ञानांदि निरोधात्मकस्य तरुष्वसंभवात

4 वही, पृ0 67, पद संख्या 7

5 वही, पृ0 71, पद संख्या 5 तथा पृ0 63 पद संख्या 5

6 वही, पृ0 95, पद संख्या 1 से 4 तक

7 वही, पृ0 53, पद संख्या 11

8 द्रष्टव्य न्यायबिन्दु टीका पर पृ0 12-14
न्यायबिन्दु (हिन्दी चन्द्रशेखर) पृ0 12-14, इन्द्रियज्ञानम् स्वविषयान्तर
विषय सहकारिणेन्द्रिय ज्ञानेन समंनन्तर प्रव्ययेन जनितं
तन्मनो विज्ञनम् सर्वचित्त चैत्रानग्मात्मंसवेदनाम।
भूतार्थ भावनां प्रकर्षपर्यन्तजं योगी ज्ञानं चेति।।

9 लंकावतार 10/255, पृ0 124

10 सौन्दरानन्द, 16.28.29

हैं।[1] चित्त के जगत के प्रतिभास से इनके विज्ञान को प्रमाणित करना एक समस्या हो गयी है। इसलिए इन्होंने इस कठिनाई से बचने के लिए हीनयानियों द्वारा स्वीकृत इन्द्रिजन्य प्रत्यक्ष व अनुमान को मिथ्या बताया। परन्तु इससे विज्ञानवादियों के सामने विज्ञान को प्रमाणित करने की समस्या पूर्ववत रह जाती है, क्योंकि प्रत्यक्ष अनुमानादि के प्रमाण मिथ्या हो जाने पर यह अपने विज्ञान के ज्ञान को किस आधार पर प्रमाणित करें ? इस समस्या के निदान के लिए असंग ने सत्ता का व्यवहारिक एवं परमार्थिक दो पक्षों में विभाजित कर परिनिष्पन्न परमार्थ ज्ञान को सत्य माना।[2] इसे प्रमाणित करने के लिए इन्होंने समाधि का आश्रय लिया सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास करते प्रत्यक्ष तथा अनुमान को बसुबधु ने भी स्वीकार किया। परन्तु इन्होंने इसे जगत को स्वप्न के सदृश मानकर इसमें व्यवहृत प्रत्यक्ष अनुमान को असत माना। इनके अनुसार योगीज्ञान (प्रत्यक्ष व अनुमान) को सत माना जा सकता है। तथागत के उपदेश को ये अभिप्रायिक मानते हैं। जिससे उनका उपदेश भी प्रमाण नहीं माना जा सकता है। परन्तु गोविन्द्र चन्द्र पाण्डेय ने विज्ञानवाद के प्रमाणिकता को समझते हुए कहा है कि "दिंगनाग के पूर्व योगाचार-सम्प्रदाय में तीनों प्रमाणों की सत्ता स्वीकार थी।[3] परन्तु यह उक्त विवेचन को देखते हुए उचित नहीं प्रतीत होता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण ---

बसुबन्धु ने प्रत्यक्ष की परिभाषा करते हुए कहा है कि ततोअर्थादुत्पन्न विज्ञान अर्थात् उस अर्थ से उत्पन्न विज्ञान ही प्रत्यक्ष का लक्षण है। परन्तु दिंगनाग से नाम, जाति आदि से असंयुक्त कल्पना रहित ज्ञान को प्रत्यक्ष का लक्षण माना।[4] धर्म कीर्ति ने इसकी स्पष्ट करते हुए कल्पना से विमुक्त अभ्रान्ति ज्ञान को प्रत्यक्ष का लक्षण माना।[5] इन्द्रिय ज्ञान को चार प्रकार का माना गया है यथा इन्द्रिय प्रत्यक्ष मानस प्रत्यक्ष

---

[1] लंकावतार 3/27, पृ0 72

[2] न्यायबिन्दु, 1.1: सभ्यज्ञान पूर्विका सर्वपुरुपार्थसिद्धिरिचि तदव्युत्पादयति द्विविध सभ्यज्ञानम् प्रत्यक्षमनुमानंच।।

[3] पाण्डेय गोविन्द्र चन्द्र, पृ0 449, "बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास"

[4] प्रमाण समुच्चय, प्रत्यक्षेकल्पना पोढं नामजात्यादय संयुतम

[5] न्यायबिन्दु प्रथम परिच्छेद 1.3. कल्पना पोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षः

स्वंसवेदन प्रत्यक्ष तथा योगी प्रत्यक्ष। इन्द्रिय प्रत्यक्ष स्वलक्षण को अपना विषय बनाता है। चक्षु आदि से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को समानन्तर प्रत्यय बनाकर मन उत्पन्न होता है। इससे उत्पन्न ज्ञान को मानस प्रत्यक्ष कहते हैं।[1] निर्विकल्पज्ञान को स्वंसवेदन प्रत्यक्ष कहते हैं तथा समाधि से उत्पन्न ज्ञान को योगी प्रत्यक्ष कहते हैं।[2] यह प्रत्यक्ष कल्पना विरहित निर्भान्त तथा अर्थक्रियानुसारी होता है। इसके विषय को स्वलक्षण बताया गया है।[3] इसमें स्वलम्बन को आलम्बन कारण, पूर्वज्ञान को समानन्तर कारण, इन्द्रियों को अधिपति कारण तथा प्रकाश को सहकारी कारण कहा जाता है।

अनुमान ज्ञान -----

साधना से साध्य के ज्ञान को अनुमान ज्ञान कहा जाता है तथा धूम से अग्नि का ज्ञान। अन्य सामान्य लक्षण इस विषय का होता है।[4] यह दो प्रकार का होता है।[5] प्रथम स्वार्थानुमान एवं परमार्थानुमान।[6] स्वार्थानुमान ज्ञान वह है जो निश्चित साधन के द्वारा साध्य का ज्ञान कराये तथा परमार्थानुमान अविनाभावी साध्य साधन के वचनों से साध्य का ज्ञान कराता है। इसलिए स्वार्थानुमान को ज्ञानात्मक व परमार्थानुमान को शब्दात्मक कहा जाता है। स्वार्थानुमान धर्मों, साध्य एवं साधन के तीन भेदों से युक्त होता है।[7] इन्होंने लिंग स्वभाव हेतु कार्य हेतु और अनुपलब्धि हेतु रुप के तीन भेद होते हैं।[8] जिसका स्वभाव किसी वस्तु को उपलब्ध कराना होता है। यह प्रत्यक्ष के समान

---

[1] न्यायबिन्दु, 1.6: चतुर्विधम्म इन्द्रिय ज्ञानम्, प्र0 परिच्छेद, 1.7
स्वविषयान्तर विषय सहकारिणेन्द्रिय ज्ञानेन
समन्तर प्रत्येयन जनितं तन्मनो विज्ञानं

[2] वही, सर्वचित्त चेन्तानामात्म संवेदनम् भूतार्थभावना प्रकर्ष पर्यन्तजं योगीज्ञानम् चेति।।

[3] न्यायबिन्दु
तस्य विषयः स्वलक्षणम्। यस्यार्थस्य संविधनासंनिधाना
म्यांज्ञान प्रतिभास भेद स्तरत्स्य लक्षणम्।।

[4] वही 1.14 अन्त्सामान्य लक्षणम सोअनुमानस्य विषय।।

[5] वही, 2.1. अनुमान दिवर्धन 3

[6] वही, 2.2 स्वार्थ परार्थ च त्र स्वार्थ त्रिरुपालिंगदयदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम् प्रमाण फल व्यवस्थात्रिपि प्रत्यक्षवत्।।

[7] वही, 2.2 तत्रस्वार्थ त्रिरुपालिंगायदनुमेयेज्ञानं तदनुमानम्।।

[8] न्यायबिन्दु 2/6
तत्रानुलब्धि न प्रदेशे कृचित घट उपलब्धि लक्षण

होता है। स्वभाव को शीशम आदि वृक्ष की भाँति कार्य को अग्नि धूम की भाँति कह सकते हैं।[1] इन्होंने स्वभाव व कार्य के दो भेद माने हैं। यह केवल हेतु के प्रयोग को आवश्यक मानते हैं। इनके अनुसार पक्ष का प्रयोग नि:प्रयोजन है। मात्र हेतु के प्रयोग से ही गम्य मान पक्ष में साध्य का ज्ञान हो जाता है। अनुमान प्रतिषेध एवं प्रतिबन्ध के दो रुप वाला होता है।[2] स्वभाव अनुपलब्धि धूम के न प्राप्ति होने पर अग्नि का न प्राप्त होना। कार्यानुपलब्धि यथा-धूम के कारण के न उपलब्धि होने पर उसका न उपलब्ध होना।[3] इसी में अन्य उदाहरण द्वारा समझाया गया है। इसमें कहा गया है कि अभाव और अभाव को साधन करने वाली अनुपलब्धि में जिन स्वभाव विरुद्ध आदिकों की उपलब्धि और कारणादिकों की उपलब्धि से प्रतिबन्ध कहा गया है, उन्हीं उपलब्धि लक्षण प्राप्तों की उपलब्धि और अनुपलब्धि जाननी चाहिए, क्योंकि दूसरों के विरोध और कार्य कारण भाव की सिद्धि नहीं हो सकती हैं।[4] कार्यकारण के प्रयोग भेद से परमार्थानुभान के दो भेद है यथा साधर्म, अधर्म।[5] अन्यत्र प्रयोग भेद से अन्य अर्थ का भेद न होना सामर्थ्य है।[6] उपलब्धि लक्षण प्राप्ति होने पर उसको प्राप्त न होने से असत

प्राप्तस्यानुपक ब्धेरिति। उपलब्धि लक्षण प्राप्तिरुपलम्भ
प्रत्ययान्तर साकल्प स्वभाव शिषेश्च। यः स्वभाव सतवन्ये
पूषलम्भ प्रत्येयेषु प्रत्यप्रत्यक्ष एव भवति स स्वभावः।।

1 वही, 2.17
स्वभाव स्वसत्ता भाविनि साध्य धर्मे हेतु। यथा-वृक्षोअयं शिशंपांत्वादिति। कार्य पथाग्निरत्र धूदिति।।

2 वही, 2.20-21
अधदवौ वस्तु साधनौ एकः प्रतिषेधः हेतुः। स्वभाव प्रतिबन्धेहि सत्यथौअयंअयं गमर्यत्।।

3 वही, 2.29-31
स्वभावानुलिब्धिर्यथा। नाम धूमः उपलब्धि लक्षण।
प्राप्तस्यानुपलब्धिरिति कार्यानुपलब्धर्यथा।
नेहा प्रतिबद्ध सामर्थ्यनि धूमकारणनि सत्ति धूमाभवति।

4 वही 2.50
सर्वत्र चास्यामभावव्यवहार ……… कारणभावा सिद्धि।।

5 न्यायबिन्दु परिच्छेद 3,
त्रिरुप लिंगाख्यान परमार्थनुमानम्। कारणेकार्योपचारात्।
तत द्विविधम् प्रयोग भेदात। साधम्मर्यवदवैधर्म्यबच्चेति।।

6 वही, 3-
नामनयोरथतः भेदः कश्चित। अन्यय प्रयोग भदात।।

व्यवहार कहते हैं यथा शशविषाणादि।[1] जो सत है वह सर्वदा अनित्य है।[2] इसका विस्तृत विवेचन न्याय बिन्दु में धर्म कीर्ति ने किया है।

शब्द प्रमाण:

बौद्ध शब्द को प्रमाण नहीं मानते हैं। उनकी दृष्टि में शब्द का अर्थ के साथ तादात्म्य और तदुव्यत्ति का सम्बन्ध नहीं होता है। इसलिए शब्द को प्रमाण नहीं माना जा सकता है।[3] ये शब्द को विकल्प वासना से उत्पन्न मानते हैं। इसलिए यह बाह्यार्थ का ग्रहण करने में असमर्थ है। यथा अंगुलि के अग्रभाग में सौ हाथी है।[4]

ये श्रुत को अविसंवादि नहीं मानते हैं इनके अनुसार जिस शब्द का प्रयोग सत अर्थ में होता है वही अर्थ के अभाव में देखा जाता है। इसीलिए अन्यापोह को शब्दार्थ मानना चाहिए। जिसके द्वारा अन्य का निषेध किया जाय उसे अन्यापोह कहते हैं। अत: विज्ञान वादियों ने कल्पना से रहित अभ्रान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष माना है[5] तथा अनुमान प्रमाण का आधार स्वभाव[6] कार्यकारण सम्बन्ध[7] अथवा अनुपलब्धि[8] की माना है।

---

[1] वही, 3-
पदयदपलब्धि लक्षण प्राप्तं सन्नोपलभ्यते सोअसदवयवाहार
विषयः सिद्ध यथा अन्यः कश्चित् दृष्टिशशविषाणादि।।

[2] वही, 3-
यत्सन्तत्सर्वमनित्यं यथा घटादिरिति शुद्धस्य
स्वभावहेतोः प्रयोगः।।

[3] प्रमाण वा0टी0 3-212
तत्व संग्रह, पृ0 440 वस्त्तवेव हयध्यवसापवशाच्छब्दार्थत्वेन
कल्पितमस्याभिर्यदेव हिविविक्षतम्।।

[4] प्रवाणवार्सिक टीका 1, पृ0 288
सेन तत्प्रतीतौ सामर्थ्याद विष क्षतिस्याक्षेपो।
व्यावृत्ति खगम्यत एवेति नाव्यापिनी शब्दार्थ व्यवस्था।।

[5] न्यायबिन्दु, 1/3 तत्र कल्पनापोढमभ्रन्तं प्रत्यक्षम्

[6] वही, 2/16
यः स्वभावः सत्स्वन्येषूपलभ्यप्रत्ययेषु पत्प्रत्यक्ष
एवं भवति स स्वभावः।।

[7] वही, 2/19 “कार्य यथाग्निरत्र धूमादिति।।”

[8] वही, 2/13 अनुपलब्धिः स्वभावकार्वेचेति।।

जैन सूत्र विज्ञान वाद को स्पष्ट विवेचन नहीं करते हैं। परन्तु सूत्र कृतांग सूत्र के वर्णन, जिसमें दृश्यमान वस्तुओं की सत्ता न मानने वाले एक सम्प्रदाय का उल्लेख हुआ है, को विज्ञानवाद की तरफ संकेत कह सकते हैं।[1] इसी सूत्र में एक अन्य जगह कहा गया है कि ये निमित्त सत्य एवं निमित्तवेत्ता की सत्ता मानते हैं।[2] तथा जगत की समस्त वस्तुओं को मिथ्या मानते हैं।[3] आर्द्रकुमार के सम्बाद में भावना प्रधान एक संप्रदाय वालें व्यक्ति का कुमार से संवाद कराकर[4], सूत्रकार विज्ञानवाद के अस्पष्ट वर्णन की ओर संकेत करता प्रतीत होता है। टीकाकार शीलाक इन्हें बौद्ध मानते हैं।

एक विंशति द्वात्रिंशिका में सिद्ध सैन ने बौद्धों के चारों दार्शनिक सिद्धान्तों का वर्णन किया है। इसमें वर्णित विज्ञानवाद सम्बन्धी सामग्री लंकावतार एवं महायान सूत्रालंकार के समान है। इससे प्रतीत होता है कि इनके काल तक विज्ञानवाद के विज्ञप्ति मात्रता का परिचय जैनों को हो गया था। इसीलिए हरिभद्र, सामवन्तभद्र, अकलंक, आदि जैन दार्शनिकों ने उनका विविध प्रकार से खंडन प्रस्तुत किया जो निम्नांकित है।

---

1 सूयगडं, 1/12/7
नाइच्चो उदेड न अल्पमेड न वन्दिमा वढडईवा।
सलिला न सन्दन्दि न वन्ति वाया वज्झोनियियोकसिणेहुलोय।।

2 वही, 1/12/8
जहाहिअन्धे सहजोइनां विरुवाइनो पस्सअहीणनेत्ते।
सन्तेपि ते एवमकिरियवाई किरिपं न पस्सन्ति निरुद्धपन्नो

3 वही, 1/12/10
कोई निमित्ता तहिया भन्ति केसिंचितंविप्डिएडनाण
तेविज्जभावं अणहिज्जमाणाआहंसुविज्जापरिमोक्खमेव।।

4 सूयगडं, 2/6/26-29
विण्णागपिण्डीमवि विद्ध सूले केई पएज्जापुरिसेइमेत्ति।
अलाउयं वा वि कुमारएन्ति स लिप्पई पाणिवहेणअम्हं।।
अहवा वि विदूण मिलक्खु सूले पिण्णागबुद्धिड नरं पएज्जा।
कुमारगंवा वि अकाबुयं ति न किप्पई पाणिवहेण अम्हं।।
पुरिसं च विद्धूण कुमारगं वा सूलनि केई पएं जाघतेए।
पिण्णागपिण्डं सइमारुहेन्ता बुद्धाण तं कव्यइ पारणाएं।।
सिणायगाणं तु दुबे सहस्से जे भोएए नियए भिक्खुयाणं।
ते पुण्णखनथ सुमहं जिणित्ता भवन्ति आरोप्प महन्तसत्ता।।

विज्ञानवादियों के बाह्ययार्थ खंडन का खंडन:

जैनाचार्यों का कथन है कि विज्ञान वादियों की मूल मान्यता के अनुसार इन्द्रियों की सहायता से प्रत्यक्ष, अनुमान आदि ज्ञान के साधनों से जिन बाह्य वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है, वह असत्य है। अवास्तविक है, वास्तविक ज्ञान तो इन्द्रियातीत है। इससे स्पष्ट होता है कि रुपादि पंच महाभूतों का उच्छेद ही विज्ञान का विषय है।[1] परन्तु जैनों के इस मत से सहमत नहीं हुआ जा सकता है, क्योंकि बौद्ध विज्ञानवाद का अर्थ वस्तुओं के उच्छेद से न होकर उनकी अवास्तविकता से है। अत: एक मात्र ज्ञान का ही अनुभव होने के कारण उसी को एक मात्र सत्य मानना चाहिए। जैनों का कथन है कि इस स्थिति में बौद्धों को कहना चाहिए कि ज्ञानके अतिरिक्त किसी ज्ञेय वस्तु का अस्तित्व नहीं है।[2] परन्तु यह संभव नहीं है, क्योंकि इस स्थिति में विज्ञान के सद्दश जगत् में दृश्य सभी वस्तुओं को सत्य मानना पड़ेगा। इस पर जैनों ने स्वयं शंका व्यक्त कर उसका समाधान बौद्धों की तरफ से प्रस्तुत किया है।

विज्ञान एक मात्र सत्ता है ----

जैनों ने बौद्धों के इस सिद्धान्त को बाह्य पदार्थों के अभाव को सिद्ध करने वाला मान उन्हें यथार्थ प्रमाण के अभाव में अयुक्ति संगत कहा है।[3] इन्होंने प्रत्यक्ष व अनुमान प्रमाण के आधार पर बाह्य वस्तुओं के अभाव को असिद्ध कर दिया। इनका कथन है कि बौद्ध "अभाव" को प्रत्यक्ष का विषय नहीं मानता है तथा इनके अनुमापक समर्थ हेतु के "अभाव में अनुमान के द्वारा भी "अभाव असिद्ध है।"[4] वस्तु अभाव का

---

[1] एकविंशति दवात्रिंशिकाः 15/7
महाभूतोच्छयो रुपं विज्ञान विषयों नयः
देवनायय पृथकभावो नृजात्यादि विकल्पवत।।

[2] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 4/240
ज्ञानमात्रं च यल्लो के ज्ञान मेवानुभूयते।
नाथस्तदवयतिरेकेण ततोअसौ नैव विद्यते।।

[3] वही, 5/375
विज्ञानमात्र वादोअपि न सम्यगुपपदयते।
मानं यत्तत्वतः किंचिदर्थाभावे न विद्यते।।

[4] वही, 5/376
न प्रत्यक्षं यतो भावालंम्बनं न तदिष्यते।

निश्चय, वस्तु के उपलब्ध कराने वाले समस्त लक्षणों की उपस्थिति में वस्तु के अनुपलब्ध होने से होता है।[1]

दूसरी तरफ पदार्थ के उपलब्ध होने का अर्थ है, उसकी उपलब्धि कराने वाले सभी सामग्री का उपस्थित होना। इस स्थिति में किसी सामग्री को अन्य वस्तु की उपलब्धि कराने वाली कहना ही, उस सामग्री की सत्ता स्थापित कर देना हो जायेगा।[2]

यदि बौद्धों का यह कथन हो कि स्वभावत: कोई वस्तु अन्य वस्तु की उपलब्धि कराती है तो इस पर जैनाचार्य का कथन है कि इस स्थिति में बौद्धों को अन्य वस्तु की उपलब्धि कराने वाली वस्तु की सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी।[3] यह वस्तुस्थिति उन्हें बाह्य वस्तु के अस्तित्व को स्वीकरा करने के लिए बाध्य करती है। इस पर यदि बौद्ध तर्क प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि किसी वस्तु को अन्य वस्तु को उपलब्ध कराने के स्वभाव वाली कहने का तात्पर्य यह है कि उस सामग्री में उस पदार्थ को उत्पन्न करने की क्षमता है। इस पर जैनों का मत है कि बौद्धों का यह कथन भी बाह्यायार्थ के अभाव को सिद्ध करने के लिए युक्ति संगत नहीं लगता है, क्योंकि इस कथन से पदार्थ की सत्ता सिद्ध हो जाने से उसकी उपलब्धि कभी न कभी हो जायेगी।[4] इस स्थिति में किसी सामग्री के संबंध इस स्थिति में किसी सामग्री के सम्बन्ध में यह कहना उचित नहीं प्रतीत होता है

नानुमानं तथा भूतसल्लिंगानुपलब्धितः।।

[1] वही, 5/377
उपलब्धि लक्षण प्राप्तोंअर्थो येनोपलभ्यते।
ततश्चानुपलब्धध्यैव तदभावोअवसीयते।।
तु0 न्याय बिन्दु द्वितीय परिच्छेद तथा इसी अध्याय का पे0 18

[2] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 5/378
उपलब्धिलक्षण प्राप्तितस्तध्देत्वन्तरसंहति
तेषां च तत्स्वभावत्वे तस्यासिद्धि कथं भवेत्।।

[3] वही, 5/379
सहार्थन तज्जननस्वभावातीति चेन्ननु।
जनयत्येव सत्येवमन्यथा तत्स्वभावता।।

[4] वही, 5/380
योग्यताम धिकृत्यथा तत्स्वभावत्व कल्पना।
हन्तैवमपि सिद्धोअर्थः कदाचिदुपलब्धितः।।

कि उसमें किसी पदार्थ की उपलब्धि कराने की क्षमता है।[1] जैनों के इस आक्षेप पर बौद्ध कह सकते हैं कि जैनी हमारी बातों पर ध्यान दिए बिना ही अपनी बातें कर रहे हैं। इस पर जैनों का कथन है कि बौद्ध उपलब्धि लक्षण प्राप्त होने पर बाह्य पदार्थों की उपलब्धि मानते हैं इसलिए हमारे द्वारा प्रस्तुत तर्क उचित है।[2] जैनाचार्य का कथन है कि इस पर भी अपनी बातों की पुष्टि के लिए यदि बौद्ध कहें कि जिस सामग्री का स्वभाव बाह्य पदार्थों को ग्रहण करना नहीं है उसके द्वारा बाह्य पदार्थों का ग्रहण नहीं होता है। बौद्धों के तर्क से बाह्य पदार्थों की सत्ताशून्यता प्रमाणित नहीं होती है।इस पर भी यदि बौद्ध कहें कि इस स्थिति को स्वीकार करने पर किसी भी पदार्थ को सत्ताशून्य कहा जा सकता है। इस पर जैनों ने कहा है कि जिसका स्वभाव उस वस्तु को ग्रहण करना नहीं होता है उसे वह ग्रहण नहीं करता है, क्योंकि उसका ग्रहण वह सामग्री नहीं करती है जिसका स्वभाव उसे ग्रहण करना नहीं है।[3] अत: बाह्य पदार्थों का अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

विज्ञान एक स्व-संवेद्य वस्तु है का खंडन:

जैनों का कथन है कि बौद्ध विज्ञान को एक स्वंसबेद्य वस्तु मानते है।[4] अर्थात् विज्ञान अपना ज्ञान स्वयं करने वाली वस्तु है। जबकि वाह्य पदार्थ स्वंसवेद्य स्वभाव वाले नहीं है। इसलिए उन्हें स्वंसवेद्य मानना अनुचित है। ऐसी स्थिति में यह संभव नहीं है कि विज्ञान के साथ वाह्य पदार्थों का ग्रहण हो। यही वस्तु स्थिति यह निश्चय करती है

---

[1] शास्त्रवार्ता समुच्च्य, 5/381
अन्यथा योग्यता तेषां कथं युक्त्योपपदयते।
न हि लोकेअश्वमाषार्द सिद्धा पत्तन्यादियोग्यता।।

[2] वही, 5/382
पराभिप्रायतो हयेतदेव चेहुच्यते न यत्।
उपलब्ध लक्षण प्राप्तोअर्थस्तस्योपलभ्यते।।

[3] वही, 5/383
अतद् ग्रहण भावैश्च यदिनाम न गृहयते।
तत् एतावता सत्तवं न तस्याति प्रसंगतः।।

[4] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 5/384
विज्ञान यत्स्वंसवेदयं न त्वार्थो युक्ति योगुतः।
अतस्य दवेदने तस्य ग्रहणं नोपपदयते।।

कि बाह्य पदार्थ सत्ता शून्य नहीं है। इसलिए जैनों का यह आरोप है कि बाह्य पदार्थों के अभाव को प्रमाणित करने वाला कोई प्रमाण बौद्धों के पास नहीं है। इससे वे निराधार हो जाते हैं।[1] इस पर जैनों का कथन है कि जिस विज्ञान को बौद्ध स्वयंसवेदन मानते हैं, वहीं बाह्य पदार्थों के ग्रहण रुप वाला है। अर्थात् उसी के द्वारा बाह्य पदार्थों का ग्रहण होता है। इस स्थिति में विज्ञान को ग्रहण करते समय बाह्य पदार्थों का भी ग्रहण हो जाता है।[2] अत: विज्ञान के साथ-साथ बाह्य पदार्थों की सत्ता मानना न्यायसंगत प्रतीत होता है।

ज्ञान की स्वानुभूति "केवल ज्ञान" इस रुप में होती है ----

जैनाचार्यों ने कहा है कि विज्ञान द्वैतवादियों के अनुसार ज्ञान की स्वानुभूति "केवल ज्ञान" इस रुप में होती है, जबकि ज्ञान की स्वानुभूति बाह्यार्थ को ग्रहण करने वाले ज्ञान के रुप में होती है। इसका आधार प्रस्तुत करते उनका कथन है कि हमे ज्ञान की अनुभूति "घट", पद आदि पदार्थों के ज्ञान के रुप में होती है, जिसके परिणाम स्वरुप हम उसकी ओर अग्रसारित हों, उसे प्राप्त करते हैं। उसे अपने उपयोग में लाते हैं। इन्हीं सब स्मृतियों के कारण मन में उसे प्राप्त की इच्छा बनी रहती है।[3] यदि हम एक मात्र ज्ञान ही वास्तविक मानते हैं तो हमें "घट", "पट" बाह्य पदार्थों को भी ज्ञान ही मान उससे अभिमुख होना असंभव है।[4] इसके अतिरिक्त यदि बौद्ध यह मानते है कि ज्ञान अपने अतिरिक्त किसी वस्तु को अपना विषय नहीं बनाता है, तो भी उनका बाह्य जगत्

---

[1] वही, 5/385
एवं चाग्रहणादेव तद भावोअवसीयते।
अतः किमुच्यते मानमर्थाभावे न विद्यते।।

[2] वही, 5/386
अर्थ ग्रहणरुपं यन्तत्स्व संवेदयमिष्यते।
तदवेदने ग्रहस्तस्य ततः कि नोपपदयते।।

[3] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 5/387
घटादिज्ञान मित्यादि संवित्तेस्त्प्रवृत्तितः।
प्राप्तेरथां क्रियायोगात् स्मृतेः कोतुक भावतः।।

[4] वही, 5/388
ज्ञानमात्रे तु विज्ञानं ज्ञान मेवेत्यदो त्रवेत्।
प्रतृत्यादि ततो न स्याप्रसिद्धं लोकशास्त्रयोः।।

की सत्ता से इनकार करना अनुचित प्रतीत होता है। यदि ज्ञान का विषय अबाह्य रुप अर्थात् अन्तरंगार्थ रुप माना जाय तो एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के ज्ञान को नहीं जान सकेगा। ऐसी स्थिति में दूसरे व्यक्ति के ज्ञान की सत्ता शून्य हो जायगी।[1] वस्तुत: व्यवहार में विविध व्यक्तियों के ज्ञान का संचार देखा जाता है। अत: उनकी सत्ता मानना न्यायसंगत है।

यदि विज्ञानद्वैत वादियों के अनुसार अन्तरगार्थ को एकान्त माना जाय तो बुद्धिरुप अनुमान एवं शब्द रुप आगम को मिथ्या मानना पड़ेगा। इस प्रकार सभी के मिथ्या होने से वे प्रमाणामास हो जायेंगे क्योंकि प्रमाण सत्य से तथा प्रमाणाभात असत्य से व्याप्त होता है। चूँकि बिना प्रमाण के प्रमाणाभास सम्भव नहीं है। इसलिए बौद्धों के अन्तरंगार्थ के एकान्त की मान्यता दूषित हो जाती है। इसे अनुमानादि किसी प्रमाण से प्रमाणित नहीं किया जा सकता, इसलिए इसकी प्रतीति दूसरों को नहीं करायी जा सकती है।[2]

बाह्य पदार्थ ग्राह्य-ग्राहक रुप वाले नहीं है, इससे उनकी सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती। बौद्धों के इस बात का खंडन करते जैनों का कथन है कि बाह्य पदार्थों के सदृश ज्ञान को एकमात्र सत्ता मानने वाले सिद्धान्त के विषय में भी कहा जा सकता है कि वे ग्राह्य ग्राहक रुप वाले नहीं हैं।[3] वस्तुत: ज्ञान के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि वह केवल ग्राह्य स्वरुप नहीं है, क्योंकि इस दशा में वह एक ग्राहक स्वरुप नहीं रह सकेगा। वह केवल ग्राहक स्वरुप नहीं रह सकेगा, क्योंकि वह इस दशा में ग्राह्य स्वरुप

---

[1] वही, 5/389
तदन्य ग्रहणे चास्य प्रद्वेषोअर्चेअनिबन्धनः।
ज्ञानान्तरेअपि सदृशं तदंसवेदनादियत्।।
विशंति कारिता 18, 19, 20 में एक चित्तमात्र को विज्ञान नहीं कहा गया है।

[2] देवागम, कारिका 79
अन्तरंगार्थ तैकान्ते बुद्धि वाक्यं मृषाअखिलम्।
प्रमाणाभास मेवातस्तत् प्रमाणादृते कथम्।।

[3] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 5/390
युक्त्ययोगश्च योअर्थस्य गीयते जातिवादतः।
ग्राहयादि भावद्धारेण ज्ञानवादेअप्यसौ समः।।

नहीं रह सकेगा। वह ग्राह्य-ग्राहक दोनों रुपों में नहीं रह सकेगा। वह ग्राह्य-ग्राहक स्वरुप के अभाव वाला भी नहीं रह सकेगा, क्योंकि वह उस दशा में उसका स्वभाव अन्तर्विरोध पूर्ण हो जायगा। वह ग्राह्य-ग्राहक स्वरुप के अभाव वाला भी नहीं रह सकेगा, क्योंकि वह उस दशा में स्वभाव शून्य होने के कारण सत्ता शून्य हो जायगा। ऐसी दशा में ज्ञान की भी सत्ता स्वीकार करना उचित नहीं है।[1] यदि साध्य-साधन की विज्ञप्ति के रुप में विज्ञप्ति मात्रता मानी जाय तो प्रतिज्ञा एवं हेतुदोष उत्पन्न होता है। अर्थात् एक तरफ प्रतिज्ञा से स्ववचन विरोध तथा दूसरी तरफ हेतु प्रयोग सिद्ध नहीं होता है[2], क्योंकि साध्ययुक्त पक्ष के वचन को प्रतिज्ञा एवं साधन के वजन को हेतु कहते हैं।

ज्ञान का एक मात्र स्वरुप प्रकाशन क्रिया है ----

जैनाचार्यों का कथन है कि यदि बौद्ध कहें कि ज्ञानका एक मात्र स्वरुप प्रकाशन क्रिया है। यह क्रिया अकर्मक है, इसलिए ज्ञान स्वयं से प्रकाशित होता है। इसे उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है, जिस प्रकार "वह बैठता है", वह सोता है" में क्रिया कर्म से शून्य है,। इसमें कर्त्ता को ही उस क्रिया का करने वाला कहा जाता है। वैसे ही ज्ञान के सम्बन्ध में कहा जा सकता है।[3]

जैनाचार्य इस तर्क प्रस्तुत करते कहते हैं कि ज्ञान को चमकता है, इस अकर्मक क्रिया का कर्ता माना जाय या चमकाता है इस सकर्मक क्रिया का कर्ता माना

---

[1] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 5/391-92
नैकान्त ग्राहय भावं तदग्राहका भावतो भुवि।
ग्राहकैकान्त भावं त ग्राहयाभावाद संगतम्।।
विरोधोन्नोभयाका रमन्यथातदसदभवेत।
निः स्वभावत्वतस्तस्य सत्तैवं युज्यते कथम्।।

[2] देवागम कारिका, 80
साध्य-साधन विज्ञप्तेर्यदि विज्ञप्तिमात्रता।
न साध्यं न च हेतुश्च प्रतिज्ञाहेत दोष तः।।

[3] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 5/393-394
प्रकाशैक स्वभावं हि विज्ञानं तत्वतो मतम्
अकर्मकं तथा चैततस्मैव प्रकाशते।।
यथास्ते शेत इत्योदोबिना कर्मस एवं हि।
तथोच्यते जगत्यस्मि स्तथाज्ञानमपीष्यताम्।।

जाय। इस पर विज्ञानवादी यदि पहले के विकल्प को स्वीकार करते हैं, तो ऐसा मानने पर किसी भी प्रकार की तत्व व्यवस्था संभव नहीं होगी, क्योंकि किसी भी तत्व व्यवस्था में किसी भी प्रकार का प्रमाण बौद्ध उपस्थित नहीं कर सकेगा।[1] यदि प्रमाण उपस्थित करते हैं तो मानना पड़ेगा कि ज्ञान अपने स्वरुप का भी प्रकाशन नहीं कर सकता है। ऐसी स्थिति में यह बौद्धों का कहना कि ज्ञान अमुक स्वरुप वाला है। यदि बौद्धों का यह कथन अकर्मक क्रिया भर है तो ज्ञान की स्वरुप व्यवस्था असंभव हो जायगी।[2]

यदि ज्ञान की स्वरुप व्यवस्था संभव है तो इसका अर्थ एक ऐसे ज्ञान की सत्ता को सुनिश्चित करना है जो ज्ञान के स्वरुप को यथार्थ भाव से प्रकाशित करें। ऐसी स्थिति में ज्ञान के स्वरुप विषयक ज्ञान को अकर्मक नहीं माना जा सकता है।[3] इस पर यदि बौद्ध कहें कि ज्ञान की रुप व्यवस्था करने वाला, जो ज्ञान होता है वह भ्रान्त होता है। इस पर जैनियों का कथन है कि ज्ञान के स्वरुप व्यवस्था के सम्बन्ध में कोई अभ्रान्त प्रमाण प्राप्त नहीं होता है[4] इसलिए यह मानना युक्ति संगत नहीं है कि कोई भ्रान्त ज्ञान किसी वस्तु के सम्बन्ध में अभ्रान्त स्वरुप व्यवस्था कर सकता है।[5] इस पर अपनी बात की पुष्टि में बौद्ध कह सकते हैं कि नेत्र रोग से पीड़िंत व्यक्तियों के भ्रान्त ज्ञान, उनके

---

1 शास्त्रवार्ता समुच्चय, 5/395
उत्यतेअसाम्प्रतमदः स्वमेव विचिन्त्यताम्।
प्रमाणाभावतस्तत्र यदयेतदुपपदयते।।

2 वही, 5/396
एवं न यत्तदात्मानमपि हन्त प्रकाशयेत्।
अतस्तदित्थं नो युक्तमन्यथा न व्यवस्थितिः।।

3 वही, 5/397
व्यवस्थितौ च तत्वस्यथाभावप्रकाशकम्।
ध्रुवं यतस्ततोअकर्मकत्वमस्य कथंभवेत्।।

4 वही, 5/398
व्यवस्थापकमरस्यैवं भ्रान्तं चैतन्तुभावतं।
तथेत्यभान्तत्रत्रापि ननुमानं न विद्यते।।

5 शास्त्रवार्ता समुच्चय, 5/399
भान्ताच्चाभान्तिरुपा न युक्तियुक्तया व्यवस्थितिः
इष्टौते मिरिकादीनामक्षांदाविति चेन्नतत्।।

नेत्ररोग के सम्बन्ध में अभ्रान्त स्वरुप व्यवस्था करते हैं[1] इसका उत्तर देते हुए जैनाचार्य का कथन है कि नेत्ररोग से पीड़ित व्यक्तियों का नेत्र जन्य ज्ञान, जिस प्रकार भ्रान्त होता है, वैसे ही वह ज्ञान नहीं है जिसका विषय नेत्र रोग है। अत: इस नेत्ररोग विषयक ज्ञान को भ्रान्ति मानने का अर्थ नेत्र जन्य ज्ञान को अभ्रान्त मानना है।[2] इसलिये यह कहना व्यावहारिक दृष्टि से न्यायसंगत नहीं प्रतीवत होता है कि प्रकाशन क्रिया, केवल प्रकाशन रुप एवं अकर्मक है। अत: जैनों के अनुसार बौद्धों का यह मत व्यर्थ है।[3] जैनाचार्यों का मत है कि दृष्टांतों की सहायता से एक ऐसे साध्य की सिद्ध नहीं किया जा सकता है, जो दृष्टांतों से भिन्न हो।[4] यहाँ उन्होंने प्रकाशन की अकर्मक क्रिया का विवेचन किया है परन्तु उसके सकर्मक का वर्णन नहीं किया क्योंकि सकर्मक क्रिया के माध्यम से बाह्य सत्ता हो ही जाती है।[5] इसलिए जैनाचार्य इसकी आवश्यकता नहीं अनुभव किए।

विज्ञानाद्वैत में मोक्ष की अनुपपत्ति:

जैनाचार्य विज्ञानवाद पर दोषारोपण करते कहते हैं कि विज्ञान की ही एकमात्र सत्ता मानने पर संसार तथा स्वर्ग मोक्ष में अभिन्नता हो जायेगी। ऐसी स्थिति में बौद्धों के मोक्ष का उपदेश देना व्यर्थ हो जायगा।[6] इस पर बौद्ध अपने तर्क प्रस्तुत कर सकते हैं कि रागादि मनोदोषों से युक्त चित्त् ही संसार है तथा इन्हीं दोषों से मुक्ति का नाम मोक्ष

---

[1] वही, 5/400
नानादि दोषा विज्ञानं तदन्यभ्रान्तिवदयतः
भ्रान्तं तस्य तथाभावे भ्रान्तस्याभ्रान्तता भवेत्।

[2] वही, 5/401
न च प्रकाशमात्रं तु लोके कचिदकेमेकम।
दृष्टांन्त मात्रताः सिद्धिस्तदत्यन्त विधर्मिणः।

[3] वही, 5/402
दृष्टांन्त मात्रतः सिद्धिस्तदत्यन्त विधर्मिणः
न चं साध्यस्य यन्तेन शब्दामात्रमसामणि।

[4] वही, 5/402
दृष्टांन्त मात्रतः सिद्धिस्तदत्यन्त विधर्मिणः
न चं साध्यस्य यन्तेन शब्दामात्रमसामणि।

[5] वही, देखें इसी अध्याय का पृ0 13

[6] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 5/403, किंच विज्ञान ………………. चेतदवृथोदितम।

है।[1] बौद्धों के इस कथन पर जैनों ने शंका व्यक्त की कि जब इनके मत में विज्ञान ही एक मात्र सत्ता है तो कौन किसको दूषित करेगा, क्योंकि कोई वस्तु अपने आप को दूषित नहीं कर सकती है।[2] इस पर बौद्ध उत्तर दे सकते हैं कि रागादि मनोदोषों को दूषित विज्ञान कहा जाता है। बौद्धों के इस बात पर जैनों ने तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा है कि उस वस्तु, जिसके कारण विज्ञान दूषित अवस्था को प्राप्त होता है उसकी विज्ञान की भाँति वास्तविक सत्ता माननी चाहिए।[3] इस पर यदि बौद्ध कहें कि मोक्षावस्था में विज्ञान अपने को दूषित करने वाली वस्तु से उसी प्रकार पृथक होकर अवस्थित होता है जिस प्रकार नीलादि से पृथक होकर वस्त्र पुन: स्वच्छ अवस्था प्राप्त करता है। ऐसा अपने पर भी बाह्य पदार्थों की सत्ता सिद्ध होती जाती है।[4] वस्तुत: विज्ञानवादी नील पदार्थ एवं नीले के ज्ञान को अभिन्न मानते हैं। क्योंकि उनकी एक साथ उपलब्धि होती है। इसकी पुष्टि के लिए उदाहरण प्रस्तुत करते रहते हैं कि जिस प्रकार नेत्र विकारी के दो चन्द्रदर्शन होने पर भी, वास्तविक चन्द्रमा एक ही है उसी प्रकार नीला पदार्थ एवं नीलज्ञान एक ही है।[5]

विज्ञान के दूषण की व्याख्या करते यदि बौद्ध कहें कि विज्ञान स्वभावत: ही दूषित होता है। इस पर जैनों का कथन है कि दोषों के अवस्थन की परिधि, जब विज्ञान के परिधि के समान है, तब मोक्ष संभव नहीं हो सकती है। अर्थात् स्वभावत: दोषयुक्त विज्ञान का दोषमुक्त होना असंभव है।[6] यदि बौद्ध बाह्य पदार्थों के अभाव में अनुभूत

---

[1] वही, 5/404: चिन्तमेव .... इति कथ्यते।।

[2] वही, 5/405:
रागादिक्लेशवर्गोपन्नविज्ञानात्पृथग्मतः।
एकान्तै कस्वभावे च तस्मिन किं केन वासितम्।।

[3] वही, 5/406
क्रिष्टं विज्ञानमेवासौ क्लिष्टता तत्रयदवशात्।
नील्यादिवंद्रसौ वस्तु तदवदेव प्रसज्यते।।

[4] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 5/407
मुक्तौ च तस्य भेदेन भावः स्यात्पटशुद्धित्,
ततो बाहयार्थता सिद्धिरनिष्ठा सम्प्रसज्यते।।

[5] विवरण प्रमेय संग्रह, पृ0 75

[6] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 5/408

ग्राह्य-ग्राहक भाव को विज्ञान का दूषण मानते हुए कहते हैं कि यह ग्राह्य ग्राहक भाव उसी प्रकार एक भ्रान्ति है, जिस प्रकार एक नेत्र रोगी का एक साथ दो चन्द्रमा का देखना भ्रान्तिपूर्ण है।[1] इस पर जैनों का तर्क है कि इस स्थिति में एक भ्रान्ति का कारण, ज्ञान मात्र के कारण से भिन्न ही होना चाहिए, क्योंकि तिमिर रोग के अभाव में किसी व्यक्ति को चन्द्रमा का दर्शन नहीं होता है।[2] वस्तुतः बौद्धों के मत में भ्रान्ति का कारण न तो कोई वास्तविक सत्ता हो सकती है, न विज्ञान मात्र ही उसका कारण हो सकता है। जैनों ने बौद्धों की इस मान्यता को अनुचित माना है, क्योंकि इसको मानने पर यह भी मानना पड़ेगा कि विज्ञान सदैव दूषित रहता है। इस दशा में मोक्ष (स्वर्ग) की सम्भावना करना व्यर्थ है।[3]

जैनाचार्य का कथन है कि बौद्धों का विवेचन मोक्ष को एक असम्भव घटना प्रमाणित कर देता है। ऐसी स्थिति में उनकी सभी दार्शनिक व्याख्या व्यर्थ प्रतीत होती है। दूसरी तरफ यदि वे मोक्ष को एक सदा वर्तमान अवस्था मानें तो भी उनकी चर्चा व्यर्थ सिद्ध हो जाती हैं।[4] अतः जैनों का मत है कि बौद्धों द्वारा प्रस्तुत विज्ञान को एक मात्र वास्तविक सत्ता मानने का सिद्धान्त सिद्ध नहीं होता है।[5]

---

[1] प्रकृत्यैव तथा भूतंतदेव क्लिष्ट तेति चेत्।
तदन्यूनातिरिलित्वे केन युक्तिर्विचिन्त्यताम।।

[2] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 5/410
अस्त्वेतत्किन्तु तद्धेतुभिन्न हेत्वन्तरोदभवा।
इयं स्यात्तिमिराभावे न हीन्दुद्वैयदर्शनम्।।

[3] वही, 5/411
न वासदेव तद्धेतुर्बोधमात्रं न वा (चा) अपितत्।
स (त) दैव क्लिष्टता पत्तिरिति मुर्क्तिन युज्यते।।

[4] वही, 5/412
मुक्तयभावे च सर्वेचननु चिन्ता निरर्थिका।
भावेअपि सर्वदा तस्याः सम्यगेत द्विचिन्त्यताम।।

[5] वही, 5/413
विज्ञान मात्र वादो अयं नेत्थं युक्त्योपपद्यते।
प्रज्ञास्याभिनिवेशो न तस्मादत्रापियुज्जते।।

विज्ञप्ति की एकान्तता मानने पर प्रतिज्ञा हेतु दोषः

उपरोक्त वर्णित विज्ञप्ति मात्रता के एकांगी मत को स्वीकार करने पर प्रतिज्ञा तथा हेतु दोष का प्रादुर्भाव होता है। इसको उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। विज्ञान वादी नीलपदार्थ एवं नीले के ज्ञान को एक साथ उपलब्धि होने के कारण अभिन्न मानते हैं। इनका कथन है कि नेत्रविकारी के दो चन्द्र ज्ञान सदृश्य है। वस्तुतः नील पदार्थ एवं नीला का द्वैत ज्ञान इसे मानने पर स्ववंचन रुप प्रतिज्ञा दोष उत्पन्न होता है, क्योंकि नील पदार्थ व नील ज्ञान रूप धर्म-धर्मों के भेदा का (हेतु एवं दृष्टांत दोनों के भेद का) अद्वैत के साथ विरोध है। इसलिए बौद्धों के साध्य-साधनादि रूप ज्ञान को अभेद कहने से उनके साध्ययुक्त वचन (प्रतिज्ञा) दोषित हो जाते हैं।[1] इसके अतिरिक्त दूषित इनकी बात से साधन रुप दूषित हो जाता है। उक्त वर्णन से नील और नील ज्ञान की पृथक उपलब्धि के अभाव से नील एवं नील ज्ञान के भेद का अभाव सिद्ध होता है। परन्तु इन दोनों अभावों में परस्पर आकाश एवं आकाश कुसुम के सम्बन्ध के सदृश हैं। वस्तुतः जो हेतु साध्य के साथ अवाध्य सम्बन्ध न रखता हो वह साध्य को सिद्ध करने में असमर्थ होता है। इसीलिए बौद्धों की उक्त बातों से हेतु की भी सिद्धि नहीं होती है।[2] इस पर यदि बौद्ध कहें कि जिस प्रकार अग्नि के अभाव में धूम का अभाव तथा वृक्ष के अभाव में शीशम (वृक्ष) का अभाव सिद्ध किया जाता है, उसी प्रकार नील एवं नील ज्ञान के पृथक उपलब्धि के अभाव से दोनों के भेद का अभाव सिद्ध किया जाता है। इस कारण हमारा हेतु सिद्ध है। इस पर जैनों का कथन है कि इनका यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि धूम एवं अग्नि का कार्यकारण भाव सम्बन्ध सिद्ध होने पर ही कारण के अभाव में कार्य का अभाव सिद्ध होता है तथा शीशम और वृक्ष के व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध सिद्ध होने पर ही व्यापक के अभाव में व्याप्य का अभाव सिद्ध होता है। यदि पहले से कार्यकारण एवं व्याप्य व्यापक सम्बन्ध का अस्तित्व सिद्ध नहीं है तो कारण के अभाव में कार्य का तथा व्याप्य के अभाव में व्यापक का अभाव भी सिद्ध नहीं होगा। अतः बौद्धों की बातों में विरोध, दोष होने के कारण, भेद एवं पृथक उपलब्धि का सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता है। जिससे पृथक उपलब्धि का अभाव हेतु भेदभाव को सिद्ध किया जा

---

[1] अष्टसहस्री परिच्छेद, 3 पृ0 245

[2] अष्टसहस्री परिच्छेद, पृ0 246

सके। इसलिए बौद्धों की उक्त वर्णित पृथक उपलब्धि का अभाव रूप निश्चित रूप से असिद्ध हो जाता है।[1]

परमाणु के अभाव विज्ञान की एकान्तता सिद्ध नहीं कर सकता है। बौद्धों के अनुसार बाह्य परमाणु के सिद्ध करने का कोई प्रमाण नहीं है इसलिए उसे (अवयवी) वास्तविक नहीं मानना चाहिए।[2] इस पर जैनों का कथन है कि अवयव के अभाव में न अवयवी बन सकता है, न अवयवी में अवयव रह सकता है, क्योंकि वह निरवयवयव है। यदि अवयव में अवयवी की कल्पना की जाये तो अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायेगा, क्योंकि इस स्थिति में बहुत से अवयवी हो जायेंगे। इस पर बौद्ध कह सकते हैं कि यह दोष अवयव अवयवी के भिन्न मानने पर ही आयेगा। परन्तु जैनों का कथन है कि यदि इसको अभिन्न माना जाय, तो अवयवी अवयव हो जायगा। इस स्थिति में अवयवी समस्त अवयव में व्याप्त हो जायेगा, तब नीला रंग एवं उससे रहित पना का पृथक करना असंभव हो जायेगा। ऐसी स्थिति में अवयव रूप अर्थ स्वयं अवयवों की अपेक्षा से अवयवी हो जायेगा।[3] इस पर यदि बौद्ध कहें कि परमाणु में कोई अंश नहीं रहता है, इसलिए इसको हम अवयव मान लेंगे, परन्तु परमाणु छः दिशाओं से छः अंशता धारण करता है। इसलिए अर्थ की सिद्ध न होनों से ग्राह्य ग्राहकार मिथ्या ठहरता है। इस प्रकार बौद्धों का मत है कि ग्रह्य-ग्राहक के अभाव में केवल ज्ञान का आकार रह जाता है, वही परमार्थिक है। अतः अदवय सम्वेदन परमार्थिक तथा ग्राह्य-ग्राहकाकार में प्रवृत्ति अतात्विक है। वेद्य-वेद्यक आकार से रहित ज्ञान, अविद्या अज्ञान से अनेक चेतन एवं क्षण-भंगुरता से आक्रान्त प्रतीत होता है। अनेक प्रकार का विवर्तमिथ्या होने से उसके साथ परमार्थिक भेद अभेद का विचार असंभव है। संवेदन को परमार्थ की उपेक्षा से अप्रत्यक्ष, सविकल्प तथा भ्रान्ति आदि रूप से स्वीकार करने पर भी बाह्यार्थ में धर्म का मिथ्या ज्ञान होता है।[4]

---

[1] अष्टसहस्त्री, पृ0 248, न्यायबिन्दु परिच्छेद 2, द्रष्टव्य इसी पृष्ठ का पृ0 16-17

[2] आप्तपरीक्षा, 207, पृ0 178, तु0 विंशतिका का0 11
विंशतिका का0 6-7, द्रष्टवय इसी प्रबन्ध का पृ0 6 आदि।

[3] न्यायावतार टीका, पृ0 55 तु0 विशंतिका का0 13

[4] वही, पृ0 57, तु0 विंशतिका0 12:14-15

इस पर जैनों का मत है कि बौद्ध ज्ञान को स्वरूप से भ्रान्त नहीं मानते हैं परन्तु उनके द्वारा दिखाए गये अर्थ के मिथ्या होने से उसमें भ्रान्तता मान लेते हैं। इस पर जैनों का तर्क है कि जब ज्ञानोदय काल में भ्रान्त या अभ्रान्त ज्ञान के सत्य या असत्य का निश्चय नहीं होता है, क्योंकि मिथ्या चन्द्रदवय भी स्पष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान में दिखते हैं। तो इस स्थिति में सच्चे समझे जाने वाले सभी प्रतिभासों की मिथ्या होने की संभावना बनी रहती है। ऐसी दशा में प्रतिभास मानजल की प्राप्ति आदि काल्पनिक हो सकती है, क्योंकि स्वप्न में ऐसा होने पर उसे मिथ्या माना जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि बाधक ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर ही ज्ञान की असत्यता होती है। अतः बाधक के अभाव में ही सभी ज्ञान प्रमाण हैं, परन्तु बौद्ध भ्रान्त एवं अभ्रान्त ज्ञान में पृथकत्व को न जानने के कारण सभी वस्तुओं को मिथ्या कहते हैं।[1]

जैनों ने तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा है कि विज्ञानवादी समस्त ज्ञान की भ्रान्तता की प्रतिज्ञा करते हैं, लेकिन अपने तत्व साधक रुप ज्ञान को अभ्रान्त ही मानेंगे, क्योंकि उसे भ्रान्त मानने पर ततप्रतिपादित समस्त पदार्थ असत्य हो जायेगा, तब समस्त ज्ञान अभ्रान्त हो जायेंगे। परन्तु ऐसा न मानने पर उसके तत्व साधन ज्ञान अभ्रान्त नहीं होंगे। अर्थात् समस्त सम्वेदनों को भ्रान्त मानने पर उनके तत्व साधक ज्ञान को अभ्रान्त मानना पडेगा, क्योंकि इसके बिना समस्त सम्वेदन भ्रान्त नहीं होगा।[2] इस प्रकार बौद्धों का सिद्धान्त प्रतिज्ञाभंग दोष से ग्रसित हो जाता है। अतः बाह्यार्थ के बिना विज्ञानाद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती है।

अतः उक्त विवेचन से बौद्धों की अन्तरंगतार्थता दोषपूर्ण हो जाती है। इसके साथ ही बहिरंगार्थता के एकान्त को दोषपूर्ण बताते जैनों का कथन है कि यदि बहिरंगार्थता का एकान्त माना जाय तथा ज्ञान को कोई परमार्थ वस्तु न मान बाह्यर्थ को ही ज्ञान का वस्तु माना जाय, तो प्रमाणाभासजनित मिथ्या ज्ञान नष्ट हो जायेगा। इस दशा में किसी वस्तु को मिथ्या नहीं कहा जा सकेगा।[3] अतः अतरंगार्थता एवं

---

[1] न्यायावतार टीका, पृ0 58: तु0 विंशतिका का0 16, 17

[2] वही, पृ0 59

[3] देवागम, का0 81
बहिरंगार्थतैकान्ते प्रमाणाभास-निहवाद

बहिरंगार्थता अथवा उभय तथा अव्यप्कता किसी एकान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता है।[1] इसलिए जैनों ने दोनों प्रकार के एकान्तों में अपेक्षाभेद से सामंजस्य स्थापित किया है।[2] जैनों का कथन है कि भाव प्रमेय की अपेक्षा स्वंसवेदन प्रमाण के द्वारा सब कुछ प्रत्यक्ष मानने पर तथा बाह्य प्रमेय की अपेक्षा इन्द्रियज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष होने पर क्रमशः प्रमाण एवं प्रमाणाभास का सृजन होता है। वस्तुतः बाध्यता एवं निर्वाध्यता की स्थिति में प्रमाणभास एवं प्रमाण उपस्थित होता है। इसलिए इन दोनों की व्यवस्था में किसी प्रकार का विरोध नहीं है, क्योंकि एक ही जीव के आवरण के अभाव विशेष के कारण सत्यासत्य प्रतिभास रूप संवेदन परिणाम की उसी प्रकार बनती है जिस प्रकार की सिद्धि किहकालिमा सुवर्ण गंदगी विशेष के भाव, अभाव के कारण सुवर्ण उत्कृष्ट एवं मलिन बनता है यदि इस पर बौद्ध कहें कि जीव सुवर्ण के समान कोई वस्तु नहीं होता तो इस पर जैनों का तर्क है कि जो नामरुप होता है वह बाह्यार्थ युक्त होता है, जैसे हेतु शब्द धूम आदि नामधारी बाह्यार्थ के बिना नहीं होता। सभी हेतुवादी हेतु शब्द को बाह्यार्थ मानते हैं, इसलिए हेत्वाभास में कोई भेद नहीं हो सकता है। इस पर यदि बौद्ध कह सकते हैं कि माया आदि भ्रान्ति की ऐसी संज्ञाएं हैं जिनका कोई बाह्यार्थ नहीं होता है। इसलिए संज्ञापना हेतु दोष दूषित है, क्योंकि उससे जीव शब्द का बाह्यार्थ होना सिद्ध नहीं होता है। इस पर जैनों का मत है कि बौद्धों का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि मायादि भ्रान्ति की संज्ञायें भी प्रमाणोक्ति के समान अपने अर्थ से युक्त है। अर्थात जिस प्रकार प्रमाण वचन का ज्ञान लक्षण बाह्यार्थ है, उसी प्रकार मायादि भ्रान्ति संज्ञाओं द्वारा भी बाह्यार्थ भ्रान्ति विषयक विशिष्ट वस्तु का प्रतिपादन होता है। वस्तुतः यदि माना जाय कि भ्रान्ति संज्ञा से भ्रान्ति का प्रतिपादन नहीं हो सकता है तो भ्रान्ति को भी सम्यज्ञान मानना पड़ेगा। जिसके फलस्वरुव गगन

सवेष्णं कार्यसिद्धि स्यादिवरुद्धार्थ अमिधानिनाम।।

1 देवागम, का0 82
विरोधान्नौभयैकात्म्यं स्याद्वान्याय विद्धिर्षाम्।
अवाच्यतै कान्तेअप्युक्तिर्वाअवाच्यनिति युज्यते।।

2 वही, 83
भावप्रमयाअपेक्षया प्रमाणाभास निहवः।
वहिः प्रमेयाअपेक्षयां प्रमाण नभिन्नंचते।।

कुसुम खर विषणआदि शब्द को भी स्वार्थ रहित नहीं माना जा सकेगा, क्योंकि उनका अभाव रूप स्वार्थ न मानने पर वे उपस्थित हो जायेगी।[1] अतः इन शब्दों में भी संज्ञात्व हेतु का दोष नहीं माना जा सकता है। इस पर यदि बौद्ध संज्ञा से अलग विज्ञान का कोई अस्तित्व न मानते हुए संज्ञापना हेतु को असिद्ध मानते हैं तो "हेतु शब्दवत" दिया गया दृष्टांत भी सिद्ध नहीं होगा। अर्थात् यदि संज्ञाभास होने के कारण जीवशब्द को सवाह्यार्थ मानें तो यह हेतु शब्द स्वप्न ज्ञान के समान दोषपूर्ण हो जायगा, क्योंकि उसमें शब्दाकार ज्ञान होते हुए भी बाह्यार्थ का अभाव रहता है। जैनों ने इस तर्क के विपरीत कहा है कि वाक्य बोध स्त्रोता का, वक्ता का और प्रमाता का प्रमाण, ये तीनों एक दूसरे से भिन्न-भिन्न प्रतिभासित होते हैं, ऐसी स्थिति में विज्ञानाद्वैतता बाधित हो जाता है। संज्ञात्वात हेतु के असिद्ध नहीं होती है और न हेतु शब्दवत इस दृष्टांत के साध्य की ही असिक्ति होती है। इस पर यदि बौद्ध कहे कि बाह्य अर्थ का अभाव होने से वक्ता, श्रोता एवं प्रमाता तीनों ज्ञान से पृथक नहीं हैं। अतः वक्तादि के ज्ञान से पृथक न होने के कारण उक्त हेतु आदि असिद्ध हो जाते हैं। इस पर जैनों का कथन है कि बौद्धों का उक्त कथन अयुक्त है, क्योंकि विज्ञान संतान के क्रिया कलाप तथा ज्ञान मतावलम्बी प्रमाण के भान्ति की कल्पना संघाटि को असिद्ध कर देती है। जैनों का मत है कि इससे भी बौद्धों के अन्तर्ज्ञेय की मान्यता सिद्ध नहीं होती है। वस्तुतः बौद्धों के अभ्रान्त ज्ञान को प्रमाण मानते हैं, इसलिए प्रमाण की विभ्रम रुप में कल्पना करने पर ज्ञानाद्वैत ही तत्व है, असिद्ध हो जाता है। प्रमाण के भ्रान्त होने पर बाह्यार्थों, तादृश, अतादृशों, प्रमेयों, अन्तर्ज्ञेयों, बाहिर्ज्ञेयों आदि भ्रान्त हो जायेगें। अतः प्रमाण को अभ्रान्त मानने पर बाह्यार्थ को स्वीकार करना आवश्यक हो जायगा। क्योंकि बाहयार्थ के अभाव में प्रमाण प्रमाणाभास किसी को प्रमाणित नहीं किया जा जा सकेगा।[2]

---

[1] देवागम, का0 84, जीवशब्दः सबाह्यार्थः संज्ञात्वाद्धेतु शब्दवत। मायादि-भ्रान्ति संज्ञाश्च माया द्यैस्वैःप्रभोक्तिवत्।।

[2] देवागम का0 86
वक्तृश्रोतृ प्रमातृणां बोधवाक्य प्रभाः पृथक।
भ्रान्तावेव प्रमाभ्रान्तौ बाह्यार्थौ तादृशेतेरी।।"

जैनाचार्यों के अनुसार अपने वचन के प्रतिपादन के लिए बुद्धिरुप ज्ञान की प्रतिपादन के लिए शब्द की प्रमाणता बाह्यअर्थ के होने पर अवलम्बित है। अर्थात् बाह्य अर्थ के होने पर ही बुद्धि और शब्दो को सत्यासत्य कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में बाह्यार्थ की सिद्ध होने से ही उक्त वक्ता श्रोता आदि की प्रमाणिकता सिद्ध हो सकती है।[1] अन्ततः जैनों ने कहा कि यदि जगत को विज्ञान रूप माना जाय, तो पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि हेतु और हेतु फल एक साथ नहीं रह सकते हैं। हेतु के नष्ट होने पर फल की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इसलिए बौद्ध मत खंडित हो जाता है।[2] इसके अतिरिक्त जैनों का कथन है कि बौद्धों के वासना एवं क्षण संतति को परस्पर भिन्न, अभिन्न एवं अनुमय किसी प्रकार से सिद्ध नहीं कर सकते हैं। इसलिए उपायान्तर से जैनों के सिद्धान्तों का आश्रय लेते हैं।

जैनों ने बौद्धों के द्वारा जैन मत स्वीकृति की तुलना समुद्री जहाज से उड़े पक्षी से की है, जो समुद्र का किनारा न पा पुनः उसी जहाज पर वापस आ जाता है।[3] जैनों के इस बात से बौद्धों के प्रति इनकी भावना के विकास का पता चलता है। वास्तव में जैनों ने इसी ग्रंथ के काल में रचे एक ग्रंथ[4] में बुद्ध को पार्श्वनाथ की परम्परा का बताया है जो तप भ्रष्ट होकर भ्रष्ट बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। पुनः बौद्धों को जैनमत स्वीकार करने की बात की है। इससे प्रतीत होता है कि दशवीं ईस्वी में जैनों ने बौद्धों के प्रति उदार दृष्टि रखकर, उन्हे अपने धर्म में दिक्षित करना प्रारंभ कर दिया था। यही, इनके तर्क की चरम परिणिती है।

---

[1] वहीं, 87:
बुद्धिशब्द प्रमाणत्वं बाह्यार्थेसति नाअसित।
सत्याअनृतव्यवस्थैवं युज्यतेअर्थाप्त्यनाप्ति षु।।

[2] अन्ययौगव्यवच्छेद दवात्रिंशिकी स्तवन श्लोक, 16
न तुल्य कालः फल हेतु भावो हेतौ विलेनेन फलस्यभाव।
न संविदद्वैत पयेअर्थ संविदविलूनशीर्णे सुमतेन्द्रजालम्।।"

[3] अन्ययौ गव्यवच्छेद द्वाचिंशिकी स्तवन, श्लोक 19
सा सासना सा क्षणसन्ततिश्च नाभेदानुभयैर्घटते।
ततस्तटादर्शित कुन्तपोतन्यापात्वंद्क्तानि परेश्रयन्तु।।

[4] दर्शन सार श्लोक 6-9 तक।

उपसंहार

विज्ञानवादियों के ग्रंथों के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि ये समस्त जगत की सत्ता को चित्त में देखते हैं। अर्थात् यह स्वचित्त में समस्त जगत को देखना ही विज्ञान मानते हैं। जिसे ध्यान के द्वारा जाना जा सकता है। इन्होंने प्रत्यक्षादि इन्द्रियज्ञान को मिथ्या तथा इन्द्रियातीत ज्ञान को सत्य माना है।

विज्ञानवादियों ने वस्तुओं की सत्ता को व्यावहारिक एवं परमार्थिक दो रूपों में माना है। व्यावहारिक सत्ता परिकल्पित एवं परतन्त्र दो प्रकार की होती है। रज्जु में सर्प की भावना परिकल्पित तथा रज्जु में रज्जु की भावना परतंत्र सत्ता के अन्तर्गत् आती है। वस्तुओं की परमार्थिक सत्ता में ग्राह्य - ग्राहक द्वैत की भ्रान्ति एवं इनमें अद्वैत की कल्पना का अभाव रहता है। इसलिए ये धर्मोपदेश को प्रतिध्वनि रूप तथा समाधिजन्य धर्म को चन्द्र बिम्ब के सदृश मानते हैं। यह वस्तुओं की निःस्वभावता को ही परमार्थ मानते हैं। इनका कथन है कि परमार्थभावना के चिन्तन मात्र से मुक्ति सम्भव नहीं है। इसके लिए ग्राह्य ग्राहक भावना का त्याग आवश्यक है। यही भावना चित्त में विज्ञप्ति मात्रता को स्थिर करती है जो विमुक्त काय, धर्मकाय कही जाती है। अतः मोक्ष परमार्थ चिन्तन से भी विमुक्त है।

इनके अनुसार ज्ञान स्वप्रकाश के साथ-साथ अन्य को भी प्रकाशित करता है। प्रमाण, प्रमेय, प्रमाणफलरुप, विज्ञप्ति आलम्बन तथा इन दोनों का आश्रय अभिन्न विज्ञान के द्वारा प्रतिभाषित होते हैं। विषयों के अभाव में व्यवहार सामर्थ्य की दृष्टि से ज्ञान-ज्ञेय का भेद देखा जाता है। परमार्थिक दृष्टि से इनमें अभिन्नता होते हुए भी प्रमाण, प्रमेय की द्वैत ग्रस्त व्यवस्था व्यवहार के अधीन होती है। अर्थात् प्रमाण, प्रमेय का द्वैत व्यवहारिक है। परमार्थिक दृष्टि से इनमें भेद नहीं होता है।

इन्हीं विज्ञानवादी विचारों को जैनाचार्यों ने वाह्य वस्तुओं का व्यवहारिक अभाव समझ खंडन किया है। जबकि विज्ञानवादी परमार्थक रूप से वस्तुओं का निषेध करते हैं। जैनाचार्यो ने ज्ञान की भांति ज्ञेय की सत्ता को उचित बताया है। इनके अनुसार वाह्य वस्तुओं के अभाव को किसी भी प्रमाण द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। यदि विज्ञानवादी किसी प्रमाण के द्वारा वाह्य सत्ता को अप्रमाणित करते हैं, तो उसमें

प्रमाण, प्रमेय की व्यवस्था बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को सिद्ध कर देगी। विज्ञान के स्वंसवेद होने एवं बाह्य वस्तुओं के स्वंसवेद न होने के कारण वह चित्त की विषय नहीं होगी। इसलिए उसका चित्त से अलग अस्तित्व रहेगा। यदि विज्ञानवादी स्वानुभूति के आधार पर बाह्य वस्तुओं को अंतरंग मानतें हैं तो यह संभव नहीं है, क्योंकि ज्ञान की अनुभूति पदार्थों के ग्रहण करने के रूप में होती है। इनके ग्राह्य-ग्राहक की एकात्मकता मानने पर ज्ञेय ज्ञान एक हो जायगा। जैनाचार्यों ने ज्ञान के स्वप्रकाशन की व्याख्या करते हुए कहा है कि यदि यह आपत्ति उचित है, अतएव विज्ञानवादी के अनुसार व्यावहारिक सत्ता स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु परमार्थिक दृष्टि से व्यावहारिक सत्ता का अस्तित्व नहीं है। प्रकाशन को अकर्मक क्रिया माना जाय तो वह अपना स्वरुप नहीं बतला सकता है। अपने स्वरुप को बताने के लिए दूसरी वस्तुओं पर आधारित होना होगा। इस स्थिति में बाह्य की सत्ता माननी पड़ेगी और साथ ही विज्ञान-वादियों के मत का खंडन हो जाता है। जैन पुनः यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि परमाणुओं का अभाव भी सिद्ध नहीं किया जा सकता है क्योंकि वह छः दिशाओं में अन्य परमाणुओं से संयुक्त होकर पदार्थों का निर्माण करता है।

इसके उत्तर में बसुबन्धु कहते हैं कि विज्ञान वादियों ने मनोदोषों से मुक्त चित्त को मोक्ष माना है। इसलिए मन में दोष उत्पन्न करने वाले की सत्ता माननी पड़ेगी। तभी मोक्ष को संभव माना जा सकता है। किन्तु दोषमुक्त से यह तात्पर्य नष्ट दोष की सत्ता कैसे रहेगी? अन्यथा मोक्ष की व्यवस्था व्यर्थ है। बाह्य वस्तुओं के अभाव में विज्ञानवादियों की प्रतिज्ञा एवं हेतु की भी व्यवस्था नहीं बनती है, क्योंकि साध्य-युक्त वचन प्रतिज्ञा एवं साधन रूप हेतु मानने पर बाह्यार्थ की सिद्धि होती है। शायद इसी कारण विज्ञानवादी व्यावहारिक सत्ता स्वीकार कर लेते हैं।

इस प्रकार जैनाचार्यों ने बाह्य सत्ता को सिद्ध करने का अथक परिश्रम करते हुए विज्ञानवादियों के विज्ञान को एकान्तिक बतलाया। विज्ञानवादियों के व्यावहारिक एवं परमार्थिक दो रूप से जगत् की वस्तुओं की व्याख्या उपर्युक्त सभी तार्कों को निस्सार कर दिया है। इन्होंने व्यावहारिक पक्ष से समस्त बाह्य वस्तुओं एवं आध्यात्मिक वस्तुओं को स्वीकार करते हुए उन्हें स्वप्नमय एवं मायामय माना है।

अतः स्पष्ट है कि व्यावहारिक दृष्टि से विज्ञानवादी भी वाह्य वस्तुओं को मानते हैं। परन्तु जैनाचार्य उन्हें नित्य स्थाई मानते हैं जबकि बौद्ध उन्हें स्वप्नवत् स्वीकार करते हैं। किन्तु जैनाचार्यों ने विज्ञानवादियों के सत्ता निषेध का व्यवहारिक अर्थ ही ग्रहण कर उनका खंडन किया। वास्तव में विज्ञानवादी बाह्यसत्ता का निषेध परमार्थिक दृष्टि से करते हैं।

छठा अध्याय

जैन साहित्य में प्रतिबिम्बित बौद्ध शून्यवाद

शून्यवादी वस्तुओं को अस्तित्व नास्तित्व, उत्पत्ति विनाश से परे निःस्वभाव लक्षण वाला मानते हैं। ये वस्तुजों के निःस्वाभावता को निर्वाण प्रदायनी मानते हैं। इस शून्य लक्षण को प्रज्ञापारमिता भी कहा जाता है।[1] शून्यता को नित्य शाश्वत व उच्छेद से वर्जित कहा है। यह संसार माया व स्वप्न के तुल्य है। इस शून्यता का अर्थ कर्मों का विनाश नहीं है।[2] यह अदवय लक्षण तथा नास्तिः आस्ति के वर्जन से परे है।[3] यह सर्व भावों अभावों से परे सत् असत् वचन एवं शून्यता अशून्यता से परे लक्षण वाला है।[4] यह शून्य अनुत्पन्न एवं निःस्वभाव है।[5]

प्रज्ञापारमिता सूत्रों में शाश्वत एवं उच्छेद के मध्य जिस प्रतीत्य समुत्पाद का प्रतिपादन हुआ उसी को विकसित कर नागार्जुन ने शून्यवाद को प्रतिष्टि किया।[6] नागार्जुन[7] ने इसके प्रतिष्ठापन के लिए विग्रव्यावर्तनी एवं माध्यमिक कारिका की रचना

---

[1] लंकावतार, 2/62:
"उत्पादमथ नोत्पादं निर्वार्ण शून्यलक्षणम्।
संक्रान्तिमस्वभावत्वं बुद्धाः पारमिता सुताः।।"

[2] वही, 2/135:
देशेभि शून्यतां नित्यं शाश्वतोच्छेदवर्जितामे।
संसारं स्वप्नमायाख्यं न च कर्म विनश्यति ॥"

[3] वही, 2/136
आकाशमथ निर्वाण विरोधं क्ष्णमेव च।
बालाः कल्पेन्त्यकृतकानार्या नास्त्यस्ति वर्जिताव।।"

[4] वहीं, 2/143:
सर्वभावोअस्वभावो हि सद्दवचनं तथाप्यसत्।
शून्यताशून्यतार्थं वा बालोअपश्यन् विधावति।।"

[5] वही, 3/88:
अनुत्पन्न स्वभावाश्च शून्याः केन वदामि मे।
समवायादिवनिर्मुलो बुद्धया भावो न गृह्यते।
तत्माच्छून्यमनुत्पन्नं निःस्वभावं वदाभ्यहम्।।

[6] माध्यमिक कारिका, वंदनाः
अनिरोधमनुत्पाद मनुच्छेदमशाश्वतम्।
अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम्।।
यः प्रतीत्य समुत्पादं प्रपचोप शमं शिवम्।
देशयामास तम्बु। स्तं बन्दै वततांवरम्।।

[7] लंकावतार 10/165,:

की। विग्रह व्यावर्तनी में शून्यवाद पर किए जा सकने वाले आक्षेपों को प्रस्तुत कर उसका उत्तर दिया गया है। माध्यमिक कारिका में समस्त वस्तु को निरपेक्ष न होने के कारण उन्हें मिथ्या कहा गया है। इसमें नागार्जुन ने 27 प्रकरण लिखे हैं जिनमें प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा जगत के अस्तित्व का निषेध किया गया है। इसमें कहा गया है कि जगत के जितने क्रिया-कलाप हैं सभी सापेक्ष हैं। इसलिए उनकी वास्तविकता स्वीकार नहीं की जा सकती है।

माध्यमिक कारिका में वर्णित सभी की समीक्षा करना विशेषतर होगा। अतः माध्यमिक ग्रंथों के आधार पर इनका संक्षिप्त वर्णन किया जायेगा, जिससे जैनियों द्वारा किए गए आक्षेपों की तुलना संभव हो सके।

सत्ता परीक्षा:

माध्यमिक आचार्य योगाचार्य वादियों के चित्त की सत्ता नहीं मानते हैं। क्योंकि इनको प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता है। इनका कथन है कि समस्त जगत स्वभाव शून्य है। इस स्थिति में चित्त को अस्तित्व का ज्ञान हमें नहीं हो सकता है। यदि चित्त्त को स्वयं द्दष्टा माना जाये तो यह संभव नहीं है, क्योंकि बुद्ध ने स्वयं कहा है कि चित्त चित्त को नहीं देख सकता है। इनका कथन है कि जिस प्रकार अतितेज धारवाली तलवार भी अपने को काटने में असमर्थ रहती है, वैसे ही चित्त, चित्त को नहीं देख सकता है।[1] इसलिए ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय अलग अलग होना चाहिए, क्योंकि ज्ञेय की अनुपस्थिति में ज्ञाता के सम्मुख प्रश्न उपस्थित हो जायगा की वह किसका ज्ञान प्राप्त करें। इस स्थिति में यदि माना जाय कि ज्ञाता स्वयं ज्ञेय के रूप में अपना ज्ञान प्राप्त करता है तो ज्ञान व ज्ञेय का अस्तित्व व्यर्थ हो जायगा। ज्ञाता अपना ज्ञान स्वयं नहीं कर सकता है। इससे स्पष्ट है कि व्यवहार के लिए ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान का पृथक पृथक होना आवश्यक है। माध्यमिक का कथन है कि आलम्बन के आधार पर ही चित्त उत्पन्न

दक्षिणापथवेदल्यां भिक्षुः श्रीमान् महायशाः।
नागादवपः स नाम्ना तु सदसत्पक्षदारकः।।"

[1] बोधिचर्यावतार, 9/17:
"उक्तं च लोकनाथेन चित्तं चित्तं न पश्यति।
नच्छिनत्ति यथाअत्मानमति धारा तथा मनः।।"

होता है।[1] इसलिए इसकी दो अवस्थायें हो सकती हैं। प्रथम अवस्था में आलम्बन को चित्त से भिन्न माना जाय, तो विज्ञानवाद का खण्डन हो जाता है, क्योंकि आलम्बन एवं चित्त के भिन्न भिन्न होने पर दो चित्त की उपस्थिति होने की संभावना हो जायेगी। दूसरी अवस्था में आलम्बन को चित्त से अभिन्न माने, यह असंभव है। क्योंकि उसी तलवार से वही तलवार नहीं काटी जा सकती। इस पर तर्क किया जा सकता है कि जिस प्रकार दीपक अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करते हुए स्वयं को प्रकाशित करता है वैसे ही चित्त भी अन्य वस्तुओं का ज्ञान करते हुए स्वयं का ज्ञान कर सकता है। इस स्थिति में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार प्रकाश पहले से उपस्थित वस्तु को ही उसका प्रकाशन (ज्ञान) हो सकता है।[2] वस्तुतः कोई वस्तु प्रकाशित होती है, तो उसके प्रकाशन का ज्ञान उसे न हो, अन्य को होता है। जिसको इस प्रकाशन का ज्ञान होता है वही बुद्धि है, परन्तु चित्त प्रकाशित होता है इसका ज्ञान स्वयं चित्त को नहीं होगा। यदि इसका ज्ञान किसी को हो तो निश्चय ही कहा जा सकता है कि बुद्धि प्रकाशित होती है। वस्तुतः इसका द्दष्टा न होने के कारण बन्ध्या स्त्री के पुत्री की लीला के समान विज्ञान वादियों द्वारा वर्णित चित्त की व्याख्या नहीं मानी जा सकती है। इसलिए जगत् के समस्त पदार्थों के समान चित्त को भी निःस्वभाव मानना युक्ति संगत है।[3]

कारणवाद

कार्यकारण सिद्धान्त के खण्डन को प्रतिपादित करते हुए शून्यवादियों ने घट का उदाहरण देते हुए कहा है[4] कि कार्य किसी कारण से होता है। बिना कारण के कार्य का सम्पादन नहीं होता है तथा कोई ऐसा कारण भी नहीं है, जिसका कार्य न हो। अतः

---

1 शान्तिदेव, बोधिचर्यावतार, पृ0 392-393:

2 वही, 9/18:
"आत्मभावं यथा दीपः संप्रकाशयतीति चेत्।
नैद प्रकाश्यते दीयो यस्मान्न तमसावृत्तः।।"

3 शान्तिदेव, बोधिवर्यावतार, 9/23:
प्रकाशावाप्रकाशा वायदा द्दष्टा न केन चित्।
बन्ध्यादुहितृलीलेब कथ्यमानापि सा मुधा।।

4 चतुः शतक श्लोक 338:
घटः कारणतः सिंद्धिः सिद्धं कारणमेन्यतः।
सिद्धर्यस्य स्वतो नास्ति तद यक्जनयेत्कथम।।

कहा जासकता है कि जिस प्रकार कार्य के बिना कारण का कोई अर्थ नहीं है, उसी प्रकार कारण के बिना कार्य का कोई अर्थ नहीं हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि कार्यकारण की कल्पना सापेक्षिक होने के कारण असत्य है। जब किसी वस्तु की व्याख्या अन्य वस्तु पर आधारित होती है तो उस आपेक्षिक कारण के हट जाने पर उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती है। उदाहरणार्थ सूर्य दिन का कारण है। उसकी अनुपस्थिति में दिन नहीं रहेगा।

उत्पत्ति विनाशः

नागार्जुन का कथन है[1] कि पदार्थ की उत्पत्ति न तो स्वतः होती है और न दूसरे के सहयोग से ही होती है। इतना ही नहीं पदार्थ की उत्पत्ति स्वतः परतः दोनों दूसरे के संयुक्त रूप से भी नहीं हो सकती है। इस पर प्रश्न उठ सकता है कि क्या पदार्थ की उत्पत्ति बिना कारण के होती है? तो यह भी संभव नहीं है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पदार्थ की उत्पत्ति उक्त चारों प्रकार से नहीं हो सकती है। उत्पत्ति के इन प्रकारों के अतिरिक्त कोई अन्य प्रकार नहीं होता है, जिससे वस्तु की उत्पत्ति मानी जा सके। किसी वस्तु के उत्पन्न न होने पर उसका विनाश भी नहीं होगा। यदि विनाश तथा उत्पाद संसार में होते तो एक साथ रहते। अथवा एक अनुपस्थिति में रहते। परन्तु जन्म के न होने पर मरण के समान उत्पाद की अनुपस्थिति में विनाश भी असंभव है।[2] अर्थात् विभव संभव के बिना असंभव है। वस्तुतः उत्पाद के साथ विनाश विरोधी गुण वाला होने के कारण नहीं रह सकता है। क्योंकि जिस प्रकार एक ही क्षण में जन्म एवं मरण संभव नहीं है, उसी प्रकार उत्पत्ति विनाश रूपी विरोधी धर्म पदार्थों में एक ही समय नहीं रह सकते हैं।[3]

---

1 माध्यमिक कारिका: 2/17:
न स्वतो नापिपरतो न दवाभ्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावा क्वचन केचन।।

2 माध्यमिक कारिका, 21/2:
भविष्यन्ति कथं नाम विभवः सम्भवं बिना।
विनैव जन्ममरणं विभवो नोदभवं बिना।।

3 माध्यमिक कारिका, 21/3:
सम्भवेनैव विभवः कथं सह भविष्यति,
न जन्म मरणं चैव तुल्य कालंहि विद्यते !!"

इससे स्पष्ट है कि संभव-विभव एक साथ अथवा एक दूसरे की अनुपस्थिति में नहीं रह सकते हैं। इसके अतिरिक्त पदार्थों की कोई अन्य स्थिति नहीं होती है। इसलिए पदार्थों के उत्पत्ति विनाश की कल्पना प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं की जा सकती है।

परिणाम (परिवर्तन):

नागार्जुन के मत से किसी वस्तु का कोई परिणाम सिद्ध नहीं होता है। इन्होंने इसकी समीक्षा करते हुए कहा है कि युवक का वृद्ध होना तथा दुग्ध का दही होना सर्वविदित है। परन्तु यह बात उचित नहीं मानी जा सकती है। वस्तुतः युवा वृद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि यौवन एवं वृद्धता दोनों विरोधी धर्म एक साथ नहीं रह सकते हैं। कोई पुरुष यौवन के कारण ही युवा है, इस स्थिति में अर्थात् यौवन गुण के रहते हुए वह वृद्ध नहीं हो सकता है। वृद्ध को वृद्ध कहना एक निरर्थक वाक्य है।[1] इसी प्रकार दुग्ध का दधित्व में परिणयन भी संभव नहीं है, क्योंकि दुग्धावस्था को छोड़कर दध्यावस्था का धारण करना ही दूध का दही में परिवर्तन कहलाता है। इस स्थिति में जब दूध अपने दुग्धावस्था छोड़ देता है, तो उसे कैसे कहा जा सकता है कि दूध दही बनता है। जब दुग्ध है, तब दधी भाव नहीं हो सकता है। यदि यह माना जाय तो कोई भी पदार्थ, जो उससे संबंधित नहीं है, दधि बन सकता है।[2] अतः यह कहा जा सकता है कि वस्तुओं का कोई अपना स्वभाव नहीं होता। जो परिवर्तित हो। ऐसी अवस्था में परिवर्तन की कल्पना नहीं की जा सकती है। अतः कहा जा सकता है कि कार्यकारण, उत्पाद-विनाश परिवर्तन आदि परस्पर सम्बद्ध धारणाएँ अवास्तविक हैं।

इसी तर्क प्रणाली का अनुसरण करते हुए शान्तिदेव ने संसार को अनुत्पन्न तथा अविनष्ट सिद्ध किया है।[3] उन्होंने इस संदर्भ में जगत की दो प्रकार से व्याख्या

---

[1] माध्यमिक कारिका, 13/5:
तस्यैव नान्यथाभावो नाप्यन्य स्यैव युज्यते।
युवा न जीयते यत्मात् यस्माद जीर्णों न जीयते।।

[2] माध्यमिक कारिका, 13/6:
तस्यचेदन्यथाभावः क्षीरमेव भवेद दधि।
क्षीरादन्यस्य कस्यचिंद दधि भावो भविष्यति।।

[3] बोधिचर्यावतार, 9/150:

प्रस्तुत की है। प्रथम जगत की सत्ता पहले से विद्यमान है अथवा कारणजन्य है। यदि जगत् का भाव पहले से है तो उसे सिद्ध करने के लिए किसी हेतु की आवश्यकता नहीं है तथा यदि जगत् अभाव हो तो भी हेतु का आश्रय व्यर्थ है, क्योंकि अविद्यमान वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इस स्थिति में उसका विनाश भी नहीं होगा अतः कहा जा सकता है कि यह जगत् उत्पन्न एवं विनष्ट नहीं होता है।

स्वभाव परीक्षा:

वस्तुतः सांसारिक वस्तुओं के उत्पन्न होने का कोई न कोई कारण होता है, इसलिए उसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि उसके उत्पत्ति का कारण हटा देने पर उसकी उत्पत्ति उसी प्रकार नहीं होगी जैसे बीज से उसके अंकुरित होने का कारण खाद, पानी, हवा एवं मृदा का स्पर्श न होने से वह अंकुरित नहीं होता है। ऐसी स्थिति में जगत् की वस्तुओं को प्रतिबिम्बित के समान मानना चाहिए।[1] इस संदर्भ में नागार्जुन ने कहा है कि जिसकी उत्पत्ति कारण से होती है, उसकी स्थिति बिना कारण के नहीं होती तथा जो कारण के अभाव में नष्ट हो जाता है उसकी विद्यमानता नहीं मानी जा सकती है।[2] इसी की पुष्टि करते हुए शान्तिदेव ने कहा है कि जो वस्तु अन्य पर अवलम्बित है, उसकी सत्ता प्रतिबिम्ब के समान मानी जा सकती है। अर्थात् वह वस्तु सत्य नहीं मानी जा सकती है।[3] अतः जगत् की समस्त वस्तुओं की अवस्थाएँ दूसरे पर आधारित होने के कारण असत्य हैं। इसलिए जगत् के पदार्थों को सत्य नहीं माना जा सकता है।

---

[1] माध्यमिक वृत्ति, पृ0 413:
हेतुतः संभवो येषां तदभावान्त सत्तिते।
कथं नाम न ते स्पष्ट प्रतिबिम्बिसमा मता।।

[2] युलिषष्टिक:
हेतुतः सम्भवो यत्य स्थितिर्न प्रत्ययैनिर्ना।
विगमः प्रत्ययाभावात् सोअस्तीत्त्यवग्रतः कथम्।।
उघृत बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ0 279:

[3] उपाध्याय बलदेव, बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ0 279-80:

किसी वस्तु के स्वभाव से तात्पर्य उस वस्तु के उस स्वरूप से है जो अन्य द्वारा प्रदत्त न हो। अर्थात् जिसकी उत्पत्ति का कोई कारण न हो।[1] उदाहरणार्थ यदि कहा जाय, उष्णता अग्नि का स्वभाव है, तो लौह के लिए यह कृत्रिम हो जायगा। क्योंकि उसका धर्म कठोरता है। इसी प्रकार पानी का धर्म तरलता है। यही समान रूप से वस्तुओं का स्वभाव माना जाता है। इस पर नागार्जुन का कथन है कि अग्नि की उष्णता भी कारण जन्य है। क्योंकि वह अरणी के संघर्षण, सूर्य एवं आतसी सीसे के संपर्क आदि से उत्पन्न होती है। अतः अग्नि की उष्णता को हेतु कारण जन्य होने पर भी उसे अग्नि का स्वभाव बताना बाल-बुद्धि (मूर्खो) के सदृश है।[2] इसका तात्पर्य यह है कि जिस भाँति स्वप्रतिबिम्ब को प्रेत समझ बालक भय करता है, परन्तु प्रौढ़ उसका महत्व नहीं देता है, इसी प्रकार अग्नि को उष्ण स्वभाव का मानना बाल सुलभ बुद्धि का प्रतीक है, जबकि प्रज्ञ जन इसे नहीं मान सकते हैं। इसलिए कहा जा सकता है कि जब वस्तुओं में स्वभाव का अभाव है, तो निश्चय ही पर भाव का अभाव होगा। अर्थात् स्वभाव एवं परभाव के अभाव में भाव एवं अभाव की भी सत्ता नहीं मानी जा सकती है। अतः इसकी कल्पना करने वाले परमार्थज्ञान से बंचित हैं।[3]

संसर्ग विचार

नागार्जुन का कथन है कि संसार को सम्बन्धों का समुच्चय मानकर उस पर विचार करने पर यह संसर्ग भी असत्य प्रतीत होता है। वस्तुतः किन्हीं वस्तुओं का ज्ञान हमें उन वस्तुओं, उससे सम्बन्धित इन्द्रियों के सम्पर्क से ही संभव है, परन्तु यह उचित नहीं है। संसर्ग उन वस्तुओं में होता है जो भिन्न हो।[4] उदाहरण स्वरूप मृदा का घड़े से

---

1 माध्यमिक कारिका, 15/2:
अकृत्रिमः स्वभावोः हि निरपेक्ष परत्रच पर टीका, इह स्वो भावः स्वभावः इतियस्य प्रसन्नपदा पदार्थस्य यदात्मीयं रूप तत्तस्य। स्वभावः व्ययदिश्यते। किंच कस्यात्मीयं यदयत्य अकृत्रिमम्।।

2 माध्यमिक वृत्ति पृ0 260:

3 माध्यमिक कारिका, 15/6:
स्वभावं परभावं च भावं चाभावमेवच।
ये पश्चन्ति न पश्यन्ति ते तत्त्वं बुद्धशासने।।

4 माध्यमिक कारिका, 14/5:
अन्यदन्यत् प्रतीत्यान्यन्नन्यदन्यूहतेअन्यतः

सम्बन्ध तभी प्रमाणित माना जायगा जब दोनों भिन्न हों परन्तु वे भिन्न नहीं हैं। वस्तुतः मृदा की अपेक्षा घट एवं घट की अपेक्षा मृदा पृथक प्रतीत होती है। परन्तु वास्तव में दोनों एक हैं, क्योंकि यह सर्वमान्य नियम है जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है, वह उससे पृथक नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ बीज से अंकुर पृथक नहीं हो सकती, क्योंकि बीज के कारण अंकुर की उत्पत्ति होती है, इसलिए अंकुर बीज से भिन्न नहीं हो सकता है। अतः इन दोनों में संसर्ग नहीं हो सकता है, क्योंकि संसर्ग का यही स्वभाव है वह परस्पर भिन्न-भिन्न वस्तुओं में होता है। इस प्रकार संसर्ग की कल्पना के असिद्ध हो जाने पर जगत का अस्तित्व स्वतः असिद्ध हो जाता है।[1]

गति परीक्षा

सामान्यतः गमन क्रिया के लिए कहा जाता है कि कोई व्यक्ति अमुक स्थान से चल कर अन्य स्थान पर पहुँचता है। नागार्जुन का कथन है कि इस पर विचार करने पर यह वास्तविक प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि कोई व्यक्ति एक समय में दोनों स्थानों पर नहीं रह सकता है। वस्तुतः जो मार्ग गमन के द्वारा गमित किया गया है उसे गम्यते अर्थात् पार किया जा रहा है, नहीं कह सकते हैं। वास्तव में गन्तव्य मार्ग को दो तरह से इंगित किया जा सकता है। प्रथम जो पार किया जा चुका है, दूसरा वह जो अभी पार करना बाकी है। इसके अतिरिक्त मार्ग की कोई अन्य स्थिति नहीं हो सकती है। चूँकि गम्यते वर्तमान कालिक क्रिया है, तथा मार्ग की स्थिति भूतकालिक एवं भविष्यत्कालीन है। इसलिए इसका उपयोग वर्तमान काल की क्रिया के साथ नहीं किया जा सकता है। अतः गमन क्रिया की अनुपस्थिति में उसके कर्ता की भी अनुपस्थित स्वयं सिद्ध हो जायेगी।[2] गमन के समान स्थिर को भी सिद्ध नहीं किया जा सकता है। इसकी भी दो अवस्थाएँ हो सकती हैं। प्रथम यह गमन कर्ता के विषय में कहा जा सकता है अथवा अगमन कर्ता के। गमन करता स्थिर

यत्प्रतीत्य च यत् तस्मात्तदन्यन्नोष पदयते।।

[1] वहीं, 18/10:
प्रतीत्य यद्यद् भवति नहि तावत्तदेवतत्।
न चान्यदषि तत् तस्मान्तोच्छिन्न नापिशाश्वतम्।।"

[2] माध्यमिक कारिका, 2/1:
गतं नः गम्यते तावदंगतं नैव गम्यते।
गतागत विनिर्मुक्त गभ्यमानं न गभ्यते।।

होता है, यह नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि गमन व स्थिर दोनों विरोधी गुण हैं जो, एक साथ नहीं रह सकते हैं। अतः गमन कर्ता खड़ा नहीं रह सकता है, तो कहा जा सकता है कि जब वह चलता ही नहीं तो उसके खड़ा होने का अर्थ ही व्यर्थ है, क्योंकि वह तो स्थिर ही है। अतः अगन्ता के विषय में भी इस स्थिति का प्रयोग नहीं किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त गमन कर्ता की कोई अन्य अवस्था नहीं हो सकती है। इस प्रकार कर्ता के अभाव में क्रिया भी अवरुद्ध हो जायगी। इसलिए गति एवं स्थिर एक दूसरे पर अवलम्बित होने के कारण अविद्यमान हैं।[1]

काल परीक्षा:

नागार्जुन ने काल की परीक्षा की समीक्षा करते हुए कहा है कि मुख्यतः व्यवहारिक रूप से काल की तीन अवस्था होती है।[2] भूत, वर्तमान एवं भविष्यत्। हम भूत को जानते नहीं हैं, भविष्य अभी अपने वाला है, रही बात वर्तमान की तो यह भूत एवं भविष्यत् पर अवलम्बित है। वस्तुतः वर्तमान वह है जो भूत अथवा भविष्यत् न हो, इसलिए वर्तमान कारण जन्य हो जाता है। इस स्थिति में वर्तमान को सत्य नहीं माना जा सकता है। अतः काल की तीनों अवस्थाओं की कल्पना की सत्यता में विश्वास नहीं किया जा सकता है।

आत्म परीक्षा

बौद्धों ने सामान्यतः आत्मा को पंचस्कंधों का संघात बताया है। परन्तु नागार्जुन के अनुसार यह उचित नहीं है, क्योंकि स्कंध उत्पन्न एवं विनष्ट होता है। इससे आत्मा भी उत्पन्न एवं विनष्ट हो जाती है। स्कंध उपादान है इसलिए आत्मा उपादात्म होगी। उपादान व उपादाता अर्थात् ग्राह्य-ग्राहक कभी एक नहीं हो सकते हैं। अतः आत्मा को कभी स्कंध नहीं माना जा सकता है।[3] यदि उसे स्कंध से पृथक मानें, तो वह

---

[1] माध्यमिक कारिका, 2/2:
गन्ता न तिष्ठति तावदगन्ता नैवतिष्ठति
अन्यो गन्तुरगन्तुश्चं कस्तृतीयोअथतिष्ठति।

[2] वही, 19/13:

[3] वही, 27/6:
न चोपादानमेवात्मा व्येतितत् समुदेति च।

स्कंध के द्वारा लक्षित नहीं होगी। इसलिए आत्मा को स्कंधों से भिन्न, अभिन्न नहीं माना जा सकता है।[1] आत्मा के असिद्ध होने पर उसको कर्ता मानना भी व्यर्थ है, क्योंकि जब उसकी उपस्थिति ही नहीं है, तो वह क्रिया नहीं कर सकेगा और कर्म की अनुपस्थिति में कर्ता का अभाव सुनिश्चित होगा।[2] अतः परस्पर आधारित होने के कारण क्रिया, कारक, कर्म किसी को भी सत्य नहीं स्वीकार किया जा सकता है। इसलिए कहा जा सकता है कि जब क्रिया ही असंभव है तब धर्माधर्म की विवेचना व्यर्थ है। इसी स्थिति में पाप-पुण्य तथा सुगति-दुर्गति का महत्व समाप्त हो जायेगा। इसलिए स्वर्ग व मोक्ष के लिए दिया गया उपदेश व्यर्थ होगा।[3] इस स्थिति में उपदेशों के प्रति आस्था व्यर्थ है। इतना ही नहीं बौद्धों द्वारा वर्णित चत्वारार्यसत्य की कल्पना भी भ्रमपूर्ण हो जायगी। अतः आत्मा की मान्यता को स्वीकार नहीं किया जा सकता है।[4]

शून्य का लक्षण:

बौद्ध आचार्यों ने शून्य को सत्, असत्, उभय एवं अउभय रूप चतुष्कोटियो से विमुक्त माना है।[5] इनके अनुसार शून्य को शब्द द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता है। यह मनोगमा भी ही है।[6] इसकी व्याख्या करते हुए नागार्जुन ने कहा है कि जगत के

कथं हि नामोपादानमुपादाता भविष्यति।।

[1] माध्यमिक कारिका, 18/1,
आत्मा स्कंधायंदि भवेदुदय व्ययभाग्भवेत्।
स्कन्धेभ्योअयो यदि भवेद भवेद् स्कंधाक्षणः।।

[2] वहीं, 18/2:
सदभूतस्य क्रियान्तत्ति कर्म चस्याद कर्तृकम् !!"

[3] उपाध्याय बलदेव, बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ0 287, 3 घृत,
धर्मोधर्मो नविदयते क्रियादीनाम सम्भवे।
धर्मे चासत्य धर्मे च फलं तज्जं न विद्यते।।"

[4] माध्यमिक कारिका, 18/6,:
आत्मेत्यपि प्रज्ञप्तिमनात्मेत्यपि देशितम्।
बुद्धैर्नात्मा न चानात्मा कश्चिदित्यपिदेशितम्।।

[5] माध्यमिक कारिका, 1/7:
न सनं नासन् न सदसन् चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटि विनिर्मुलं तत्वं माध्यमकाविदुः ॥

[6] वहीं, 18/7:

समस्त पदार्थ न तो एकान्तिक सत्य हैं, न असत हैं, बल्कि दोनों के मध्य स्थित हैं। यही स्थिति शून्य रूप में जानी जाती है।[1] अतः शून्य को निरपेक्ष मानना ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है। इसको अभाव सूचक नहीं कहा जा सकता है। शून्यता अपर प्रत्यय, शान्त, स्वभाव रहित, प्रपंचों के द्वारा प्रपंचित न होने वाली, निर्विकल्प एवं नाना अर्थों से विहीन है।[2] इसलिए कहा जा सकता है कि हेतु प्रत्ययों से उत्पन्न वस्तु सचमुच उत्पन्न नहीं होती है। प्रत्यय के आधीन होने के कारण ही जगत की समस्त वस्तुओं को शून्य कहा गया है। इस बात के जानकार ज्ञानी मोह रहित रहते हैं, परन्तु इससे अनभिज्ञ व्यक्ति माया, मोह एवं भ्रान्ति से हमेशा भ्रमित रहते हैं।[3]

शून्यवादी वस्तु के अकृत्रिम रूप को परमार्थ मानते हैं। इनके अनुसार यही भावना मायाजन्य दुःखों का निवारण करती है। इसे ही धर्म नैरात्म्य कहा गया है। इसीलिए सभी भूतों (पदार्थों) को निःस्वभाव कहा गया है। वस्तुओं के इस निःस्वभावता को ही शून्यता, तथता, भूतकोटि, धर्मधातु आदि संज्ञाओं से विभूषित किया गया है। अतः सभी पदार्थों को प्रतीत्य समुत्पन्न होने से उन्हें निःस्वभाव कहा गया है। इसी निःस्वभावता को परमार्थिक रूप भी कहा गया है।[4] आर्यदेव इसी को निर्वाण मानते हैं।[5] यह समस्त व्यवहारों से अतीत, निर्विशेष, अत्समुत्पन्न, अनिरुद्ध अभिधेय,

---

निवृत्तमभिधातव्यं निवृत्तै चित गोचरे।
अनुत्पन्ना निरुद्धा हि निर्वाण मिव धर्मता।।

[1] समाधिराज सूत्र, उद्धृत बौद्धदर्शन मीमांसा, पृ0 300:
अस्तीति नास्तीति उभयेअपि अन्ताशुद्धी अशुद्धिति उभयेअषिअन्ता। तस्यादु में अन्तविवर्जयित्वा, मध्ये हि स्थानं प्रकरोति पण्डितः।।

[2] माध्यमिक कारिका, 18/9:
अपर प्रत्ययं शान्तं प्रपन्चैरप्रेपन्चितम्।
निर्विकल्पमनानार्थ मेतत् तत्वस्य कक्षणम्।।

[3] माध्यमिक वृत्ति, पृ0 239:"
यः प्रत्ययैर्जीवति सहयंदातो नोतस्य उत्पादुसभावतोअस्ती।
यः प्रत्यायाधीनु स शून्य उक्तो यः शून्यतोजानतिसोअप्रमन्तः।।

[4] बोधिचर्यावतार, पंज्जिका, पृ0 354:

[5] चतुः शतक, 2/13:
"धर्म समासतोअहिंसा वर्णयन्ति तथागताः।
शून्यतामेव निर्वाणं केवलं तदि हो भयम्।।

अभिधान से रहित तथा ज्ञेय ज्ञान से मुक्त कहा गया है।[1] यह शब्दातीत होने के कारण उपदेशातीत है।[2] इस परमार्थ सत्य को अनभिलाप्य, अनाज्ञेय, अपरिज्ञेय, अविज्ञेय, अदेशित, अप्रकाशित, अक्रिय, अकारण भी माना गया है।[3] यह लाभ, हानि, सुख, दुख, यश, अपयश तथा रूप, अरुप से परे है। इस परमार्थ सत्य का वर्णन प्रतिषेधात्मक रूप से ही किया जा सकता है।[4]

इसीलिए इस पर अव्यवहारिकता का आक्षेप लगाया गया है, परन्तु इसका निराकरण करते हुए नागार्जुन का कथन है कि व्यवहार का आश्रय लिए बिना परमार्थ का वर्णन अशक्य है तथा परमार्थ की प्राप्ति के बिना निर्वाण असंभव है। वस्तुतः सामान्य लोग व्यवहारिकता में निमग्न होने के कारण व्यवहारिक सकेतों को ही जान सकते हैं। इसलिए उसी का उपयोग करके उनको परमसत्य (शून्य) का उपदेश दिया जा सकता है।[5]

उपर्युक्त वर्णित शून्यवाद को प्रतिपादित करते हुए जैन आचार्यों ने कहा है कि माध्यमिक स्वस्थ्य बुद्धि की ही सत्ता स्वीकार करते हैं।[6] यह जगत बाह्य एवं आन्तरिक विकारों से युक्त होने के कारण अविद्याजन्य है। अविद्या से विमुक्त बुद्धि ही स्वस्थ्य बुद्धि है। इसलिए ग्राह्य-ग्राह्यकाकार ज्ञान से रहित स्वस्थ्य बुद्धि को ही शून्य वादी श्रेष्ठ मानते हैं। प्रभाचन्द्र ने अपने ग्रंथ न्याय कमुद चन्द्र में इसकी व्याख्या प्रस्तुत करते हुए

---

1 बोधि चर्यावतार पं0 पृ0 366:

2 माध्यमिक कारिका, 18/6

3 बोधि चर्यावतार, पृ0 367

4 बोधिचर्यावतार, पृ0 367

5 माध्यमिक कारिका, 24/10:
व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।
परमार्थागमनागम्य निर्वाण नाधिगम्यते।।"

6 षड्दर्शन समुच्चय (राजशेखर), श्लोक, प्रमेयरत्नकोष 7, षड्दर्शन समुच्चय (हरि) लघुवृत्ति (हिन्दी), पृ0 72:
अर्थोज्ञान समन्वितो मतिमता वैभाषिकेणोच्यते।
प्रत्यक्षी नहि वाद्यवस्तुविसरः सौत्रान्तिकैराश्रितः।
योगोचार मतानुसारिमतिना साकार बुद्धि परं।
मन्यतेवतं मध्यमाः कृतः धियः स्वच्छां (स्वस्थांपरांसंविद्या)

कहा है कि पूर्व एवं उत्तरक्षण को न स्पर्श करने वाले निराकारज्ञान क्षण को मध्यम क्षण कहा जाता है। अतः ज्ञान को मध्यम क्षण में स्थित होने के कारण इन मतावलम्बियों को माध्यमिक कहा गया है। एक अन्य संभावना व्यक्त करते हुए प्रभाचन्द्र ने कहा है कि संभवतः इस संप्रदाय का संचालक मध्य नामधारी कोई अन्दय पुरुष रहा हो, इसी कारण इस सम्प्रदाय का नाम माध्यमिक पड़ गया हो।[1]

जैनाचार्यों द्वारा माध्यमिकों की बुद्धि सम्बन्धी बात ठीक होते हुए भी केवल उन्हीं की सत्ता मान अन्य का निषेध कर देना उचित नहीं है, क्योंकि बौद्ध अन्य बाह्य आदि की सत्ता को सापेक्ष होने से सत्य नहीं मानते हैं, परन्तु इनकी निरपेक्ष सत्ता स्वीकार करते हैं जैनों द्वारा माध्यमिकों को मध्यमक्षण की सत्ता स्वीकार करने के कारण उन्हें माध्यमिक मानना भी आपत्तिजनक है, क्योंकि ऐसा मानने पर वस्तुओं को स्थाई नित्य मानना पड़ेगा अथवा उनकी कम से कम तीन क्षण रहना पड़ेगा, जबकि बौद्ध वस्तुओं को क्षणिक मानते हैं। जैनियों द्वारा मध्यम नामक आय पुरुष को इस मत का प्रतिपादक मानना मन गढ़न्त प्रतीत होता है।

जैनाचार्यों ने पुदगल को स्कन्ध मात्र मानने वाले बौद्धों पर आदेश करते हुए कहा है कि ऐसा मानने पर पुरुष को स्कुंध मात्र मानना पड़ेगा।[2] स्कंध एवं पुदगल को शून्य मानने के कारण बुद्ध का यह उपदेश उचित नहीं है।[3] अतः बौद्धों का उपाय कौशल

---

[1] उधृत न्यायावतार संस्कृत टीकानुवाद (हिन्दी), पृ0 106, फुटनोट:

[2] एकविंशति दुवत्रिंशिका, 15/3:
संख्यादि भेदादन्यत्वं मवाच्चेन्योअन्य संकरः।
स्कंध पुद्गलयौयस्माद स्कंधमात्रागतः प्रभान्।।

[3] वहीं, 15/2:
अन्योअन्य विषमान पश्चन्पुद्गलस्कंध शून्यता।
न जानाति शमैकार्था बुढानां धर्म देशनाः।।

द्वारा स्कंधों को व्युच्छिन कर शून्य रुपी तत्व की प्रतिष्ठ करना प्रपंचित प्रतीत होता है।[1] इनका यह मत भ्रान्त प्रतीत होता है।[2]

नित्यानित्य का खण्डन भ्रान्ति मूलकः

जैनाचार्यों ने कहा है कि वस्तुओं को नित्यानित्य न मानते हुए उनका शून्यमत विचित्र प्रतीत होता है।[3] इनके अनुसार यदि बौद्ध अपने सिद्धान्त की पुष्टि में कहें कि उस वस्तु को नित्य कहते हैं, जिसमें स्थायित्व हो, लेकिन संसार की किसी वस्तु में स्थायित्व दृष्टिगत नहीं होता है। इसके अतिरिक्त जगत् की समस्त वस्तुएँ अन्योन्यासित होने के कारण हेतु जन्य हैं। इनका अस्तित्व एक दूसरे पर अवलम्बित रहता है। कारणजन्य होने के कारण सभी वस्तुएँ कारण की अनुपस्थिति में नहीं रह सकती हैं। अतः उनके अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। उदाहरणार्थ धूम का कारण अग्नि है, यदि अग्नि न हो तो धूम नहीं होगा। इसी प्रकार अन्य कारण जन्य वस्तुओं को नित्य नहीं माना जा सकता है। अतः इससे अर्थक्रिया (मोक्ष) की प्राप्ति नहीं हो सकती है। वस्तुओं को नित्य मानने से अविद्या उत्पन्न होती है। जिससे अर्थ क्रिया संभव नहीं है। इसलिए संसार की वस्तुओं को अनित्य मानने पर अर्थ क्रिया संभव है। परन्तु जैनों ने अपने इस सिद्धान्त में वस्तुओं को अनित्य भी नहीं माना है। जैनियों ने बौद्ध के इसी मत को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि वस्तुएँ नित्य इसलिए नहीं हैं, क्योंकि वह अकेले अथवा सामूहिक रूप से अर्थक्रिया में सहयोगी नहीं हो सकती हैं। साथ ही साथ वस्तुएँ जो अनित्य हैं, वह भी अर्थक्रिया में सहायक नहीं हो सकती हैं, क्योंकि उनकी उत्पत्ति एवं विनाश संभव नहीं है।[4] वस्तुतः अर्थक्रिया का सामान्य अर्थ किसी काम आ सकने

---

[1] वही, 15/11
सन्त्वोपचारौव्युछिनौ स्कंधाना पंच कल्पवत्।
शून्यता वा प्रतिष्ठत्वादेत देव प्रपंचितम्।।

[2] योगविन्दु, 466:
कुमारी सुत जन्मादि स्वप्न बुद्धि समोदिता।
भ्रान्ति सर्वेयमिति चेन्नतु सा धर्म एवही।।

[3] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 6/467: तुलना, माध्यमिक कारिका, 1/7

[4] वही, 6/468:
नित्यमर्थक्रिया भावात्क्रमाक्रम विरोधतः।

योग्य होता है, परन्तु इसका दार्शनिक अर्थ किसी कारण सामग्री का अंग बन सकना होता है। इसका प्रयोग वस्तुओं के कार्य कारण भाव में विश्वास रखने वाले करते हैं।

एक अनित्य वस्तु अपनी उत्पत्ति स्वयं नहीं कर सकती है, क्योंकि यह असंभव है। यदि अनित्य वस्तु को किसी वस्तु से उत्पन्न माना जाय, तो उसका अर्थ होगा कि वह वस्तु पहले से अपने उत्पादक वस्तु में उपस्थित थी। परन्तु यदि कोई वस्तु पहले से उपस्थित हो, तो उसका उत्पन्न होना कोई अर्थ नहीं रखता है तथा यदि वह वर्तमान नहीं है, तो उसका उत्पन्न किया जाना असंभव है। इस स्थिति में जगत् की किसी वस्तु को नित्य अनित्य नहीं कहा जा सकता है।

जैनियों ने बौद्धों के उक्त उत्पत्ति विनाश की मान्यता में भ्रान्ति श्रेष्ठ बुद्धि को ही कारण माना है। इन्होंने कुमारी को स्वप्न में पुत्र जन्म के ज्ञान के सदृश ही बौद्धों के उक्त ज्ञान को माना है।[1] अर्थात् कहा जा सकता है कि जिस प्रकार कुमारी कन्या को स्वप्न में पुत्र जन्मादि का आनंद प्राप्त होना भ्रान्तिमूलक है, उसी प्रकार शून्यवादियों द्वारा प्रस्तुत सांसारिक वस्तुओं की उत्पत्ति विनाश का निराकरण भ्रान्तिजन्य है। हरिभद्र ने उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि यदि कुमारी कन्या पुत्र जन्म सुख स्वप्न में पा सकती है तो इस जगत् में बन्ध्या पुत्र प्राप्ति का स्वप्न देखा जा सकता है।[2] अर्थात् जैनों के अनुसार बौद्धों का यह कथन है कि किसी वस्तु का उत्पाद एवं विनाश संभव नहीं है, तो वे भ्रम पूर्ण हैं। जैनियों ने बौद्धों के शून्यवाद का खंडन, नित्य अनित्य का खंडन करके किया है। उसे भान्ति पूर्ण बताया है। परन्तु बौद्धों ने नित्य का खंडन किया है और अनित्य का निराकरण नहीं किया है। इनके अनुसार वस्तुएँ अनित्य हैं। इनका अनित्य का अर्थ निःस्वभाव से है, सर्वदा अभाव से नहीं। लेकिन जैनियों ने इन्हें बौद्धों द्वारा खंडन करने की बात कही है, जो उनके भ्रान्ति बुद्धि को ही दिखाता है। वास्तव में शून्य वाद की

अनित्यमणि चोत्पादव्ययाभावान्नजातु चित्।।

[1] शास्त्रवार्ता समुच्चयः 6/469:
उत्पादव्य बुद्धिश्च भ्रान्तानन्दादि कारणम्
कुमार्याः स्वप्नवज्ज्ञेया पुत्र जन्मादि बुद्धिवत्।।

[2] योगविन्दु, 466:
कुमार्याः भाव एवेह यदेतेद्धषपद्यते।
बध्यापुत्रस्य लोके अस्मिन्न जातु स्वपदर्शनमाः।।

व्याख्या में वस्तुओं को सत् असत् सतासत् अथवा असतासव की विमुक्ति ही शून्य कहलाती है। परन्तु जैनियों ने उन्हें वस्तुजों के नित्यानित्य न होने के रूप में किया है।

प्रमाण का खंडन:

जैनाचार्य शून्यवादियों से प्रश्न करते हुए कहते हैं कि यदि शून्यवादी अपने सिद्धान्त के समर्थ में किसी प्रमाण को नहीं मानते हैं, तो वह अपने सिद्धान्त की पुष्टि नहीं कर सकते हैं। यदि शून्यवादी अपने सिद्धान्त की पुष्टि में किसी प्रमाण को मानते हैं, तो उनके मत के विपरीत हो जायेगा, क्योंकि ऐसा मानने पर उनके सर्वशून्यत्व का अर्थ समाप्त हो जायेगा।[1] इस कथन में जैनियों ने बौद्धों के शून्य का अर्थ वस्तुओं के अभाव से किया है। जबकि बौद्ध शून्य का अर्थ वस्तुओं के निःस्वभाव से करते हैं।[2] इससे प्रतीत होता है कि जैनाचार्य बौद्धों द्वारा प्रस्तुत शून्य की व्याख्या का अन्य अर्थ समझा। इसलिए शून्य का अर्थ वस्तुओं का अभाव मानते हुए कहा है कि यदि शून्यवादी कहें कि वह प्रमाण की सत्ता मानते हैं, तो इस स्थिति में प्रमाण स्वयं एक सत्ता के रूप में उपस्थित हो जायेगा।[3] इस पर यदि शून्यवादी यह कहें कि वे प्रमाण की अनुपस्थिति में अपने मत की रुपरेखा प्रस्तुत कर सकते हैं, तो उनकी यह चेष्टा अनुचित है।[4] यदि शून्यवादी यह कहें कि वे शून्य सत्ता के समर्थक प्रमाण के अलावा सब वस्तुओं को शून्य मानते हैं। इस पर जैनाचार्य का कथन है कि इनका यह कथन भी असत्य होगा, क्योंकि ऐसी स्थिति में प्रमाण की सहायता से उपदेशित व्यक्ति की सत्ता

---

1 शास्त्रवार्ता समुच्चय, 6/470,:
अक्षाप्यभिदधत्यन्येकिमित्थं तत्वसाधनम्।
प्रमाणं विद्यते किंचिदाहोस्विच्छून्यमेवहि।।
तथा आदि पुराण, 5/82:

2 विग्रह व्यावर्तनी:

3 शास्त्रवार्ता समुच्चयः 6/471:
शन्यं चेत्सुस्थितं तत्वमस्ति चेच्छून्यता कथम्।
तस्यैव ननु सदभावादिति सम्यग्विचिन्त्यताम्।।

4 शास्त्रवार्ता समुच्चय, 6/472:
प्रमाणमन्तरेणापि स्थादेवं तत्वतं स्थितिः।
अन्यथानेति सुव्यक्त मिदमीश्वर चेष्टितम्।।

नष्ट हो जायगी। इस स्थिति में उनकी शिक्षा पर किया गया परिश्रम व्यर्थ ही होगा।[1] इस पर यदि शून्यवादी कहें कि प्रमाण द्वारा शिक्षित व्यक्ति भी अशून्य है तो शून्यवादियों के न चाहते हुए भी अनेकानेक वस्तु अशून्य रूप हो जायेगी।[2] इस प्रकार यदि शून्यवादियों के सभी शून्यता समर्थक प्रमाणों को मानते चला जाय, तो उन सभी व्यक्तियों का अस्तित्व प्रमाणित हो जायगा, जिनको शून्यता विषयक शिक्षा प्रदान की जायगी।[3] इस प्रकार शून्यवादियों की मान्यतानुसार भी संसार की अनेकों वस्तुएँ अशून्य हो जायगी। अर्थात् उक्त प्रकार से अनेकानेक वस्तुओं के उपस्थित का प्रसंग शून्यवादियों के सर्वशून्यत्व के सिद्धान्त को खण्डित कर देगा।

स्वभावः यदि शून्यवादी यह कहें कि जगत् की वस्तुओं का अपना कोई धर्म न होने से उन्हें स्वभावतः शून्य माना जाता है, क्योंकि नाम काय, पद काय व व्यन्जनकाय रूप में वर्णित वस्तुओं के धर्म वास्तव में आकाश कुसुम के समान है।[4] जैनाचार्य ने वस्तु के स्वभाव को बौद्धों की दृष्टि से स्पष्ट करते उदाहरण प्रस्तुत किया है कि यदि कहा जाय कि अग्नि का स्वभाव उष्णता है तो यह संभव नहीं है, क्योंकि अग्नि में उष्णता की उत्पत्ति अरणी के संघर्षण एवं सूर्य तथा लैंस के संसर्ग से होती है। वस्तुतः किसी वस्तु का स्वभाव उसमें सदैव उपस्थित रहता है। वह किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं करता है। यदि घट का स्वभाव घटत्व कहा जाय, तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि वह मिट्टी से उत्पन्न होता है। यदि कहा जाय कि मिट्टी का स्वभाव घट बनाना है, तो मिट्टी में घट होना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता है। इस प्रकार समस्त धर्मों का अभाव सिद्ध करते हुए शून्यवादी जैनों के अनेकान्त सिद्धान्त को असिद्ध कह सकते हैं।

---

[1] वहीं, 6/473:
उक्त विहाय मानं चेत्छून्यतान्यत्य वस्तुनः।
शून्यत्वे प्रतिपादयत्य ननु व्यर्थः परिश्रम।।

[2] वहीं, 6/474:
तस्याप्य शून्यतायां च प्राश्निकाना बहुत्वातः।
प्रभुता शून्यतापत्तिरनिष्टाः, सम्प्रसज्येते।।

[3] वहीं, 6/474:
यावतामस्ति तन्मानं प्रतिपाद्यास्तथा चये।
सन्तिते सर्व एवेति प्रभूतानाम शून्यता।।

[4] द्वादशनमसार चक्रम्, पृ0 70:

लेकिन इस पर जैनों का कथन है कि जगत की समस्त वस्तुओं के धर्म का अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि समस्त धर्म के अभाव को मानने वाले प्रमाण एवं प्रमेय को मानना पड़ेगा। इस दशा में जैनों का कथन है कि यदि शून्यवादी वस्तुओं के समस्त धर्म के अभाव सिद्ध करने वाले प्रमाण व प्रमेय को मानेगें, तो उनके समस्त धर्म के अभाव की मान्यता नष्ट हो जायगी।[1] परन्तु यहाँ जैनाचार्यों ने बौद्धों द्वारा प्रस्तुत वस्तुओं के निःस्वभाव का गलत अर्थ समझा है। यदि ध्यान से देखा जाय, तो बौद्धमतानुसार धर्म की निःस्वभावता का अर्थ वस्तुओं के धर्म के अभाव से नहीं लिया जा सकता है। अपितु उनका कथन है कि वस्तु का जो स्वभाव किसी के अपेक्षा से होगा, वह सत्य नहीं है। इससे वस्तुओं के स्वभाव के अभाव की पुष्टि नहीं होती है। अतः जैनियों द्वारा इस संदर्भ में प्रस्तुत व्याख्या से विदित होता है कि उन्होंने बौद्धों द्वारा प्रस्तुत वस्तुओं के निःस्वभावता का अर्थ नहीं समझा है।

जैनाचार्य का कथन है कि यदि शून्यवादी यह कहें कि समस्त जगत् शून्य है, इसमें जो वस्तुएँ (नर, पशु, घट आदि) दृष्टिगत होती हैं, वह प्रतिभाष मात्र है। इस जगत् में दृष्ट अस्थूल पदार्थ स्वप्न अथवा इन्द्रजाल आदि में दृष्ट हाथी आदि की भाँति प्रतिभाष मात्र है।[2] अर्थात् जिस प्रकार स्वप्न अथवा इन्द्रजाल में हाथी आदि का प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार इस जगत में भी हाथी आदि का प्रत्यक्ष होता है। जैनों द्वारा प्रस्तुत बौद्धों की उक्त बात सत्य नहीं प्रतीत होती है, क्योंकि बौद्धों द्वारा जगत् की वस्तुओं के प्रति ऐसा नहीं कहा गया है कि उनका अभाव है, बल्कि यह कहा गया है कि जगत् की समस्त वस्तुएँ हैं, लेकिन उनका स्वभाव जो हम देखते हैं, व जानते हैं वह नहीं है। जैनियों ने अपने ढंग से उक्त मत प्रस्तुत करके उनका खंडन करते हुए कहा है कि शून्यवादियों के कथन को मानने पर जब समस्त जगत् मिथ्या है, तो जीव अथवा परलोक का अस्तित्व

---

[1] न्यायावतार कारिका 29, पर टीका,
तुलनीय माध्यमिक वृत्ति, पृ0 413, युक्तिषष्टिक उद्धृत बौद्धदर्शन मीमांसा, पृ0 279-80 माध्यमिक कारिका, 15/2, टीका पृ0 262-263, वृत्ति पृ0 260: मा0का015/6:

[2] आदि पुराण, 5/45,
शून्यमेव जगद्विदश्व मिदं मिध्यावभासते।
भ्रान्ते स्वप्नेन्द्रजालादौ हस्त्यादि प्रतिभासवत्।।
तु0मा0का0,27/6, 18/12, 18/6:

नहीं सिद्ध हो सकता है। इस प्रकार सब कुछ मिथ्या हो जाने पर सभी गन्धर्व नगर की भाँति मिथ्या हो जायेगा।[1] इस स्थिति में परलोक एवं जीव दोनों के अस्तित्व विहीन हो जाने पर परलोक की इच्छा करने वाले शून्यवादी व्यर्थ में तप एवं अनुष्ठान करके कष्ट उठाते हैं, क्योंकि वह परमार्थ के ज्ञान से अनभिज्ञ हैं।[2] यहाँ जैनियों ने यह मानकर कि बौद्धशून्यवाद से जीव व परलोक का अस्तित्व नहीं रह जाता है। जैनियों की इस धारणा से स्पष्ट होता है कि बौद्धों के शून्य का इन्होंने अर्थ ही नहीं समझा। यदि यह माना जाय कि इन्होंने बौद्ध शून्यवाद का अर्थ समझा तब पुनः यह प्रश्न उठता है कि इन्होंने इसकी ऐसी व्याख्या क्यों की, इसका उत्तर स्पष्ट है कि जैनियों ने बौद्धों के इस मत के प्रति जनसाधारण की रुचि को समाप्त करने का अनुचित प्रयास किया है। उन्होंने बौद्धों की तरफ से उनका मत अपने ढंग से प्रस्तुत करते हुए कहा है कि बौद्ध जगत् की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि समस्त जगत् स्वप्न अथवा मृगतृष्णा के जल के समान प्रतिभाष मात्र है। इसलिए बौद्ध मत मानना उसी प्रकार व्यर्थ है, जिस प्रकार मरु भूमि पर सूर्य की रश्मियों के पड़ने पर जलाभाष के कारण मृग उधर दौड़ता है। इसलिए परमार्थांकाक्षी भोग-विलासयुक्त पुरुष परमार्थ को सच्चा सुख समझ, व्यर्थ ही उसके तरफ आकृष्ट हो प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।[3] यहाँ बौद्धों को ही परमार्थांकांक्षी बताया गया है। जैनियों ने बौद्धों के अहिंसक धर्म पर भी आक्षेप करते हुए कहा है कि जब ये सर्वजगत् को शून्य मानते हैं, तो उनका अहिंसक धर्म का उपदेश देना उनकी मूढ़ता का परिचय देने के अतिरिक्त कुछ नहीं है। क्योंकि यदि जगत् शून्य है तो धर्म नामक वस्तु भी शून्य हो जायगी अर्थात् कहा जा सकता है कि जब धर्मी जगत् शून्य है,

---

[1] वही, 5/46
तत्बुतोअस्ति वोजीवः परलोकः वा।
असत्सर्वमिदं यस्माद गन्धर्वन गरादिवत्।।
बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ0 287 पर उद्धृतः

[2] वहीं, 5/47:
असताअभी परलोकार्थ तपोअनुष्ठान तत्पराः।
बृषैवक्लेशमापन्ति परमार्थानभिजकाः।।

[3] आदि पुराण, 5/48,
धर्मारम्भ यथा यदवद द्दष्टा मरुमारी चिकाः।
जलाशयानुधावन्ति दद्धद्भोगार्थिनोअप्यमी।।

तो उसका स्वभाव अहिंसाधर्म है, कहना व्यर्थ हो जायेगा।[1] जैनियों ने बौद्धों के उक्त मत के लिए उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि जिस प्रकार बन्ध्या की कन्या का मृगतृष्णा के जल में स्नान करना सिद्ध नहीं हो सकता है, उसी प्रकार बौद्धों का यह मत भी नहीं माना जा सकता है। जैनियों ने इस मत को व्यर्थ का प्रलाप मानते हुए कहा है कि जब सर्वज्ञ तथागत व्यर्थ पुलाप करते हैं, तो उनके अनुयायी मृषा भाषी हों तो कोई आश्चर्य नहीं है। जैनियों के इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि इन्होंने बौद्ध शून्यवाद के बौद्धों द्वारा प्रत्तुत अर्थ का अवलोकन न कर शून्य के व्यवहारिक अर्थ (अभाव) करके अपने अनुसार बौद्धों की तरफ से उनका मत प्रस्तुत किया। जिसको निश्चित रूप से तर्क की श्रेणी मैं न रख करके सामान्य श्रेणी में ही रखा जा सकता है।

शब्द (वचन):

जैनाचार्य[2] का कथन है कि यदि शून्यवादियों से पूछा जाय कि अपने मत के प्रतिपादन में शब्द का प्रयोग तथा उससे उत्पन्न होने वाले ज्ञान को मानते हैं या नहीं। जैनियों के इस प्रकार प्रश्न का कोई अर्थ स्पष्ट नहीं होता है, क्योंकि बौद्धों ने कहीं भी शब्द अथवा ज्ञान के अभाव की बात नहीं कही है। जबकि जैनियों ने इसी भाव को ले अपने प्रश्न का उत्तर बौद्धों की तरह से देते हुए उन्हें दो विकल्प प्रस्तुत कराया है। प्रथम यह है कि शून्य को प्रतिपादित करने वाले बचन एवं ज्ञान दोनों हैं। यदि बौद्ध ऐसा मानते हैं तो जिस प्रकार ज्ञान एवं शब्द की सत्ता मानी जा सकती है उसी प्रकार अन्य पदार्थों की सत्ता बौद्धों को माननी पड़ेगी। यहाँ यह धातव्य है कि शब्द, ज्ञान अथवा जगत् की सत्ता से बौद्ध इनकार न करके उसे निःस्वभाव मानते हैं। जैनियों ने बौद्धों की तरफ से दूसरा विकल्प प्रस्तुत करते हुए कहा है कि यदि शून्यवादी वाक्य एवं उससे उत्पन्न ज्ञान की सत्ता नहीं मानते हैं, तो यह प्रश्न उठेगा कि तब वे किस माध्यम से शून्यता की सिद्धि करेगें। यदि शून्यवादी शून्य प्रतिपादक, बचन एवं विज्ञान को स्वीकार करते हैं, तो बचन एवं विज्ञान के विषयभूत जीवादि समस्त पदार्थों का अस्तित्व

---

[1] सिद्धान्त सार संग्रह, 4/29:
जगच्छून्यगिदं सर्वं धर्मो हिंसा विवर्जितः।
मूढात्मनो वदन्त्येतत्थ्यं तथागताः कथम्।।

[2] आदि पुराण, 5/82, शास्त्रवार्ता समुच्चय, 11/1:

स्वीकार करना पड़ेगा। इस स्थिति में उनका शून्यवाद नष्ट हो जायेगा। यदि बचन व ज्ञान को अस्वीकृत करते हैं, तो शून्यवाद का समर्थन एवं मनन किसके द्वारा करेगें।[1] ऐसी स्थिति में शून्यवाद का प्रतिपादन करना उन्मत पुरुषों के रोने के समान व्यर्थ है, क्योंकि जिस प्रकार कष्ट की अनुपस्थिति में भी उन्मत्त पुरुष रो सकता है, उसी प्रकार शून्यवादियों का शून्य सिद्धान्त प्रमाण के अभाव में जल्पना मात्र हो जायेगा।[2] अतः उक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि समस्त जगत् के पदार्थों का अस्तित्व है।

वस्तुतः बौद्ध समस्त जगत् के अस्तित्व से इनकार नहीं करते हैं। माध्यमिक बौद्धों ने बचन व ज्ञान को निःस्वभाव मानते हुए कहा है[3] कि लोक व्यवहार में जिन शब्दों का प्रयोग होता चला आया है उसी का अर्थ लोगों के समझ में आयेगा। इसलिए उन्हीं शब्दों का प्रयोग कर उनको शब्द के निःस्वभाविकता के साथ साथ जगत् की समस्त वस्तुओं की निःस्वभावता दर्शायी जा सकती है।

प्रतिज्ञाः

जैनाचार्य का कथन है कि जब शून्यवादी यह प्रतीज्ञा करते हैं कि मैं वादी प्रमाण से शून्य तत्व को सिद्ध करता हूँ।[4] तब उनका सर्वशून्यवाद अपने ही सिद्धान्त के विरुद्ध हो जाता है, क्योंकि उक्त प्रतिज्ञा में प्रमाण का एक तत्व सिद्ध हो जाना बौद्धों के सर्वशून्यता को अर्थविहीन कर देता है। इस प्रकार उनपर अव्यवहारिकता का आरोप लगाकर जैनियों ने अपनी बातों की पुष्टि करते हुए कहा है कि प्रतिज्ञा की स्थिति में प्रमाण स्वयं एक तत्व है, जो अशून्य है। अतः प्रमाण के अशून्य हो जाने पर प्रमेय स्वयं अशून्य हो जायेगा, क्योंकि अशून्य प्रमेय को ही अशून्य प्रमाण सिद्ध कर सकता है। इस दशा में ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय तीनों का अस्तित्व स्थापित हो जाने पर शून्यवादियों के सर्वशून्य रुपी वचन का प्रयोग किसी वस्तु के लिए नहीं हो सकेगा। ऐसी स्थिति में

---

[1] आदि पुराण, 5/83

[2] वही, 5/84

[3] माध्यमिक कारिका 24/10

[4] यशस्तिलक, 5/34
शून्यं तत्वमहवादी साध्यामि प्रमाणितः।
इत्यात्थायां विरुद्धयेत सर्वं शन्यत्व वादिता।।

शून्यवाद की स्थापना कर उसे प्रमाणित करना असंभव हो जायेगा। इतना ही नहीं बौद्धों को अपने मत के समर्थक किसी भी तर्क को प्रस्तुत करने के पूर्व उसकी सत्ता माननी पड़ेगी। अतः जैनाचार्यों का कथन है कि किसी साध्य को सिद्ध करने के लिए जिस साधन का प्रयोग शून्यवादी करेंगें, उसकी भी सत्ता, उन्हें माननी पड़ेगी। इस स्थिति में जब साधन शून्य हो जायेगा तब साध्य स्वयं शून्य हो जायेगा। अतः जब साधन एवं साध्य दोनों शून्य हों, तो शून्यवादियों की बात व्यर्थं ही प्रतीत होती है। यहाँ भी जैनियों ने शून्य का अर्थ अभाव से लेकर इस बौद्ध मत का खंडन किया है। जबकि बौद्ध कभी ये प्रतिज्ञा नहीं करते हैं कि मैं शून्य तत्व की सिद्धि -करता हूँ।

शून्य मोक्ष प्रदायी नहीं:

उपर्युक्त विवेचनों के बाद जैनाचार्य ने संभावना व्यक्त करते हुए कहा है कि तत्वज्ञ बुद्ध ने शून्यवाद का प्रतिवादन किन्हीं विशेष शिष्यों की योग्यता को ध्यान में रखकर किसी विशेष अभिप्राय से किया है।[1] वस्तुतः बुद्ध के इन शिष्यों का कथन है कि शास्त्र निरुपित अनात्म तत्वादि का अभ्यास करने वाली भावना से मुक्ति प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाली वस्तुओं का अपहरण (शून्य) करने वाले तथा सर्वधा शून्यता रुपी अंधकार को प्रकाशित करने वाले माध्यमिक बौद्ध कहते हैं कि इस लोक में निश्चित रुप से अंतरंगार्थ बाह्यार्थ कोई तत्व नहीं है। इसलिए इस पर किया गया प्रस्तुत विचार व्यर्थ है। वस्तुतः माध्यमिकों द्वारा अंतरंगार्थ एवं बाह्यार्थ घटपट को तत्व के रुप में व्यवहृत किया जाता है। ऐसी स्थिति में शून्यता को कल्याणकारी एवं मोक्ष प्रदायनि कहना आश्चर्य पूर्ण हैं।[2] जैनियों के अनुसार शून्यवादियों का यह कथन है कि समस्त जगत् की वस्तुएँ क्षणिक, दुःख रुप स्वलक्षण सम्पन्न तथा शून्य रुप हैं। तब उसमें स्थिरता, सुख, द्रव्यता एवं सर्वसत्यता का अभाव स्वयं सिद्ध है। जैनियों की इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि वे क्षणिकता दुःख रुप स्वलक्षण सम्पन्नता तथा शून्य आदि का बौद्धों से अलग अर्थ समझ उसकी व्याख्या की है, क्योंकि बौद्धों की क्षणिकता का

---

[1] शास्त्रवार्ता समुच्चयः 6/476:
एवं च शून्यवादोअपि ताद्विषेयानु गुण्यतः।
अभिप्रायतः इत्युक्तो लक्ष्यते तत्व वेदिना।।

[2] यशास्तिलक, 5/11

अर्थ क्षण भर में उसकी अस्तित्व की समाप्ति न होकर क्षण-क्षण परिवर्तन शीलता है। दुःख रूप का अर्थ सुख बंचकता नहीं है, तथा स्वलक्षण का अर्थ द्रव्यता के अभाव से नहीं किया जा सकता और सर्वशून्य का अर्थ सर्व असत्यता से नहीं है बल्कि परमसत्यता से है। अतः इससे समस्त वस्तुओं की अभावता नहीं उत्पन्न होती है। परन्तु जैनियों ने अपने उक्त विचार का हवाला देते हुए कहा है कि इस स्थिति में बौद्धों के अनुसार जगत् की समस्त वस्तुओं की शून्यता स्थापित हो जाती है। अतः जगत् की समस्त वस्तुओं की शून्यता की भावना को ही बौद्ध मुक्त प्रदायनी मानते हैं, जो अनुचित है।

जैनियों का मत है कि वास्तव में बौद्ध दर्शन के प्रवर्तक बुद्ध के एक उपदेश को ही उनके शिष्यों ने अपनी बुद्धि भेद के कारण भिन्न-भिन्न समझ क्रमशः सर्व शून्य का बाह्यार्थ शून्य का बाह्यार्थ अनुमेयत्व एवं बाह्यार्थ प्रत्यक्षवादी के रूप में ग्रहण किया है। इनका यह उपदेश ग्रहण सूर्यास्त के समय जार, चोर, एवं वेद वेत्ता (अरचून), जिस प्रकार अभिषरण, परद्रव्य हरण एवं सदाचार पालन के समय का निर्णय करते हैं, उसी प्रकार बौद्ध उक्त चारों भावनाओं को ग्रहण कर मुक्ति की आशा करते हैं।[1] यहाँ जैनियों ने बौद्धों के मत को भावना प्रधान माना है, जबकि जैनियों ने ही बौद्धों का मत प्रस्तुत करते हुए कहा है कि जिस प्रकार बुझा हुआ दीपक न तो किसी दिशा को जाता है न किसी विदिशा को जाता है, बल्कि तेल के नष्ट होने पर केवल शान्ति को प्राप्त होता है। उसी प्रकार बौद्धों की आत्माचतुष्ट्य भावना से शान्ति को प्राप्त करती है।[2] इस उदाहरण में कहीं भी भावना से बौद्धों को शान्ति प्राप्त होना नहीं कहा गया है। बल्कि तेल रूपी पूर्व संस्कार के समाप्त हो जाने पर ही वह शान्ति को प्राप्त होता है। बौद्धों के दीपक वाला उदाहरण प्रस्तुत करके भी जैनियों ने उनके सिद्धान्त में भावना का समावेश करा दिया है। इसलिए जैनियों ने उसका खंडन करते हुए कहा है कि भावना से अभिष्ट वस्तु का

---

[1] यशास्तिलक, पृ0 184

[2] यशस्तिलक 5/13,14

दिशं न कांचिद्धिदिशं न कांचिन्नै बावनि गच्छति।
दीयो यथा निर्वृतिमभ्युपेतः स्नेह क्षयात्केवल मेतिशान्तिम्।।
दिशं न कांचिदिवदिशं न कांचिन्नैवावनिं गच्छतिनान्तरिक्षम।
जीजस्तथा निर्वृतिमभ्युपेटः क्लेशाक्षयात्केवल में तिशान्तिभू।।

चिन्तन हो सकता है, परन्तु उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। इस पर उदाहरण प्रस्तुत करते हुए जैनियों ने कहा है कि जिस प्रकार से चारों ओर से बंद जेल की अंधकार कोठरी में अपने प्रिया का चिन्तन करने पर उसका मुँह स्पष्ट दिखाई पड़ता है तो भी वह प्राप्त नहीं होती है। इसी प्रकार शून्य भावना से मुक्ति का चिंतनमात्र ही हो सकता है उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। यदि इस भावना से मुक्ति मानी जाय तो वियोगियों एवं बंचकों को भी मोक्ष लाभ हो जाना चाहिए। परन्तु ऐसा संभव नहीं है। इसी प्रकार शून्य भावना से बौद्धों को मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती है।[1] जैनों ने यहाँ बौद्ध मत में भावनात्मकता का प्रयोग कराकर उनका खंडन प्रस्तुत किया है। जबकि बौद्धों का यह मत भावना प्रधान नहीं है।

उपसंहारः

नागार्जुन की तर्क प्रणाली अकाट्य है एवं उनके शून्य प्रतिपादन की विधि भी अतर्कय है। इसी कारण जैनाचार्यों ने उस पर कम आक्षेप किए हैं, जो आक्षेप उन्होंने शून्यवादियों द्वारा प्रतिपादित नित्यानित्य स्वभाव, प्रमाण, प्रतिज्ञा, बचन आदि के खण्डन के रूप में प्रस्तुत किया है, उसका बौद्ध आचार्यों ने उत्तर अपने ग्रंथों में शून्य के प्रतिपादन करने के समय दे दिया है।[2] इससे यह प्रतीत होता है कि या तो जैनियों ने बौद्धों के उन ग्रंथों का जिनमें नित्यानित्य, विहीन, निःस्वभाव, शून्य की व्याख्या करते हुए उस पर प्रमाण व प्रतिज्ञा, बचन, आदि सम्भावित आक्षेपों को समझाया है, उसका अध्ययन नहीं किया है अथवा विवश होकर जैनाचार्यों ने शून्यवादी आचार्यों द्वारा स्वयं पर किए गए आक्षेपों को ही ग्रहण कर उसका प्रतिपादन अपने ढंग में किया है।

जैन विद्वानों ने शून्यवाद का विस्तृत खण्डन नहीं किया है। परन्तु नागार्जुन के समान तार्किक क्षमता रखने वाले जैनाचार्य हरिभद्रसूरी ने जहाँ क्षणिकवाद एवं

---

[1] यशस्तिलकः 5/29-30:
सर्वचेतसिभासेत वस्तु भावनया स्फुटम्,
ताबन्मात्रेण मुक्तत्वे मुक्तिः स्यादिवप्रलम्भिनाम्।।
विहिते कारागारे तमसि च सूची मुखाग्रनिपट्ये।
मयिच निमीलित नयने तथापि कान्ताननं व्यक्तम्।।

[2] विग्रह व्यावर्तनी, तथा बौधिचर्यावतार

विज्ञानवाद की कटु आलोचना प्रस्तुत की है, वहीं शून्यवाद पर इतना ही आक्षेप लगाया है कि इससे नित्यानित्य पदार्थों की पुष्टि नहीं होती है तथा समस्त धर्मों को सर्वशून्य मानने के कारण शून्यवादी अपने सिद्धान्त की परिपुष्टि का प्रमाण नहीं दे सकते हैं। इसलिए बिना प्रमाण किसी भी सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इनका कथन है कि यदि शून्यवादी प्रमाण उपस्थित करते हैं तो उनकी सर्वशून्यता की प्रतीज्ञा भंग होती है, क्योंकि तब प्रमेय, प्रमाण रुप अनेकों अशून्य सत्ताओं की उपस्थित हो जायेगी। ऐसी दशा में इनका शून्यवाद का सिद्धान्त विचित्र प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि हरिभद्रसूरि ने बौद्धों द्वारा प्रतिपादित शून्यवादी ग्रंथों की अवहेलना की है, क्योंकि बौद्ध ग्रंथों में शून्य का अर्थ अभाव से नहीं किया गया है। उसका व्यावहारिक अर्थ ग्रहण कर जैनाचार्य ने उसका खण्डन किया है। इससे स्पष्ट होता है कि उन्हें शून्यवाद के पारमार्थिक अर्थ को तर्क द्वारा खण्डित करने का कोई आधार उपलब्ध नहीं हुआ। इसलिए उन्होंने शून्यवादियों के विरुद्ध कोई अकाट्य तर्क न उपस्थित कर यह कह दिया कि बौद्धों का यह सिद्धान्त किन्हीं विशेष अवस्था में किन्हीं विशेष शिष्यों के लिए प्रतिपादित किया गया है।[1] यहाँ हरिभद्र की बौद्धों के प्रति उदारता स्पष्ट झलकती है। क्योंकि उनकी आत्मा से निकला यह वाक्य अपने किए गए शून्यवादियों के खण्डन से असंतुष्टिता को ही प्रदर्शित करता है। इस वाक्य से स्पष्ट होता है कि हरिभद्रसूरि यह भी नहीं बताना चाहते कि शून्यवाद का प्रतिपादन किन विशेष अवस्था में किन विशेष शिष्यों के लिए किया गया था। यदि यह मान लिया जाय कि हरिभद्र शून्यवाद के ज्ञान को जैनाचार्यों के अनुसार प्रस्तुत नहीं करते हैं, जबकि उन्हें बौद्धों के इस सिद्धान्त का स्पष्ट ज्ञान था। परन्तु उनके लिए इनकी आलोचना करना आवश्यक था। इसलिए इन्होंने उक्त प्रकार से आलोचना की।

जैनों के अन्य आचार्यों जिनमें जिनसेन एवं सोमदेव सूरि विशिष्ट हैं। उन्होंने शुद्ध धार्मिक विचारों को ग्रहण कर शून्यवाद का अर्थ अभाव करके अपने ग्रंथों में यत्र-तत्र उल्लिखित कर खण्डन किया है। इन जैन कथावाचकों ने जीव व उसके परलोक

---

[1] शास्त्रवार्ता समुच्चय, 6/470:
एवं च शून्यवादोअषि तदिवषयानु गुण्यतः।
अभिनायत इत्युक्तो लक्ष्यते तत्त्व वेदिना।।

गमन संबंधी संदर्भ प्रस्तुत कर आत्मा और परलोक के अभाव में धार्मिक क्रिया कलाप को व्यर्थ होने की संभावना व्यक्त की है। इस स्थिति में उन्होंने बौद्धों द्वारा प्रतिपादित धार्मिक क्रिया-कलापों को व्यर्थ बताया है। इन कथावाचकों ने आत्मा, शब्द, प्रतिज्ञा, आदि को लक्ष्य बनाकर शून्यवाद का खंडन प्रस्तुत किया है। वस्तुतः इनका खण्डन दार्शनिक न होकर शुद्ध रूप से धार्मिक एवं व्यवहारिक अर्थ ही प्रस्तुत करता है। इन्होंने आत्मा की अनुपस्थित में शब्द एवं शब्द की अनुपस्थिति में बौद्धों की यह प्रतिज्ञा की हम प्रमाण शून्य तत्व को सिद्ध करने की प्रतिज्ञा करते हैं, व्यर्थ एवं अशून्य हो जाने से शून्यवाद का खण्डन मान लिया है। शायद इन आचार्यों ने यह नहीं समझा कि शून्यवादी कभी कोई प्रतिज्ञा नहीं करते हैं कि हम शून्य तत्व को प्रतिपादित करें। उन्होंने तो शून्य को भी शून्य माना है और उसका खण्डन करते हुए कहा है कि यदि कोई शून्य की सत्ता है तो निश्चय रूप से वह अशून्य की सापेक्ष होगी और सापेक्ष सत्ता को स्वीकार नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वह मिथ्या है। इससे लगता है कि जैनाचार्यों ने शून्यवाद को प्रतिपादित करने वाले ग्रंथों का अध्ययन न कर ऊपरी तौर पर उसको ग्रहण कर खण्डन प्रस्तुत किया है। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि शून्यवाद के खण्डन की किसी जैनाचार्य में सामर्थ नहीं थी, क्योंकि शून्यवादियों द्वारा प्रस्तुत तर्क अकाट्य है। जैनाचार्यों ने जो भी शून्यवाद पर जो तर्क दिया है वह वस्तुतः शून्यवाद से अनभिज्ञ जनों को भी प्रभावित कर सकता है। विज्ञ जन उससे प्रभावित नहीं हो सकते हैं।

वस्तुतः शून्यवाद से सम्बन्धित ग्रंथों एवं उस पर जैनों द्वारा प्रस्तुत आलोचनाओं का अध्ययन कर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैनाचार्यों ने शून्य का वास्तविक अर्थ नहीं समझा है। जबकि शून्यवादी अट्ठारह प्रकार के शून्यता का विवेचन प्रज्ञापार मिताओं में करते हैं। बौद्ध दर्शन का यह ग्रंथ प्रमाणिक है। वास्तव में शून्यवाद बौद्ध दर्शन का सर्वश्रेष्ठ तार्किक पक्ष जनसामान्य के लिए अगम्य है।

शून्य वाद के अध्ययन से हमें गणित के एक प्रश्न का ध्यान आता है। जो इस सिद्धान्त के समान ही आरोपण तथा अनारोपण से हल होता है[1] उसके हल करने के

[1] प्रश्न $अ^2 + 2अ = 15$ तो अ का मान ज्ञात करना है।
इसमें दोनों तरफ 1 को जोड़ देने पर

समान ही शून्यवादियों ने अपने सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए प्रमाण रूप में सत्ता का आरोपण कर उसका निराकरण कर दिया है। इसको बीज गणित के उक्त प्रश्न को हल करने अथवा रासायनिक क्रिया को तीव्र बनाने के लिए प्रयुक्त उत्प्रेरक के समान ही शून्यवाद के प्रतिपादन के लिए व्यवहारिक सत्ता का आरोपण किया जा सकता है। इसके बाद उस सत्ता का निराकरण कर वास्तविक सत्ता का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार शून्यवाद के शून्य का अर्थ अभावात्मक नहीं माना जा सकता है। जैसा कि उनके आलोचकों ने माना है। वस्तुतः यह परमभावात्मक है। शून्यवादियों ने अपने इस शून्यवाद के प्रतिपादन के लिए नकारात्मक पद्धति का प्रयोग किया है। इनका शून्य चतुष्कोटि विमुक्त आवश्य है, परन्तु अभावात्मक नहीं है।

हमको ऐसा लगता है कि शून्यवादियों का शून्य चिंतन की चरम् परिणिति है। जिसके अनुसार सभी वस्तुओं की सापेक्ष स्थिति के कारण उसकी स्वतंत्र स्थिति का ज्ञान बचनों द्वारा नहीं हो सकता है। इसी अव्यक्त स्थिति को शून्य माना गया है। इसको निम्न उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। वास्तव में हम अपनी स्थिति किसी को बताते समय यही बता सकते हैं कि हम खम्भे के उत्तर, गाय के दक्षिण, बैल के पूरब एवं मकान के पश्चिम हैं अर्थात् हमारे दक्षिण खम्भा, उत्तर गाय, पश्चिम बैल एवं पूर्व में मकान है। परन्तु हम कहाँ हैं, यह प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाता है। संभवतः इस अव्यक्त माध्यमिक स्थिति को ही शून्यवादियों ने शून्य की संज्ञा से अभिहित किया है। उक्त वर्णन में मेरी स्थिति में मेरा अस्तित्व निश्चित रूप से है, परन्तु वह अव्यक्त है। इसको यदि अभावात्मक मान लिया जाय तो यह अनभिज्ञता को ही इंगित करेगा। जैनाचार्यों ने शून्य की इस स्थिति का ध्यान न देकर अपने तर्क प्रस्तुत कर शून्यवाद का खण्डन किया है। जो निश्चित रूप से उन्हें शून्य के ज्ञान से अनभिज्ञ ही प्रदर्शित करता है।

$अ^2 + 2अ + 1 = 15 + 1 = 16$
हम जानते हैं कि $(अ + 1)^2 = अ^2 + 2अ + 1$
इसलिए $(अ + 1)^2 = 4^2$
$अ + 1 = 4$
अब दोनों तरफ जो एक जोड़ा गया था, दोनों तरफ से निकाल लेने पर
$अ + 1 - 1 = 4 - 1$
$अ = 3$, यही उत्तर है।

वस्तुतः उपरोक्त विवेचन से त्पष्ट है कि शून्य ही सबका कारण है। यह वेदान्तियों के ब्रह्म के समान प्रतीत होता है। इसका कोई कारण दृष्टिगत नहीं होता है। सभी वस्तुएँ शून्य के ही सापेक्ष से हैं। इसी की अपेक्षा से तगत् का वर्णन किया जा सकता है। परन्तु यह वर्णनातीत है। अतः निश्चय ही शून्य अभाव मूलक न होकर परमभाव मूलक है। इसका वर्णन किसी की अपेक्षा से नहीं किया जा सकता है, क्योंकि इससे शून्य का अस्तित्व अपेक्षाओं की भिन्नता से विभिन्न हो जायेगा। जिससे शून्य का वास्तविक स्वरुप सिरोहित हो जायेगा। इसीलिए इसकी व्याख्या करते हुए नागार्जुन ने इसे अनिरोध, अनुत्पन्न, अनुच्छेद, अशास्वत, अनेकार्थ, अनानार्थ, अनागति, अनिर्गम् आदि विशेषणों से सम्बोधित किया है।[1] स्पष्टतः उक्त वर्णन में शून्य के प्रतिपादन के लिए नकारात्मक पद्धति अपनाते हुए शून्य के स्वरुप को प्रस्तुत किया जा सकता है। इसी नकारात्मक पद्धति को जैनियों ने शून्य का नकारात्मक स्वरुप समझ, उसका खण्डन प्रस्तुत किया है।

---

[1] माध्यमिक कारिका, बन्दनाश्लोक:
अनिरोधमनुत्पाद मनुच्छेदमशाश्वतम्,
अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम्।।
यः प्रतीत्यसमुत्पाद प्रपंचोपशमं शिवम्।
देशयामास सम्बुद्धस्तं वरम्।।

सातवां अध्याय

उपसंहार

उपसंहार

महाबीर ने अपने शिष्यों को जिन उपदेशों से उपदेशित किया, वही उनके गणधर स्मरण करके श्रुत परम्परा के माध्यम से अपने शिष्यों व प्रशिष्यों को स्मरण कराते रहे। महाबीर काल में अनेक धार्मिक परम्पराएँ भारतीय समाज में प्रचलित थीं, परन्तु महाबीर ने अपने अनुयायियों को उनसे अलग रहने एवं उनके आचरणों से प्रभावित न होने का उपदेश दिया, अर्थात् महाबीर ने अपने अनुयायियों को अन्य ब्राह्मण व श्रमण परंपराओं के सिद्धान्तों एवं चर्याओं से तटस्थ रहने का निर्देश दिया। यही परम्परा गणधर पालन करते हुए महाबीर के उपदेशों को अपने शिष्यों को सुनाते रहे। परन्तु असंभव नहीं कि गणधरों ने अपनी स्वयं की धारणा को भी महाबीर से जोड़ दिया हो। यही कारण है कि बल्लभी वाचना (पाँचवी शती ई0) के समय संकलित जैनागम में अन्य धार्मिक परंपराओं का अंकन हो गया परन्तु उन परंपराओं के सिद्धान्तों के अंकन के बाद भी उन सम्प्रदाय विशेषों का नाम अंकित नहीं किया गया। इन धार्मिक मान्यताओं का स्पष्ट विवेचन आगम के टीकाकार शीलांक (8वीं शती ई0) करते हैं। इन्हीं ने अन्य धार्मिकों के साथ-साथ बौद्ध धर्म के सिद्धान्त एवं बौद्धों के आचरण का उल्लेख किया है।

जैनागम के पुस्तकारुढ़ होने के काल में बौद्ध धर्म अपने चरम विकास पर था। सम्भवतः इसी कारण गणधरों ने उसका उल्लेख करना आवश्यक समझा तथा साथ ही जैन नैयायिक भी बौद्ध नैयायिक द्विङगनाग की न्याय परम्परा का अनुगमन कर बौद्ध धर्म की मान्यताओं के खंडन में प्रवृत्त हुए। इसी के परिणाम स्वरुप तिद्धसेन दिवाकर (6ठवीं शती ई0) ने अपने सन्मति तर्क प्रकरण, न्यायादतार आदि तथा मल्लवाती ने नये चक्र में बौद्ध सिद्धान्तों का खंडन करने का प्रयास किया। इन्हीं खंडनों को विकसित करते हुए समन्त भद्र (7वीं शती ई0) ने क्षणिकवाद, विज्ञान वाद व शून्यवाद आदि को एकान्तिक मत मान खंडन किया है। जैनियों द्वारा बौद्ध दर्शन के खंडन की चरम परिणति हरिभद्र (8वीं शती ई0) ने शास्त्र वार्ता समुच्चय में की जबकि अकलंक ने इसी काल में बौद्धों को आत्मसात करने की परम्परा का भी शुभारंभ कर दिया। जिसके परिणाम स्वरुप इनके बाद वाले जैनाचार्यों ने इनका अनुगमन किया। (9वीं शती ई0)

के जैन आचार्य विद्यानंदि सूरि ने आप्त परीक्षा नामक ग्रंथ में सुगत की सर्वज्ञता का खंडन करते हुए उन्हें वेदान्तियों के समान बताया। दसवीं ई0 के दर्शन सार में बौद्धों को पार्श्वनाथ का शिष्य मान उनके भ्रष्ट आचरण को प्रस्तुत किया गया तथा 11वीं ई0 के प्रभाचन्द ने बौद्ध धर्म के प्रतिपादक के नाम में ही संदेह व्यक्त किया। इनके अनुसार बौद्ध धर्म का प्रतिपादक मध्यम नामक कोई आद्य पुरुष था। इसी कारण इसको माध्यमिक कहा गया। अन्त में बारहवीं शती ई0 के हेमचन्द ने बौद्धों को आत्मसात करते हुए उन्हें अपने धर्म से भटके हुए शिष्य के रूप में माना है।

अतः उक्त विवरणों को देखते हुए जैनियों की बौद्धों के प्रति व्यवहृत परंपरा का सहज ही अनुमान हो जाता है। इन्होंने बौद्धों के सिद्धान्त व आचार को बताते हुए न्याय के क्षेत्र में क्षणिकवाद, विज्ञानवाद व शून्यवाद का खंडन प्रस्तुत किया। इस खंडन की परंपरा सिद्ध सेन दिवाकर से प्रारंभ होकर हरिभद्र तक विकसित रूप प्राप्त करती है। तदुपरान्त उन्हें आत्मसात की परंपरा अकलंक से प्रारंभ हो, हेम चन्द के काल में चरम परिणति के रूप में प्रस्तुत होती है।

जैनियों द्वारा प्रस्तुत बुद्ध एवं बौद्ध आचार-विचार का अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि ये बुद्ध को पार्श्व परंपरा का भ्रष्ट शिष्य मानते हैं, इसीलिए बौद्धों की अवहेलना करते हुए उन्हें भ्रष्ट आचार का आचरणा कर मोक्ष प्राप्त करने वाला कहते हैं।

जैनियों ने बौद्धों के क्षणिक वाद, विज्ञान वाद, शून्यवाद एवं अनात्मवाद को स्थायी आत्मा की अनुपस्थिति में असंभव माना है। इसी से मिलता-जुलता विचार वेदान्ती शंकर भी करते हुए कहते हैं कि आत्मतत्व का निषेध तथा निराकरण नहीं किया जा सकता, क्योंकि निषेध तथा निराकरण की कल्पना भी आत्मतत्व पर ही आधारित है। आत्मा स्वप्रकाश होने से स्वयं सिद्ध है। सभी प्रमाण इसी पर आश्रित हैं। इसलिए इसका निराकरण संभव नहीं है, क्योंकि जो इसका निराकरण करना चाहता है, वह स्वयं आत्मा रूप है।[1] अतः आत्मा कूटस्थ नित्य है, यह परिवर्तित नहीं हो सकती है।[2]

---

[1] शारीरक भाष्य, 2.3.7:
य एव हि निराकत्ता तदेवतत्य स्वरूपम्

[2] वही, 2.3.7:

इसलिए द्रष्टा की दृष्टि का तथा ज्ञाता के ज्ञान का लोप नहीं हो सकता है।[1] इसके अतिरिक्त शंकराचार्य ब्रह्मसूत्र के शारीरक भाष्य के लिखने का कारण बतात हुए कहते हैं कि मिथ्यावादों का निराकरण करके आत्मैकत्व का प्रतिपादन करने तथा कूटस्थ नित्य परमेश्वर स्वयं सिद्ध विशुद्ध विज्ञान स्वस्य आत्म तत्व, जो अविद्या से अनेक प्रतिभाषित होता है, को सिद्ध करने के लिए ही यह भाष्य लिखा गया है।[2]

शंकराचार्य ने बौद्धों के असत् कार्यवाद की आलोचना करते हुए कहा है कि इनके इस मत में सत की उत्पत्ति असत् से होती है, जो अनुचित है, क्योंकि ऐसा होने से अन्य कोई वस्तु किसी भी वस्तु से उत्पन्न हो जायेगी। इतना ही नहीं जब स्वयं बौद्ध परमाणुओं से बाह्य पदार्थों की और स्कन्धों से आन्तरजगत् की उत्पत्ति मानते हैं, तब उन्हें उक्त प्रकार के व्यर्थ विरोधों को अपने दर्शन में नहीं रखना चाहिए।[3] शंकर के इस खंडन से ही जैनियों का बौद्धों पर किया गया आक्षेप भी मिलता है।

क्षणिकवाद का खंडन करते हुए शंकर का मत है कि बौद्धों के प्रतीत्य समुत्पाद चक्र में पूर्व अंग को अपर अंग का कारण नहीं माना जा सकता है, क्योंकि इस बाद में अपर अंग की उत्पत्ति के समय पूर्व अंग विनष्ट हो जाता है। यदि बौद्ध पूर्व अंग को परिनिष्पन्न होने के कारण अपर अंग का कारण मानें, तो पूर्व अंग का सम्बन्ध द्वितीय क्षण से जोड़ना पड़ेगा। जिससे क्षणवाद स्वयं नष्ट हो जायेगा। यदि पूर्व क्षण की स्थिति मात्र को कारण सामर्थ्य माना जाय, तो भी क्षणवाद असंभव हो जायेगा, क्योंकि कारण के स्वभाव को ग्रहण किए बिना कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता तथा यह मानना कि

न ज्ञातुरन्यथाभावोअस्ति, सर्वदा वर्तमानस्वभावत्वात्

1 बृहदारण्यक,
न हि दृष्टुर्दष्टेः विपरिलोयो विद्यते

2 शारीरक भाष्य, 1.3.19:
तेषां सर्वेषामात्मैकत्व सभ्यग्दर्शन प्रतिपक्ष भूतानां।
प्रतिबोधायेदं शारीरकमार बुधम्। एक एव परमेश्वरः कुटस्थ
नित्यो विज्ञान धातरविद्ययाअनेकंधा विभाव्यते नान्यो
विज्ञान धातु रस्तीति।।

3 शारीरक भाष्य, 2.2.26

कारण स्वभाव रूप से कार्य में विद्यमान रहता है क्षणिकवाद की अवहेलना करना होगा।[1]

यदि उत्पाद विनाश वस्तु के स्वरूप हैं तो वस्तु स्वरूप होने से दोनों एक दूसरे के पर्याय बन जायेगें। यदि उत्पाद को आदि, वस्तु को मध्य तथा विनाश को अंत माना जाय, तो एक वस्तु का कम से कम तीन क्षण तक स्थित रहना माना जायेगा। इसलिए उसे क्षणिक नहीं कहा जा सकता। यदि उत्पाद व विनाश को भिन्न माना जाय, तो वस्तुओं को नित्य मानना पड़ेगा।[2]

बौद्ध विनाश को निरहेतुक मानते हैं। परन्तु यदि अविद्या का नाश विद्या से माना जाय, तो विनाश अहेतुक नहीं होगा तथा यदि अविद्या का नाश अहेतुक है तो दुख निरोध गामिनी प्रतिपत उपदेश व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त यदि आत्मा क्षणिक विज्ञान रूप है तो इसका बंध व किसका मोक्ष होगा।[3]

इसके अतिरिक्त बिना नित्य ज्ञाता के ज्ञान स्मृति और प्रत्यभिक्षा भी क्षणवाद से सिद्ध नहीं हो सकती है। भूत को वर्तमान में स्मरण करने वाला ज्ञाता किसी प्रकार अनित्य नहीं हो सकता है। यदि एकता को समानता मान लिया जाय, तो भी संभव नहीं है, क्योंकि समानता को भी ज्ञाता की आवश्यकता पड़ती है। यदि माना जाय कि एकता का अर्थ समानता है तथा "यह घट वह नहीं है जिससे हमने कल पानी पीया था, किन्तु उस घट के समान है" तो भी क्षणवाद की सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि समानता भी एक ऐसे नित्य ज्ञाता की उपस्थिति में संभव है जो दोनों को समान कह सके। वास्तव में आत्मा पर संदेह नहीं किया जा सकता है, क्योंकि संदेह भी आत्मा की सत्ता पर आधारित है। इसलिए यदि दर्शनिक इते भूल जाने का बहाना करें, तो अपने पक्ष की सिद्धि व दूसरे पक्ष का खंडन नहीं कर सकते हैं।[4]

---

[1] वहीं, 2.2-20-21

[2] वहीं, 2-2-21-22

[3] शारीरक भाष्य, 22-23

[4] ब्रह्मसूत्र पर शारीरक भाष्य, 20-25 तक:
उत्तमादुच्छ्वासादतीताश्च प्रतिपतीराजन्म आत्मैककर्तृका:

शंकराचार्य दिङ्नाग की आलम्बन परीक्षा का अवलम्बन करते हुए कहते हैं कि यदि बाह्यार्थ है, तो वह या तो परमाणु रूप होगा अथवा संघात रूप। किन्तु परमाणु के दृष्टगत न होने से उनके संघात न परमाणु रूप सिद्ध किए जा सकते हैं न परमाणु से अभिन्न। अतः विज्ञान ही बाह्य अर्थ के रूप में घट-पट आदि रूप में प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त सहोपलम्भ नियम अर्थात् आन्तर विज्ञान एवं बाह्य अर्थ की एक साथ उपलब्धि ही यह प्रमाणित करती है कि विज्ञान ही अर्थ का रूप लेता है।

शंकर ने इस मत का खंडन करते हुए कहा है कि अनुभूत बाह्यार्थ का अनुचित अपलाप नहीं किया जा सकता तथा उसकी सत्ता से भी इनकार नहीं किया जा सकता। सहोपलम्भ नियम केवल यही सिद्ध करता है कि आन्तरविज्ञान व बाह्यार्थ जगत की अनुभूति युगपद होती है, अनेक उदाहरणों से अर्थ व विज्ञान का भेद स्पष्ट किया जा सकता है। इनका आक्षेप है कि यदि बाह्य पदार्थ नहीं है तो यह क्यों कहा जाता है कि "आन्तर जगत् ही ऐसा प्रतिभाषित होता है कि मानों बाह्यापदार्थ हो"। सत्ता के बिना समानता नहीं हो सकती। प्रमा के बिना शंका नहीं हो सकती। सम्भव और असंभव प्रमाण की प्रवृत्ति व अप्रवृत्ति पर निर्भर है। वह प्रमाण प्रवृत्ति और प्रमाणावृत्ति संभव और असंभव पर निर्भर नहीं है। वह वस्तु संभव है जो प्रमाण द्वारा सिद्ध हो सके और वह वस्तु असंभव है जो प्रमाण द्वारा सिद्ध न हो सके। अतः बाह्य जगत् ही प्रमाण द्वारा सिद्ध है, उसका निराकरण नहीं किया जा सकता है।[1]

"शून्य" शब्द को प्रचलित "नितान्त असत" के अर्थ में लेते हुए शंकर इसे कोरा असत वाद कह कर तिरस्कृत कर देते हैं, क्योंकि जब तक शून्यवादी किसी तत्व की सत्ता न माने तब तक उनका सभी व्यवहार व्यर्थ है।[2] इसके बाद अपना निष्कर्ष देते

प्रतिसंधानः कथं क्षणभंगवादी वैनाशिको नापत्रपेत।
उपलब्धिरि तु सन्देहोअपि न कदाचिद् भवति।।

[1] ब्रह्मसूत्र पर शारीरक भाष्यः 2-2-28:
यदन्तर्ज्ञेयरूपं तदबहिर्वदवभासते।
नहि विष्णुमित्रो बन्ध्यापुत्रवदभासत इति कश्चिदाचक्षीत।
प्रमाण प्रवृत्य प्रवृत्ति पूर्वकौ संभवासंभवावधार्येत न।
पुनः संभवासंभवपूर्वि के प्रमाण प्रवृत्य प्रवृत्तिः।।

[2] शारीरक भाष्य, 2.2.31:

हुए शंकर का कथन है कि ज्यों-ज्यों बौद्धमत की सूक्ष्म परीक्षा करते हैं त्यों-त्यों वह सिकता कूप के समान गिरता जाता है। उसकी कोई दृढ़ आधार शिला नहीं है। अतः वह सत्य एवं व्यवहार के योग्य नहीं है। इसलिए बाह्यार्थवाद, विज्ञान वाद एवं शून्यवाद के पारस्परिक विरुद्ध मतों का उपदेश दे बुद्ध ने अपनी स्वाभाविक "असम्बद्ध प्रलापता" का परिचय दिया है ताकि उनके शिष्य इस असमंजश में फंसे रहे। अतः श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा बौद्ध मत सदा अनादरणीय है।[1]

इस प्रकार वेदान्तियों एवं जैनियों द्वारा बौद्ध सिद्धान्तों पर प्रस्तुत खंडन में अत्याधिक देखी जा सकती है। दोनों ही बौद्धों के क्षणिकता का अर्थ वस्तुओं के क्षण भर के नाश से करते हैं जब कि बौद्ध वस्तुओं को क्षण-क्षण परिवर्तनशील मानते हैं। जैनी एवं वेदान्ती दोनों बाह्यार्थ के अभाव में विज्ञान वाद का खंडन करते हैं अर्थात दोनों विज्ञानवादियों को बाह्यार्थ की सत्ता न मानने वाला समझकर उनका खंडन करते हैं जबकि विज्ञानवादी बौद्ध बाह्य सत्ता को व्यवहारिक रूप से मानते हुए उसे परमार्थिक रूप से साम्वृतिक मानते हैं। शून्यवादियों के शून्य का प्रचलित अर्थ "अभाव" से ही ग्रहण कर दोनों ने इस मत का खंडन किया जब कि नागार्जुन शून्य का अर्थ वस्तुओं के अनिरपेक्ष स्वभाव से करते हुए कहते हैं कि यदि कोई शून्य वस्तु है तो वह अशून्य के सापेक्ष होगी। इसलिए उसे सत् नहीं माना जा सकता है। शून्यवाद के खंडन में जैन ने वेदान्ती शंकर का अनुगमन करते हुए अपनी एक स्वतंत्र धारणा भी प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि संभवतः यह सिद्धान्त बुद्ध ने अपने किन्हीं विशिष्ट शिष्यों के लिए प्रतिपादित किया था।

अतः स्पष्ट कहा जा सकता है कि जैनियों ने बौद्ध मतों के वास्तविक अर्थ को ग्रहण न कर उनके अलग अर्थ को ग्रहण किया। इसका कारण संभवतः यह रहा है कि

न ह्ययं सर्व प्रमाण प्रसिद्धो लोक व्यवहारो।
अन्यत्तत्वमन धिगम्य शभ्यतेअपहनोतुम्।।
तथा शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाण विप्रतिषिद्ध,
इतितन्निराकरणाय नांदरः क्रियते।।

[1] वहीं, 2.2.32:
सर्वथांप्यनादरणीयोयं सुगत समयः श्रेयत्कामैं 3।

उस काल में आपसी द्वेष के कारण एक सम्प्रदाय का ग्रंथ, दूसरे संप्रदाय को उपलब्ध नहीं होता था जिसके कारण इनके सिद्धान्तों का अन्यों को ज्ञान हो सके। जो कुछ ज्ञान अन्यों को होता था वह शास्त्रार्थ के समय एक दूसरे के उत्तर-प्रतिउत्तर से होता था। बौद्ध ग्रंथों का ज्ञान जैनियों को न हो सका हो इसका कारण यह है कि इनका बौद्धों से अतिकटु विरोध था जबकि अन्य धार्मिक सम्प्रदायों से इनका सम्बन्ध उतना कटु नहीं था। इसलिए जैनों ने सम्भवतः बौद्धों के अन्य विरोधी सम्प्रदाय वालों से बौद्ध सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त कर उसका खंडन प्रस्तुत किया। हमको ऐसा आभास होता है कि जैनियों ने विशेष कर बौद्धों के विरुद्ध जो भी संदर्भ उपस्थित किया है, वह वेदान्तियों से ही ग्रहण किया। इसीलिए जैनियों एवं वेदान्तियों दोनों के बौद्ध पर किए गए आक्षेप अत्याधिक साम्य रखते हैं। इस साम्यता को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता है कि कौन सम्प्रदाय किस सम्प्रदाय पर आधारित है, क्योंकि दोनों सम्प्रदायों के आचार्य करीब-करीब एक ही काल के थे। परन्तु इतना आवश्यक है कि जहाँ वेदान्ती बौद्धों से अत्याधिक घृणा करते थे वहीं जैनाचार्यों उन्हें आत्मसात करने की चेष्टा कर उनके प्रति उदार दृष्टिकोण को अपनाते हुए बौद्धों को "अनेकात्मवाद" (जैनधर्म) को मानने की सलाह दी।

बौद्ध धर्म का प्रवजन 8वीं शती ई0 के बाद [जब शान्तिरक्षित अपने शिष्य, कमल शील के साथ तिब्बत जाते हैं] से माना जाता है, परन्तु 13वीं शती ई0 तक यत्र-तत्र बौद्धों के मठों की उपलब्धि के कारण ही इसकाल तक जैन एवं वेदान्ती ग्रंथों में उनकी स्मृति विद्यमान रहीं जिसके फलस्वरुप उन पर इस काल तक आक्षेप होते रहे।

संदर्भ ग्रंथ सूची

क्र.सं.	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम एवं प्रकाशन संस्थान
जैन आगम ग्रंथ		
1	अणुओगदार सुत्त	सुत्तागम वियो अंशो, गुणगाँव, 1954
2	अणुत्तरोववाइयदसाओ	सुत्तागमे पढम अंशो, गुणगाँव, 1953
3	अभिधान राजेन्द्र पंचमों भाग	जैनश्वेताम्बर संघ, रतलाम, सन् 1921
4	अंतगड दसाओ	सुत्तागमे पढम अंशो, गुणगाँव, 1953
5	अंग सुत्ताणि भाग 1, 2, 3	राजस्थान, 1974
6	आयारो	हिन्दी अनुवाद, मुनि नथमल, 1954 राजस्थान टीका, 1935, चूर्णि, 1941
7	आवस्सय सुत्त	सुत्तागमे विओ अंशो, गुणगाँव, 1953
8	इसिभासिय	प्रकाशक लालभाई दलपत भाई भारतीय संस्कृत विद्या मंदिर अहमदाबाद, 1974
9	उत्तरजझयण सुत्त	वही, गुणगाँव, 1954
10	उवासक दसाओ	सुत्तागमे, पढम अंशो, गुणगाँव, 1953
11	ओवावाइय सुत्ता	सुत्तागमे बिओ अंशो, गुणगाँव, 1954
12	कप्पवडिंसिओ	वही, गुणगाँव, 1954
13	चंद पण्णत्ती	वही, गुणगाँव, 1954
14	जुंबुद्धीवपण्णत्ती	वही, गुणगाँव, 1954
15	जीवाजीवाभिगमे	वही, गुणगाँव, 1954
16	ठाणे	सुत्तागमे पढम अंशो, गुणगाँव, 1953
17	णंदी सुत्तं	वही, गुणगाँव, 1953, संस्कृत छाया, आत्मा

		राम, आत्मा राम जैन संस्कृत, माला, इस्वी, 1966
18	णायोध्म्म कहाओ	सुत्तागमे पढम् अंशो, गुणगाँव, 1953
19	णिरियावलिओ	सुत्तागमे विओ अंशो, गुणगाँव, 1954
20	णिसीह सुत्तं	वही, गुणगाँव, 1954, हिन्दी भाषा चूर्णि सहित, सं0 ज्ञानपीठ, आगरा, 1957-60 (1, 2, 3, 4 भाग तक)
21	दसबेयालिय सुत्तं	सुत्तागमे विओ अंशो, गुणगाँव, 1954
22	दसासुयक्खधो	वही, गुणगाँव, 1954
23	पण्णवणा सुत्त	वही, गुणगाँव, 1954
24	पण्हावागरणं	सुत्तागमे, पढं अंशो, गुणगाँव, 1953
25	पुप्फ चुलियाओ	सुत्तागमे विओ अंशो, गुणगाँव, 1954
26	पुप्फियाओ	वही, गुणगाँव, 1954
27	बिहक्कप्पसुत्त	वही, गुणगाँव, 1954
28	भगवईविवाह पण्णत्ती	सुत्तागमे पढम् अंशो, गुणगाँव, 1953
29	मूलाचार सटीक	मणिक चन्द्र दिगम्बर, जैन ग्रंथमाला, ई0 1919
30	राय पसेणइयं	सुत्तागमे विओ अंशो, गुणगाँव, 1954
31	वब्हि दसाओ	वही, गुणगाँव, 1954
32	ववहारो	वही, गुणगाँव, 1954
33	विवाग सुयं	सुत्तागमे पढम् अंशो, गुणगाँव, 1953
34	समवाय	वही, गुणगाँव, 1953
35	सूयगडं	वही, गुणगाँव, 1953 तथा हिन्दी अनुवाद, बम्बई, 1938
36	सूत्र कृतांग सूत्रम्	शीलांक वृत्ति सहित, बम्बई, 1917

37	सूरिपण्णत्ती	सूत्तागमे विओ अंशो, गुणगाँव, 1954
जैन कथा साहित्य		
38	उपदेश पद	हरिभद्र
39	कथाकोश प्रकरण	हरिभद्र, बम्बई, 1949
40	कथाकोश प्रकरण	जिनेश्वर सूरि, बम्बई, 1948
41	कुवलय माला	भारतीय विद्याभवन, बम्बई, 1959
42	धर्मोपदेश माला	श्रीजैन श्वेताम्बर संघ द्वारा प्रकाशित, सन् 1921
43	धूर्ताख्यान्न	बम्बई, 1944
44	पउम चरियं	बम्बई, वि0मं0 2007
45	यशस्तिलक	चंम्पू, उत्तर खण्ड, हिन्दी अनुवाद, सुन्दर लाल शास्त्री, वाराणसी, 1971
46	यशस्तिलक चम्पू, पूर्वखड	वाराणसी 1960
जैन पुराण ग्रंथ		
47	आदि पुराण	हिन्दी अनुवाद, वाराणसी 1951
48	उत्तर पुराण	हिन्दी अनुवाद, वाराणसी, 1965
49	पदमपुरा	हिन्दी, दौलत राम जी, 1950
	जैन दर्शन ग्रंथ	
50	अनेकान्त जय पताका	वाराणसी, 1962
51	अन्ययोगन्वच्छेदिका	हेमचन्द
52	अष्टक प्रकरण	मालवा, 1937
53	अष्टसती	बम्बई, 1915
54	अष्टसहसी	विद्यानंदी, बम्बई, 1915
55	आप्त परीक्षा	टीका सहित, हिन्दी अनुवाद, सहारनपुर, 1949

56	आप्त मीमांसा (देवागम)	हिन्दी, दिल्ली, 1967
57	एकविंशति द्वैतत्रिंशिका	भावनगर, 1952
58	तत्वार्थ वार्तिक	काशी, 1953
59	दर्शनसार	उद्धृत जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग 1 लेखक व निर्देशक, आर्यहस्ति मल जी 1
60	द्वादस नयचक्रं	श्रीलब्धि सूरिश्वर जैन ग्रंथ माला, 1947
61	द्वात्रिंशति द्वात्रिंशिका	सौराष्ट्र, 1952
62	धर्म परीक्षा	बम्बई, 1908
63	नयचक्र	लब्धि सूरिश्वर जैन ग्रंथ माला, 1947
64	न्यायावतार	टीका सहित, हिन्दी विजयमूर्ति, बोरिया गुजरात, 1976
65	प्रबंध चिन्ता मणि	हिन्दी, सिंधि जैन ग्रंथ माला, 1940
66	प्रमाणनय तत्वालोक	बादि देव सूरि, आत्म जागृति कार्यालय व्यावर राजस्थान, 1942
67	परीक्षा मुख पर टीका	हिन्दी जयचन्द्रकृत वचनिका बम्बई, 1806
68	प्रमेयरन्तकोश	भावनगर, 1912
69	प्रमेय रत्नमाला	अनन्तविजय, हिन्दी, सं0 हीरा लाल शास्त्री वाराणसी, 1963
70	युक्तानुशासन	हिन्दी अनुवाद, सहारनपुर, 1951
71	योगबिन्दु	अहमदाबाद, 1968
72	शास्त्रवार्ता समुच्चय	हिन्दी, अहमदाबाद, 1969
73	षडदर्शन समुच्चय	हिन्दी अनुवाद, महेन्द्र कुमार जैन, वाराणसी, 1970
74	षडदर्शन समुच्चय (राजशेखर)	मालवा, 1937

75	सम्मति प्रकरण	तत्वबोधिनी टीका सहित, अभयदेवसूरी
76	सर्वार्थ सिद्धि	भारतीय ज्ञानपीठ, 1955
77	सिद्धि विनिश्चय	टीका सहित, सं0 महेन्द्र कुमार, काशी 1959
78	स्याद्वाद मंजरी	बम्बई, 1957
79	स्याद्वाद रत्नाकरटीका	वादिदेव सूरी, पूना
सहायक जैन ग्रंथ		
	लेखक	ग्रंथ
80	कपाड़िया, एच0के0	ए हिस्ट्री आफ कानिकल लिटरेचर ऑफ दी जैनाअ।
81	चौधरी, गुलाब चन्द	जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग 6, वाराणसी, 1973
82	चौधरी, विनयेन्द्र नाथ	बुद्धिष्ट सेन्टर इन ऐन्सिएन्ट इंडिया, कलकत्ता, 1969
83	जैन, गोकुल चन्द्र	यशस्तिलेक का सांस्कृतिक अध्ययन, अमृत सर, 1967
84	जैन, जगदीश चन्द्र	जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, वाराणसी, 1965, प्राकृत का साहित्य का इतिहास, वाराणसी, 1961
85	जैन, प्रेमसुमन	कुबलयमाला कहा का सांस्कृतिक अध्ययन वैशाली, 1975, जैन विद्या का सांस्कृतिक अवदान, राजस्थान, 1976
86	जैन सुदर्शन लाल जी	उत्तराध्ययन सूत्र एक परिशीलन, अमृतसर, 1970
87	जैन, हीरा लाल	भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदानः भोपाल 1962

88	दोसी, बेचर दास	जैन साहित्य का वृहद इतिहास, भाग 1, वाराणसी, 1966
89	प्रेमी, नाथू राम	जैन साहित्य का इतिहास बम्बई, 1956
90	बुहलर जे0,	द इंडीयन सेवर ऑफ जैनाज
91	महराज, देशभूषण	जैन धर्म पर प्राचीन और अरवाचीन विद्वानों का अभिमत, सं0 तपोनिधि विद्यालंकार, ई0 1948
92	मुख्तार, युगुल किशोर	जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, कलकत्ता, 1956
93	मेहता, मोहन लाल	जैन साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग 2 बनारस 1966-67
94	शर्मा, अजीत शुकदेव	आगम साहित्य में जैन आचार्य, 1968
95	शास्त्री, विलास आदि नाथ	जैन कम्युनिटी ए सोसल सर्वे, बम्बई, 1959
96	शास्त्री कैलाश चन्द्र	जैन धर्म, मथुरा, 1975: जैन साहित्य का इतिहास, भाग 1, वाराणसी, 1975 जैन साहित्य का इतिहास, पूर्वपीठिका, वाराणसी, 1962
97	शास्त्री नेमचन्द्र	आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, वाराणसी, 1968, प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन, वाराणसी, 1966: हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन
98	सेन मधु	वैशाली 1956: ए कल्चरण स्टडी ऑफ निसीथ चूर्णि अमृतसर, 1975
99	सिकदार, योगेन्द्र चन्द्र	स्टडी इन द भगवती सूत्र, मुज्जफरपुर (बिहार)

		1964
बौद्ध मूल ग्रंथ		
100	अंगुत्तर निकाय	सं0 जगदीश काश्यप नालंदा, 1958
101	कथाबत्थु	वही, नालंदा, 1961
102	खुद्दक निकाय	वही नांदा, 1960
103	चित्त विशुद्धि प्रकरण	जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसायटी, बंगाल, 1893
104	जातक कथा	काशी, 1951
105	थेरगाथा	जगदीश कश्यप, नालंदा 1937
106	दीघनिकाय	नालंदा, देवनागरी पालि श्री, 1958
107	धम्मपद	जगदीश कश्यप नालंदा, नथमलटाटिया, 1976
108	बुद्ध चरित्त	पूर्णिया, 1948
109	मज्झिम निकाय	पी0टी0एन0 द्वारा सम्पादित 1888-1902 तथा सं0 जगदीश कश्यप, नालंदा, हिन्दी सारनाथ 1964
110	मिलिन्द्र पह	आ0डी0 वार्डेकर द्वारा नागरी में सम्पादित
111	महावग्ग	नालंदा, 1956
112	महावस्तु	पी0एल0वैद्य, दरभंगा, एस0एस0 वागचि मिथिला 1970
113	विवरण प्रमेय संग्रह	अच्युत कार्यालय वाराणसी
114	विशुद्ध मग्ग	सं0 धर्मानन्द कोशाम्बी तथा भारतीय विद्याभवन बम्बई, 1940
115	सुत्त निपात	जगदीश कश्यप, 1956
116	सौन्दरा नन्द	जानेष्टन, लंदन, 1928

117	संयुक्त निकाय	जगदीश कश्यप नालंदा, 1958
बौद्ध दर्शन ग्रंथ		
118	आलम्बन परीक्षा	शास्त्री, एन0ए0, मद्रास, 1942
119	चतुःशतक	सं0 विधुशेर भट्टाचार्य, शान्ति निकेतन, 1937
120	तत्वसंग्रह, पंजिका सहित	कृष्णामाचार्य बड़ौदा, 1926 तथा वाराणसी, 1968
121	न्यायविन्दु	टीका धर्मोत्राचार्य, काशी, 1954
122	प्रमाण वार्तिक (भाष्य)	सं0 दलसुख मालवणिया, जे0बी0ओ0आर0एस0एस0वा0 24, इलाहाबाद, 1943
123	प्रमाण समुच्चय	अनुदित, एच0 आर0 रंगास्वामी आयंगर, मैसूर, 1930
124	प्रसन्नपदा	जर्नल ऑफ ओरियन्टल रिसर्च, मद्रास 1929-33
125	बोधिचर्या अवतार	शान्ति भिक्षु शास्त्री, लखनऊ, 1955
126	माध्यमिक कारिका	सं0 पुन्सी पिट्सवर्ग, 1903
127	मध्यान्त विभाग सूत्र टीका सहित	सं0 एस0 यामागूची, न गोमा, 1934
128	महायान सूत्रालंकार	सं0 सिलवा लेवी, पेरिस, 1907
129	ललित विस्तर	सं0 पी0एल0 वैद्य, दरभंगा, बम्बई 1958
130	लंकावतार	मिथला विद्यापीठ, दरभंगा, 1963
131	विग्रहव्यावर्तनी	जर्नल ऑफ बिहार उड़ीसा, रिसर्च सोसाइटी, पटना, 1937
132	विज्ञप्ति मात्रता सिद्धि विंशतिका	जे0बी0ओ0आर0एस0 में प्रकाशित वाल्यू0 19, 1933

133	विज्ञप्ति मात्रता सिद्धि त्रिंशतिका	वही, 1933
134	शिक्षा समुच्चय	सं0पी0एल0 वैद्य दरभंगा तथा परशुराम शर्मा मिथिला, 1960
बौद्ध सहायक ग्रंथ		
	लेखक	ग्रंथ
135	उपाध्याय, भरत सिंह	बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन कलकत्ता, 1954
136	उपाध्याय, बलदेव	बौद्ध दर्शन मीमांसा, वाराणसी, 1978
137	उपाध्याय, के0एन0	अरली बुद्धिज्म एण्ड द भगवत गीता, वाराणसी, 1971
138	कर्न, एच0	मैनुवल ऑफ इंडियन बुद्धिज्म, स्ट्सवर्ग, 1896
139	कीथ, ए0बी0	बुद्धिष्ट फिलासफी, आर्क्सफोर्ड, 1923
140	चटर्जी, ए0के0	द योगाचार आइडियालिज्म, वाराणसी, 1975
141	जैन, भाग चन्द	बौद्ध संस्कृति का इतिहास, नागपुर 1972
142	थामस, इ0जे0	द हिस्ट्री ऑफ बुद्धिष्ट थाट, लंदन 1953 तथा द लाईफ ऑफ बुद्धा न्यूआर्क, 1927
143	दत्ता, एन0	अरली मोनास्टिक बुद्धिज्म, कलकत्ता, 1960
144	पहाड़िया, एस0एम0	बुद्धिज्म इन मालवा, न्यू देहली, 1976
145	पाण्डेय, जी0सी0	बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, लखनऊ, 1976
146	बरुआ, बी0एम0	ए हिस्ट्री ऑफ बुद्धिष्टिक इंडियन फिलासफी, कलकत्ता, 1921
147	मूर्ति, टी0आर0वी	द सेन्ट्रल फिलासफी ऑफ बुद्धिज्म, लंदन,

		1955
148	राइज डेविट्स, सी0ए0ए0एफ0	बुद्धिज्म, लंदन 1931
149	राइज डेविट्स, टी0 डब्ल्यू0	बुद्धिज्म इंडिया, लंदन 1917
150	राक हिल्ल डब्ल्यू0 डब्ल्यू0	द लाईफ आफ बुद्धा, लंदन 1984
151	वापट, पी0बी0	बौद्ध धर्म के 25 सौ वर्ष, दिल्ली, 1956
152	शर्मा, सी0डी0	बौद्ध दर्शन और वेदान्त, बनारस, 1949
153	शेरवास्की, एफ0टी0	बुद्धिस्ट लाजिक, हिन्दी अनुवाद, वाराणसी 1969, दी सेन्ट्रल कन्सेप्ट ऑफ बुद्धिज्म एण्ड द मिनिंग ऑफ दी वर्ल्ड धर्म, लंदन 1923 दी कन्सेप्ट ऑफ बुद्धिज्म निर्वाण, लेनिन ग्राद, 1927
154	सिंह, एम0 एम0	बुद्ध कालीन समाज एवं धर्म, पटना, 1975
	अन्य सहायक ग्रंथ	
155	आपस्तम्भ स्मृति	धर्मशास्त्र संग्रह में उद्धृत वाराणसी, 1982
156	आंगिरस स्मृति	वही, वाराणसी 1982
157	न्यायतात्पर्य दीपिका टीका सहित	सन् 1910
158	न्याय सार	सार पद पंजिका, 1931
159	प्रबोध चंद्रोदय	निर्णय सागर, 1924
160	ब्रह्म सूत्र पर शांकरभाष्य	सं0 सत्यानन्द सरस्वती, वाराणसी 1965
161	सर्वदर्शन संग्रह	चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1984
162	सिद्धान्त सार संग्रह	जैन संस्कृत संरक्षक संघ, सोलापुर, 1957
163	अग्रवाल, बासुदेव शरण	प्राचीन भारतीय लोकधर्म, अहमदाबाद, 1964
164	दामोदरं, के0	भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिक

		केशन हाउस, नई दिल्ली, तिथि रहित
165	दासगुप्ता, सुरेन्द्र नाथ	भारतीय दर्शन का इतिहास, जयपुर 1978
166	भण्डारकर, आर0 जी0	हिन्दी, वैष्णव शैव और अन्य धार्मिक मत, 1977
167	मजुमदार, आर0 सी0	इम्पिरिकल यूनिटी, बम्बई 1960
168	राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन	राजपाल एण्ड सन्स, 1966
169	ह्वीलर, जे0	इंडिया ऑफ द वैदिक एज, दिल्ली, 1973